3.6

मन्त्रद्रष्टा वेदव्यास

महर्षि पराशर

रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी ''उमङ्ग''

मन्त्रद्रष्टा वेदव्यास

महर्षि पराशर

***

रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी 'उमङ्ग'

***

अर्चना प्रकाशन, जयपुर
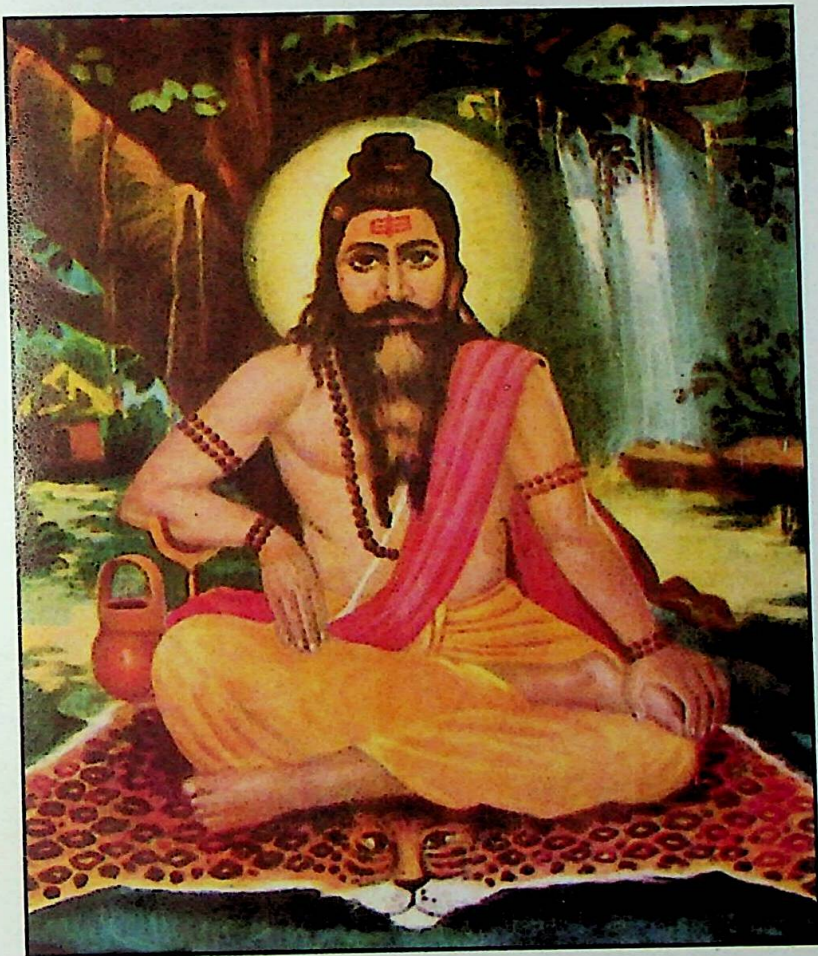
महर्षि पराशर

पितामह
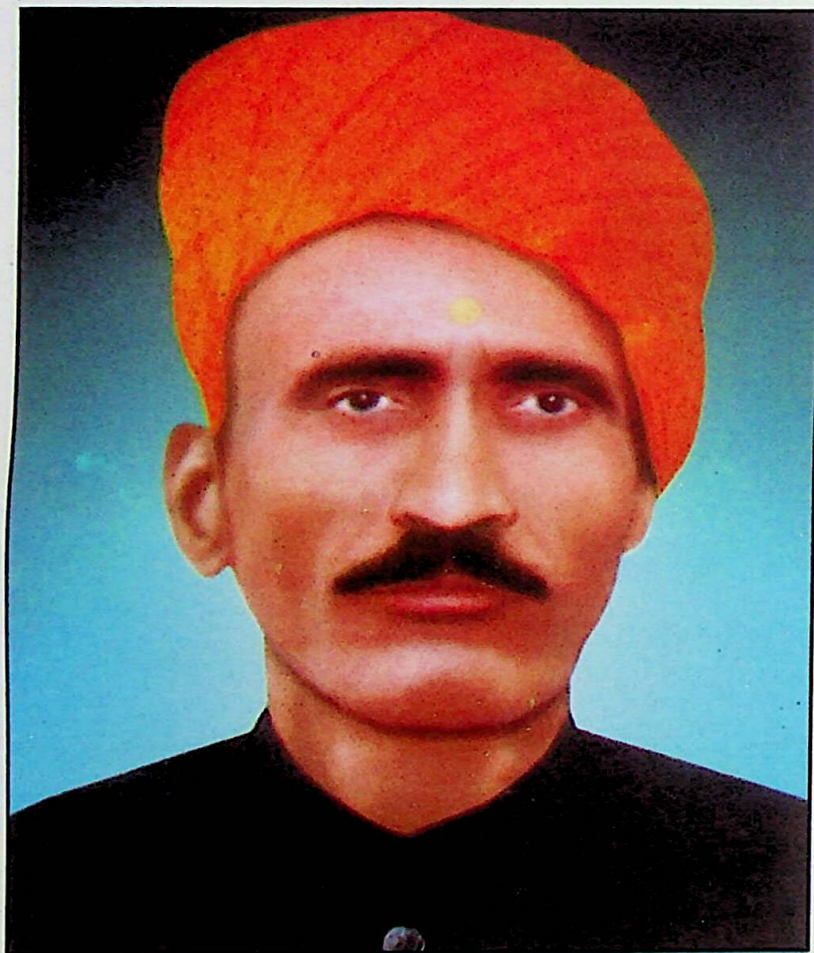
श्री शिवप्रताप जी तिवाड़ी (खण्डेला वाले)

परमश्रद्धेय पिताश्री मदनलाल जी तिवाड़ी
की पुण्य-स्मृति में
सादर समर्पित श्रद्धा-सुमन

श्री मदनलाल जी तिवाड़ी (खण्डेला वाले)

जन्म : पौष शुक्ला १, बुद्धवार वि.सं. १९६२ (२७ दिसम्बर, १९०४ ई.)
निर्वाण : चैत्र शुक्ला ८ (दुर्गाष्टमी) रविवार वि.सं. २०३१ (३१ मार्च, १९७४ ई.)

जिनके स्नेहपूर्ण शुभाशीर्वाद के फलस्वरूप
प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन संभव हुआ

रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी ''उमङ्ग''
लेखक
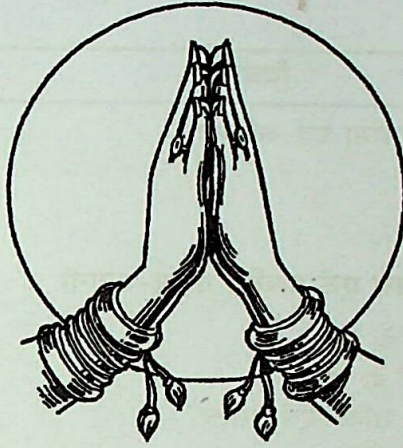
प्रातः स्मरणीय परम श्रद्धेय

पितामह श्री शिवप्रताप जी

एवं

पिता श्री मदनलाल जी तिवाड़ी

की

पुण्य स्मृति में

सादर समर्पित

विषयानुक्रमणिका

अध्याय	विवरण		पृष्ठ

अध्याय	विवरण		पृष्ठ
	(छ) रक्षोघ्न सूक्त	:	66
	(ज) ऋत की महिमा	:	67
	(झ) दीर्घायुष्य की कामना	:	67
	(ञ) शुभ बल की कामना	:	67
	(ii) यजुर्वेद	:	68
	(iii) सामवेद	:	69
	(iv) अथर्ववेद	:	69
	ब. *योग वासिष्ठ*	:	*70*
	स. *अन्य ग्रन्थ*	:	*70*
	(10) विश्वामित्र के क्षात्र-बल पर वसिष्ठ के ब्रह्म तेज की विजय	:	71
	(11) सत्संग बड़ा या तपस्या	:	73
	(12) वसिष्ठ की क्षमाशीलता	:	73
	(13) वसिष्ठ के ब्रह्मतेज के प्रभाव से विश्वामित्र द्वारा क्षत्रियत्व-त्याग	:	74
	(14) वसिष्ठ-धर्मपत्नी : अरुन्धती	:	75
	(15) पूर्वजन्म में सन्ध्या	:	76
	(16) अरुन्धती का जन्म	:	78
	(17) अरुन्धती का गुणवैशिष्ट्य	:	81
	(18) महार्ष वसिष्ठ की सन्तति	:	83
	(19) मन्त्र-द्रष्टा पुत्र एवं पौत्रगण	:	83
	(20) वसिष्ठ के पुत्र एवं पौत्रगण द्वारा दृष्ट मन्त्र : एक दृष्टि में	:	84
3.	**पराशर-पिता : शक्ति**	:	**86-108**
	(1) मन्त्र द्रष्टा ऋषि	:	86
	(2) महर्षि शक्ति द्वारा कर्मयोग की शिक्षा	:	89
	(3) वेदों में शक्ति मुनि का नामोल्लेख	:	90
	(4) महर्षि शक्ति प्रवर के रूप में मान्य	:	91
	(5) वेदव्यास शक्ति मुनि	:	91
	(6) शक्ति एवं विश्वामित्र के मध्य शास्त्रार्थ	:	93
	(7) रामायण में सौदास के कल्माषपाद बनने की कथा	:	93
	(8) महाभारत में शक्ति मुनि एवं सौदास कल्माषपाद की कथा	:	98
	(9) विष्णु पुराण में कल्माषपाद की कथा	:	104
	(10) शक्ति-पत्नी अदृश्यन्ती	:	107
	(11) कल्माषपाद की राक्षस-योनि से मुक्ति	:	107

अध्याय	विवरण		पृष्ठ

अध्याय	विवरण		पृष्ठ

❑❑❑

मन्त्रद्रष्टा वेदव्यास महर्षि पराशर

पूर्वाम्नायगोवर्द्धनमठपुरीपीठाधीश्वर
अनन्तश्रीविभूषित श्रीमज्जगद्गुरु
शंकराचार्य पूज्यपाद श्रीस्वामी
निश्चलानन्द सरस्वतीजी महाराज
गोवर्द्धनमठ, स्वर्गद्वार, पुरी (उड़ीसा)

श्री हरिः   श्री गणेशाय नमः

शुभाशीर्वाद

मन्त्रद्रष्टा और मन्त्रार्थविद् महर्षियों का अनुपम महत्त्व है। 'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति' (मनुस्मृति १२.९७) और 'यच्च त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव च' (माण्डूक्योपनिषद् १.१) के अनुसार कालगर्भित और कालातीत सबका विज्ञान वेदों से होता है। वेदों में सूत्ररूप से सन्निहित तथ्यों का विज्ञान स्मृतियों और पुराणों से होता है। श्रुति-स्मृति-पुराणार्थ का प्रकाश आर्षप्रणीत इतिहास से होता है। अतएव श्रुतिस्मृतिपुराणेतिहासविद् सर्वार्थविद् होता है।

इन्द्रियगोचर और अतीन्द्रिय विषयों में भी अबाध-गति के लिए आत्मा को सर्वगत, सनातन, सर्वरूप और सर्वातीत जानना आवश्यक है। आत्मतत्त्व सबका अनन्य है; परन्तु अनादि अविद्या के योग से अन्य सदृश अवभासित होता है। इस रहस्य का जानकार अध्यात्मविद् वेदों का विभागपूर्वक अर्थ कर सकता है। अभिप्राय यह है कि यह 'वेदवचन अमुकपरक है और वह वेदवचन अमुकपरक है', ऐसा विभागपूर्वक वेदार्थ निश्चय अध्यात्मविद् ही कर सकता है, कोई अन्य नहीं॥

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः।
एवं यो वेद तत्त्वेन, कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः॥
(माण्डूक्यकारिका २.३०)

ऐसा सत्पुरुष ही यह निश्चय कर पाता है कि मिट्टी, लोहा, विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तों से सृष्टिपरक श्रुतियों ने भिन्न-भिन्न (विभिन्न) प्रकार से जो सृष्टि का वर्णन किया है, वह ब्रह्मात्मभाव में सृष्टि के अवतरण के लिए है, वस्तुतः यहाँ नानात्व कुछ भी नहीं है।

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथञ्चन॥
(माण्डूक्यकारिका २.१५)

श्री व्यासदेव ने श्री शुकदेव को वेदार्थपरिज्ञान का अमोघ उपाय बताते हुये कहा है कि जिसका चित्त रजोगुण और तमोगुण रहित होकर सत्त्वगुण में प्रतिष्ठित होने से अत्यन्त निर्मल है, जो दिव्य दृष्टि सम्पन्न है, वह जैसे लोग दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखते हैं, वैसे हां जो बुद्धि के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करते हैं स्वयं ही वेदों को अपने अन्दर स्थापित करके पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाशादि के स्वरूप, भेद, स्वभाव और प्रभावादि को जान लेते हैं -

दिव्यं ते चक्षुरुत्पन्नं स्वयं ते निर्मलं मनः।
तमसा रजसा चापि त्यक्तः सत्त्वे व्यवस्थितः॥
आदर्शे स्वामिवच्छायां पश्यस्यात्मानमात्मना।
व्यस्यात्मनि स्वयं वेदान् बुद्धया समनुचिन्तय॥

महाभारत शान्ति पर्व ३२८. २८-२९

श्री ब्रह्माजी से भगवत्पाद आदिशङ्कराचार्य के चारों शिष्यों तक ऐसे ही वेदज्ञ महानुभाव हुए हैं।

'श्री मन्त्रद्रष्टा वेदव्यास महर्षिपराशर' नामक ग्रन्थ की संरचना श्री रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी 'उमङ्ग' महोदय ने पर्याप्त परिश्रम कर मनोयोगपूर्वक की है। 'स्थाली पुलाक न्याय' से इसका अवलोकन और अनुशीलन कर मैं अतीव आह्लादित हुआ हूँ। भगवान् श्री चन्द्रमौलीश्वर और महाप्रभु श्री जगन्नाथजी की अनुकम्पा से ग्रन्थ प्रसिद्धि-लाभ करे तथा ग्रन्थकार सर्वविध उत्कर्ष प्राप्त करें, ऐसी भावना है।

- निश्चलानन्द सरस्वती

आशीर्वचन, शुभाशंसा एवं अभिमत

श्रीमन्निखिलमहीमण्डलाचार्य, चक्र-चूड़ामणि, सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, द्वैताद्वैतप्रवर्तक, यतिपतिदिनेश, राजराजेन्द्रसमभ्यार्चितचरणकमल, भगवन्निम्बार्काचार्यपीठविराजित, अनन्तानन्त श्री विभूषित

जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर

श्रीराधासर्वेश्वरशरणदेवाचार्य श्री ''श्रीजी'' महाराज

अखिल भारतीय श्रीनिम्बार्काचार्यपीठ, श्रीनिम्बार्कतीर्थ

सलेमाबाद-किशनगढ़ (अजमेर) राजस्थान।

शुभाशीर्वादात्मक - मङ्गलकामना

विद्वद्वरेण्य पं. श्रीरघुनाथप्रसादजी तिवाड़ी ''उमंग'' द्वारा प्रणीत ''वेदव्यास महर्षि पराशर'' नामक ग्रन्थ का अवलोकन किया। आपने वेदों, उपनिषदों, पुराणों, इतिहास मूलक आर्षग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन, मनन, अनुशीलन करके विवेचनात्मक रूप में ऐतिहासिक तथ्यों का इस ग्रन्थ में संकलन किया है। विष्णु पुराण में वर्णित व्यासावली को कालगणना के साथ सप्रमाण प्रस्तुत कर महनीय कार्य किया है।

प्रत्येक चतुर्युग की व्यास परम्परा एवं उसकी वंशावली जिसमें महर्षि पराशर का आविर्भाव हुआ, उनका सविस्तार वर्णन ही प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रधान विषय है। परम मनीषी तिवाड़ीजी ने अकाट्य प्रमाणों से उसका प्रतिपादन किया है। भारतीय संस्कृत वाङ्मय में अनेक ऐसे विषय हैं जो अभी तक सर्वजन संवेद्य नहीं हो पाये हैं, हमारे देश के ऐसे प्रकाण्ड मनीषी विद्वज्जन उनका इसी प्रकार गवेषणापूर्वक विचार-मन्थन द्वारा शास्त्राब्धि से दिव्य ज्ञानामृत प्रगट करते रहेंगे तो राष्ट्र एवं मानव समाज का सर्वतोभावेन कल्याण होगा। इससे पूर्व भी आपने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। हम आपके इस स्तुत्य प्रयास के लिए भूरि-भूरि साधुवाद देते हैं और आपके सुस्वाथ्यमय दीर्घ-जीवन के साथ सतत साहित्य सर्जन की अभिवृद्धि हो ऐसी श्रीसर्वेश्वर प्रभु से मङ्गलमयी अभ्यर्थना करते हैं।

- श्रीराधा सर्वेश्वरशरण देवाचार्य

॥ सर्वे प्रपत्तेरधिकारणो मताः॥

श्रीसम्प्रदाचायाचार्य रामावतार जगद्गुरू
स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी पद प्रतिष्ठित
स्वामी श्रीरामनरेशाचार्यजी महाराज
श्रीमठ, पंचगंगा, वाराणसी

"शुभाशीर्वाद प्रसाद"

नमोऽस्तु रामाय

श्री रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी "उमंग" की कृति **वेद व्यास महर्षि पराशर** का "स्थाली पुलाक न्याय" से अवलोकन किया। अतिशय प्रसन्नता तथा एक चिन्तन की विशिष्ट प्रक्रिया का दर्शन हुआ जो भावी पीढ़ी के लिए भी अनुपम प्रेरणादायी तथा उपादेय होगी।

वैदिक सनातन धर्म की अपूर्व चिन्तन-परम्परा के अनुसार समस्त धर्मों एवं ज्ञानों के एक मात्र मूल अपौरुषेय वेद ग्रंन्थाकार के भ्रम-प्रमाद विप्रलिप्सा तथा करणापाटव दोषों से सर्वथा अस्पृष्ट हैं तथा इनके ही उपबृंहणभूत इतिहास-पुराण भी वेदों के समान ही सर्वांश में प्रमाणिक हैं। परन्तु आपातः (सामान्य दृष्टि से) सम्पूर्ण वैदिक तथा तद् विरोधी ग्रंथों में कतिपय असम्बद्ध अर्थों का दर्शन होता है, जो जिज्ञासुओं को पीड़ित, कुण्ठित तथा शास्त्रों के लिए अप्रामाण्य संदेही बना देता है। इन्हीं संदेहों को निरस्त करने के लिए वैदिक वाङ्.मय का विभिन्न रूपों में व्याख्यान तथा विस्तार हुआ, जिसके उदाहरण के रूप में मीमांसा दर्शन तथा ब्रह्मसूत्रादि अतीव प्रसिद्ध हैं।

महामनीषी 'उमंग' जी ने भी इसी क्रम का अनुसरण करते हुये **'वेदव्यास महर्षि पराशर'** का प्रणयन किया है, जो अति श्लाघ्य है तथा वैदिक परम्परा के जिज्ञासुओं के लिए परम सम्बल तथा भिन्न एवं विशिष्ट प्रकार का प्रकाशन सिद्ध होगा।

मैं परम प्रभु श्रीरामजी से उमंग जी के सार्थक तथा निरन्तर रचनाशील व्यक्तित्व के लिए प्रार्थना करता हूं।

- रामनरेशाचार्य

आशीर्वचन, शुभाशंसा एवं अभिमत

शिवजी उपाध्यायः
प्रवक्ता
श्री काशी विद्वत्परिषद,
प्रति-कुलपतिः
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी

शुभाशंसा

"वेदव्यास महर्षि पराशर" इत्यमुना शीर्षकोपन्यासेन श्रीरघुनाथप्रसादतिवाड़ी उमङ्गनाम्नाऽध्यवसायसमवायसंवलितेन स्वसत्प्रयासेन विदुषोपन्यस्तं नवैतिह्यपथोद्दीपनपरं प्रशस्तं ग्रन्थमवलोक्य मन्मानसं मोदमन्वभूत्।

अद्य वैदिकपरम्परापरिपालनैकनिष्ठा विद्वद्वरिष्ठाः शाश्वतीं वेदपुराणादि व्यवस्थितिं मन्वाना काममेतादृशमैतिह्यमूलमनुसन्धानं विप्रतिपद्य प्रत्यवतिष्ठेरन्, परन्त्वनेन विद्वद्विधेय वैदुषीकवैशिष्ट्यविद्योतमानमानसेन विधिशास्त्रपारङ्गमेन सुधिया रघुनाथाभिधेन यदन्विष्य नवीनज्ञानविज्ञानदिगुन्मीलनदृशा यदेतत्सुमहत्कार्यमनुष्ठितं तदहं हृदयेनानुमन्ये। विपश्चितां प्राचामर्वाचां च दृष्टिं सूक्ष्मेक्षिकया परीक्षितुमेतदावर्जये।

श्रीरघुनाथतिवाड़ी उमङ्गोपनामा नूनं सत्प्रयासमेतादृशमातन्वानो निःश्रेयसाभ्युदय यशोवैभवोद्भूतभूतिपात्रीभूयादिति परमात्मानमभ्यर्थये।

- शिवजी उपाध्यायः

(हिन्दी-अनुवाद)

[वेदव्यास महर्षि पराशर" इस शीर्षक के उपस्थापन से श्री रघुनाथप्रसाद तिवाड़ी 'उमङ्ग' उपनामक अध्यवसाय विशेष से सम्पन्न अपने सत्प्रयास से उक्त विद्वान् के द्वारा प्रणीत (उपस्थापित) नवीन इतिहास मार्ग के उद्दीपनपरक ग्रन्थ को देखकर मेरा मानस (अन्तःकरण) आनन्दित हुआ। आज यद्यपि वैदिक परम्परा के परिपालन में बद्धनिष्ठ विद्वद् वरिष्ठजन शाश्वत (सनातन) वेद-पुराणादि की मर्यादा को मानते हुए इस प्रकार के आधुनिक इतिहासमूलक अनुसन्धान के प्रतिकूल पक्ष में भले ही अवस्थित हों, परन्तु विद्वत्प्रिय, वैदुष्य वैशिष्ट्य से प्रकाशित मानस विधिशास्त्र पारङ्गत विद्वान् रघुनाथ के द्वारा अनुसन्धान करके नयी ज्ञान-विज्ञान की दिशा के उन्मीलन (प्रकाशन) की दृष्टि से जो यह सुमहत् (सुन्दर महनीय) कार्य किया गया है, उसको मैं हृदय से अनुमान्य करता हूँ तथा प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों की दृष्टि को इस कार्य की सूक्ष्मेक्षिकापूर्वक परीक्षण करने के लिये आवर्जित (आकृष्ट) करता हूँ।

श्री रघुनाथ तिवाड़ी (उमङ्ग) निश्चित ही ऐसा सत्प्रयास करते हुए निःश्रेयस (कल्याण) अभ्युदय यश वैभवसम्भूत विभूति (सम्पत्ति) के पात्र हों- यह मैं परमात्मा से अभ्यर्थना करता हूँ।]

देवर्षि कलानाथ शास्त्री
प्रधान सम्पादक
''भारती'' संस्कृत मासिक
पूर्व अध्यक्ष
राजस्थान संस्कृत अकादमी, तथा
पूर्व निदेशक
संस्कृत शिक्षा एवं भाषा विभाग
राजस्थान सरकार

पुरोवाक्

भारत में सहस्राब्दियों से चले आ रहे चिरन्तन जीवन मूल्यों में, जिन्हें एक शब्द में 'सतानत धर्म' कहा जाता है, तीन तत्त्व प्रमुख हैं – चार पुरुषार्थ अर्थात् जीवन के प्राप्तव्य, चार वर्ण अर्थात् समाज का चार वर्गों में आर्थिक एवं सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से विभाजन तथा चार आश्रम अर्थात् जीवन को जन्म से मृत्यु तक चार स्थितियों में विभाजित कर उन कालखंडों में चर्या की व्यवस्था करना। ये सनातन धर्म की मूलभूत पहिचान कहे जा सकते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार लक्ष्यों या पुरुषार्थों को जीवन का प्राप्तव्य मानकर हमारा धर्म चलता है, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार वर्गों में कर्मों और आर्थिक व्यवस्था की दृष्टि से वर्ण विभाजन हमारे धर्म की परम्परा है (जिसे चातुर्वर्ण्य कहते हैं) तथा ब्रह्मचर्य (ज्ञानोपार्जन), गृहस्थ (संसार यात्रा), वानप्रस्थ (समाज सेवा और ज्ञान का प्रसार) तथा संन्यास (सक्रिय संसार यात्रा से विराम) इन चार चरणों में हमारा धर्म मानव जीवन के कालखंडों को बाँटता है, जिन्हें चातुराश्रम्य कहते हैं।

सनातन धर्म की अन्य पहचानें इन्हीं तीन तत्त्वों से जुड़ी हैं, जैसे चार आश्रमों के लिए सोलह संस्कार विहित हैं जिससे जीवनयात्रा उत्कृष्ट स्तर की बन सके। इसी प्रकार धर्म और मोक्ष इन दो पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए यज्ञ और पूजा का विधान है। वेदकालीन यज्ञ और पुराणकालीन पूजा के लिए तीन महनीय आराध्य तत्त्वों का विधान है, जिनके नाम हैं–देव, ऋषि और पितृ। यज्ञ और पूजा इन तीन में से किसी एक या अधिक आराध्यों को समर्पित किये जाते हैं। मनुष्य जन्म लेते ही इन तीनों का ऋणी हो जाता है। उसे अपने जीवन में सत्कर्मों के द्वारा इन तीनों के ऋण चुकाने होते हैं – देव-ऋण धर्म के कार्य करने से चुकाया जाता है, ऋषि-ऋण ज्ञान का अर्जन और प्रदान करके चुकाया जा सकता है और पितृ-ऋण विवाह के अनन्तर सन्तान उत्पन्न कर संसार की निरन्तरता बनाये रखकर चुकाया जा सकता है। ज्ञानार्जन और ज्ञानदान का नाम

था ''स्वाध्याय प्रवचने'' स्वाध्याय अर्थात् श्रमपूर्वक ज्ञान प्राप्त करना तथा प्रवचन अर्थात् उस ज्ञान को नई पीढ़ी तक पहुँचाना। यह किसी भी देश के उत्कृष्ट स्तर के लिए कितना आवश्यक है यह कहने की जरूरत नहीं। इन तीन ऋणों की याद रहे, इसीलिए चार वर्णों में से तीन वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य, जिन्हें द्विज कहा जाता है), तीन सूतों का जनेऊ सदा पहने रहते हैं (जिसे यज्ञोपवीत कहा जाता है)।

इस प्रकार देव, ऋषि और पितर इन तीनों को सनातनी भारतीय धार्मिक जन सदा याद रखते थे, यज्ञ, पूजा आदि में पूजते थे। प्रत्येक यज्ञ में जिस प्रकार देवताओं के लिए आहुतियाँ दी जाती हैं उसी प्रकार ऋषियों और पितरों के लिए भी। जब कभी आस्तिक जन अपने पूर्वजों का तर्पण करते हैं तो देवताओं, ऋषियों और पितरों तीनों का तर्पण करना होता है। इसीलिए श्राद्ध आदि के समय किये जाने वाले तर्पण को ''देवर्षि-पितृ तर्पण'' ही कहा जाता है और बाएँ कंधे पर जनेऊ रखकर उंगलियों की जड़ से अंगुल्यग्र से होकर जल छोड़ते हुए जिस प्रकार देवों को जल दिया जाता है उसी प्रकार गले से लटकाकर दोनों कन्धों के बीच जनेऊ रखते हुए कनिष्ठा के नीचे हथेली से बाईं ओर जल देना ऋषियों के लिए माना जाता है, तथा दाहिने कन्धे पर जनेऊ रखकर तर्जनी के नीचे अंगूठे के पास से दाहिनी ओर जल छोड़ना पितरों के लिए माना जाता है। जनेऊ को बायें कन्धे पर और दाहिने हाथ के नीचे से पहिनना (जो सामान्य और सार्वदिक है) 'सव्य' कहा जाता है, दाहिने कन्धे पर और बायें हाथ के नीचे से पहिनना 'अपसव्य' कहा जाता है, बीच में लटकाकर पहिनना ''निवीती '' होना कहा जाता है। उंगलियों के पौरों से जल छोड़ना 'देवतीर्थ' से जलोत्सर्ग कहा जाता है। हथेली के बाईं ओर से जल छोड़ना ऋषितीर्थ से जलोत्सर्ग कहा जाता है और अंगुष्ठ तथा तर्जनी के बीच से जलोत्सर्ग 'पितृतीर्थ' से जलोत्सर्ग कहा जाता है।

यह है हमारे ऋषियों का महत्त्व जो देवताओं के समकक्ष माने जाते हैं, बल्कि एक दृष्टि से तो वे देवताओं से अधिक महत्त्व के हैं। इसका एक संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है। मनुस्मृति का एक प्रसिद्ध श्लोक है -

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
देवेभ्यश्च जगत् सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः।।

अर्थात् ऋषियों से पितर पैदा हुए, पितरों से देव और दानव, देवों से चराचर जगत्। यह श्लोक ऋषियों को सारी सृष्टि का मूल स्त्रोत बताता है। इसका रहस्य क्या है? इस बारे में वेदवाचस्पति मधुसूदन ओझा ने ''महर्षि कुलवैभवम्'' आदि ग्रन्थों में विस्तृत विवेचन किया है। सारतः (सार रूप

में)यह समझा जा सकता है कि "ऋषिप्राण" वह मूल तत्त्व है, जो सृष्टि-प्रक्रिया से भी पहले अवस्थित रहता है और जो उन प्राणों का स्रोत है, जिनसे सृष्टि होती है। इसी को शतपथ ब्राह्मण में (६/१/१/१) असत् प्राण कहा है। जब कुछ नहीं था तो असत् प्राण था, जिससे गति ने जन्म लिया। पितृ प्राण मिश्रित प्राण हैं उनसे देव दानवादि और चराचर सृष्टि प्रकटती है। इन्हें कहीं-कहीं "ऋतु" भी कहा जाता है। मूल तत्त्व, चैतन्य का वह रूप जिसका निर्वचन आसान नहीं, ऋषिप्राण कहा गया। "ऋषिर्दर्शनात्" कह कर द्रष्टा को ऋषि तो बताया ही गया है, ओझाजी ने कहा है कि **ऋषति गच्छति अर्थात् गतिशीलो भवतीति ऋषिः**। इस प्रकार, "प्राण ही ऋषि हैं" यह शतपथ का वाक्य इसी मूल तत्त्व से सृष्टि के उद्‌भव की संभावना बताता है। एकजातीय शुद्ध प्राण ऋषि हैं, नानाजातीय प्राण-समुदाय देव हैं।

ओझाजी ने स्पष्ट किया है कि कुल मिलाकर ऋषि शब्द हमारे वाङ्‌मय में चार विभिन्न अर्थों में आता है - प्रथम - उपर्युक्त 'प्राण' के अर्थ में। द्वितीय आकाश के कुछ तारों के नाम के रूप में, तृतीय, वेद मंत्रों के द्रष्टा वैदिक ऋषियों के अर्थों में और चतुर्थ वेदार्थ को फैलाने वाले विद्वान् के अर्थ में। हम इनमें गोत्र- प्रवर्तक उन ऋषियों को भी शामिल कर सकते हैं, जिन्हें विश्व के समस्त ब्राह्मण वर्ग का आद्यपुरुष माना जाता है और जिनके गोत्रों में विश्व भर के ब्राह्मण समाविष्ट हैं। इस रहस्य का स्पष्टीकरण इसी प्रकार हो सकता है कि प्रथमतः मूल प्राणों को ऋषि कहा गया और उन प्राणों का जिन्होंने बाद में विवेचन किया उनके नाम से उन्हें समझा गया, वर्ना सृष्टि की उत्पत्ति से भी पूर्व के प्राणों का नामकरण हम कैसे कर सकते थे? शतपथ ब्राह्मण में "प्राण को वसिष्ठ कहते हैं (८/१/१/६), मन को भरद्वाज, चक्षु को जमदग्नि, श्रोत्र को विश्वामित्र, वाक् को विश्वकर्मा" इत्यादि जो कहा गया है, उसका यही रहस्य है कि जिस तत्त्व का व्याख्यान बाद में उन ऋषियों ने किया, उनके नाम से उन्हें समझ सकते हैं। अन्यथा उस मूल प्राण तत्त्व को हम किस नाम से पुकारते? इसी दृष्टि से कश्यप, वसिष्ठ, अगस्त्य, भृगु, अंगिरा, अत्रि और विश्वामित्र का विवेचन उन्होंने किया है कि इन ऋषियों ने मूल प्राणों की व्याख्या की थी। अतः उनके नाम से उन्हें समझ सकते हैं। ये सृष्टि प्रवर्तक सप्तर्षि हुए।

आकाश में दिखने वाले तारों को सप्तर्षि कहना बहुत पुरानी प्रथा है। हमें जो तारे दिखाई देते हैं उनकी पहचान हेतु कुछ नाम तो चाहिए, अतः उन्हें प्रसिद्ध पौराणिक चरित्रों का नाम देने की प्रथा सभी देशों में है। हमारे यहाँ भी इन्हीं प्राणों के विवेचक ऋषियों का नाम देकर अनेक तारों की पहचान की गई। अतः सप्तर्षि के रूप में उन तारों को नाम दे दिये गये। इसमें कुछ वैज्ञानिक

संगति भी है। अन्य अनेक ऋषिनाम या देवनाम हमारे यहाँ तारों को दे दिये गये हैं, जिनका तार्किक और प्रतीकात्मक आधार भी हैं। (जैसे "अश्विनी" अश्विनीकुमारों के नाम पर आदि)।

वेद मंत्रद्रष्टा ऋषियों के अनेक नाम हम जानते हैं। वे भारत के वन्दनीय महापुरुष हैं, क्योंकि उनके उस ज्ञान का, जो कम से कम पाँच हजार और ज्यादा कहें तो लाखों वर्षों से अक्षुण्ण चला आ रहा है, सारा देश ही नहीं, सारा विश्व ऋणी है। विश्वामित्र, वामदेव, मधुच्छन्दा, कश्यप आदि से लेकर कवष ऐलूष, लुश धानाक आदि तक ऐसे ऋषियों के नाम वेदों के सूक्तों के रचयिता (द्रष्टा) के रूप में हमें मिलते हैं। इनमें कुछ नाम उनके भी हैं जो उन प्राणों के व्याख्याता थे, जिनका ऊपर उल्लेख है या जिनके नाम पर तारों के नाम भी रखे गये हैं। यह हुआ तीसरा प्रकार, जिसके अन्तर्गत ऋषियों के नाम आते हैं।

इनके अतिरिक्त ज्ञान का प्रसार करने वाले अन्य अनेक ऋषि हुए हैं जिनके नाम वेदों और पुराणों में, स्मृतियों और धर्मशास्त्रों में आते हैं। वे भी हमारे पूज्य हैं, चाहे उनमें से कुछ वेदकाल में नहीं हुए हों या वेद मंत्रों के रचयिता (द्रष्टा) न भी हों। वाल्मीकि, लोमश, मार्कंडेय आदि अनेक ऐसे ऋषि हुए हैं जो विभिन्न युगों में विभिन्न प्रसंगों में पुराणों में वर्णित हैं। इनमें वेदों के संपादक वेदव्यास भी हैं, व्याख्याता भी। इन सबका जो आख्यान है, उसमें इनका कृतित्व वर्णित रहता है। उसी के कारण ये हमारे हजारों वर्षों से पूज्य रहे हैं, जिनका तर्पण हम सदा करते रहते हैं। वेदकालीन ऋषियों में उन ऋषियों के नाम भी आते हैं, जो गोत्र-प्रवर्तक हैं, याने जिन्होंने अपने गुरुकुल, तपोवन आदि चलाये, सैकड़ों शिष्यों को ज्ञानदान दिया, जिसके कारण देश चला आ रहा है, इसकी विद्याएँ चली आ रही हैं। इनके परिवार में जन्मे जिन महापुरुषों ने अपने वंश चलाये वे अपने पूर्व पुरुषों का नाम बराबर लेते रहे। ये ही गोत्र बन गये - गौतम ऋषि के वंशज अपने आपको गौतम गोत्री कहने लगे, भरद्वाज ऋषि के वंशज भारद्वाज गोत्री। गोत्र दो प्रकार से चले, जन्म से और विद्या से। वंशज भी उस ऋषि के गोत्रज कहलाए और शिष्य भी। अत्रि के आश्रम में रहकर पढ़े लोग भी अपने आपको आत्रेय कहने लगे, फिर उनके वंशज भी, उनके शिष्य भी। इस प्रकार विद्या और जन्म से चले हुए ऋषि-गोत्र न जाने कितने हजारों वर्[illegible] [illegible] समस्त ब्राह्मणों को इतिहास के एक सूत्र में जोड़े हुए हैं। यह विश[illegible] [illegible]श की विशेषता है कि लाखों ही नहीं, करोड़ों की संख्या में फैले वर्ग [illegible] [illegible] अपने पूर्वपुरुषों के, जिनके नाम हजारों वर्षों से यूँ ही चले आ रहे हैं, वंश स एक सूत्र में जुड़ा हुआ अनुभव करते हों अपने आपको।

परंपरा से सनातन रूप से जुड़े रहने की यह प्रवृत्ति इस देश की अद्भुत

विशेषता है, जो केवल अति पुरातन संस्कृति वाले देशों में ही पाई जा सकती है। ऐसे देशों में भारत इसी कारण अग्रणी माना जाता है कि यहाँ हजारों वर्ष के इतिहास से निरन्तर जुड़े रहने का तत्त्व संस्कृति की अपरिहार्य, अंगभूत विशेषता है जो उस संकल्प में प्रतिफलित होती है, जिसमें देशकाल का संकीर्तन इस प्रकार किया जाता है कि सृष्टि के प्रारंभ से इतने युगों के बीतने पर अमुक युग में इस दिन बैठा हुआ मैं, ब्रह्मांड के इतने द्वीपों में से अमुक द्वीप के अमुक देश के अमुक प्रदेश के अमुक नगर में यह संकल्प करता हूँ।

परंपरा से जुड़ने की इस प्रवृत्ति का ही एक यह प्रतिफलन भी है कि ओझाजी के बताये चार प्रकार के ऋषियों के नाम उसी परंपरा के वाहक बनने की दृष्टि से वे ही रखे गये हैं जो सृष्टि-प्रवर्तक ऋषियों के भी हैं, आकाश में दिखने वाले ऋषियों के भी हैं, वेदमंत्र-द्रष्टा ऋषियों के भी हैं और गोत्र प्रवर्तक ऋषियों के भी। मूल प्राणों के व्याख्याता जो कश्यप, अत्रि आदि ऋषि थे उनके नाम पर आकाशीय ज्योतियाँ भी हैं (जिनमें सूर्य और चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र सभी शामिल हैं), वेदद्रष्टा ऋषियों के नाम भी हैं, गोत्र प्रवर्तक ऋषियों के नाम भी हैं। ऋषि-समूह में पुराणकाल में अन्य ऋषि चाहे जुड़ते चले गये हों, अन्य अनेक ऋषियों ने अपने तपोवन खोल लिये हों इसलिए कुछ और नाम जुड़ गये हों, पर उन मूल ऋषियों के नाम ज्यों के त्यों साथ रहे हैं। बाद में तो गोत्र प्रवर्तक ऋषियों के साथ ही जुड़े रहने की प्रवृत्ति ऐसी पनपी कि परवर्ती ऋषियों ने उन्हीं पूर्वपुरुषों के नाम से अपने आपको गोत्रज के रूप में जोड़े रखा, जिनके नाम सहस्रों वर्षों से चले आ रहे थे।

इन गोत्र प्रवर्तक ऋषियों के पूरे वंशों का विवरण सैकड़ों वर्षों से श्रौतसूत्रों और धर्मशास्त्रों में चला आ रहा है। बाद में हुए ऋषियों के नाम भी गोत्रों के साथ 'प्रवर' के रूप में जुड़ गये, वह बात अलग है। प्रत्येक ऋषि के गोत्र के साथ कुछ ऋषियों के नाम 'प्रवर' के रूप में जुड़े हुए हैं जो शायद इस रूप में हैं कि जिस प्रकार हम कहते हैं कि 'मालवीय' हैं हम, वे ही मालवीय जिनमें आपने मदनमोहन मालवीय का नाम सुना होगा - या पन्त, जो कि सुमित्रानन्दन या गोविन्दवल्लभ भी थे। इस प्रकार उस गोत्र में जो प्रकृष्ट या प्रवर ऋषि हुए उनके नाम भी बाद के वंशजों की अलग पहचान के लिए जुड़ते गये। धर्मशास्त्रों में भृगु, अंगिरा, अत्रि, विश्वामित्र, कश्यप, वसिष्ठ और अगस्त्य ये सात मूल गोत्र प्रवर्तक ऋषि बताये गये हैं - इनमें अंगिरा गोत्र के तीन उपगोत्र हैं - गौतमांगिरस, भारद्वाजांगिरस, केवलांगिरस। इसके साथ अन्य उपगोत्र अन्य ऋषियों के वंशजों से निकले "द्विगोत्र" नाम से गिनाये गये हैं। यह भी स्पष्ट किया गया है कि एक गोत्र के वर कन्या का विवाह इसलिए नहीं होता

कि एक तरह से वे बहिन-भाई हुए। अत: यह भी बतलाया गया है कि द्विगोत्र वालों में या अन्य गोत्र वालों में भी किस उपगोत्र का किसके साथ विवाह होगा, किसके साथ नहीं।

इनमें १२ भृगु गोत्रों के वर्ग, १२ गौतमांगिरस, ५ भरद्वाजांगिरस, ६ केवलांगिरस, १० अत्रि गोत्र, २१ विश्वामित्र गोत्र, ४ कश्यप गोत्र, ४ वशिष्ठ गोत्र, १० अगस्त्य गोत्र, यों ८४ गोत्र तथा द्विगोत्र धर्मशास्त्रों में गिनाये गये हैं। इनमें से प्रत्येक के ३ या ५ प्रवर होते हैं जो विशिष्ट पहचान बताते हैं। प्रत्येक ब्राह्मण को अपने गोत्र और प्रवर याद रखने होते हैं और यह परंपरा हजारों वर्षों से चली आ रही है जो अब इस नये युग की काली आंधी में समाप्त हो जाए तो बात अलग है।

इस प्रकार ऋषि-परंपरा हमें वेदमूलक भारतीय संस्कृति से, विज्ञानमूलक चिन्तन से तथा सृष्टि के आदिम प्रस्थान बिन्दु से जोड़कर कालजयी परंपरा का अंग बनाती है। ये ऋषि ही ज्ञान का प्रवर्तन करते हैं और ये ही पुराण और इतिहास के अभिलेखों की निरन्तरता रखते हैं। यह चिन्तन ऋग्वेद से लेकर पुराणों तक के प्रमाणों से सत्यापित होता है। ऋग्वेद (१०/८२/२) में आकाशमंडल में देदीप्यमान सप्तर्षियों का संकेत है, शतपथ ब्राह्मण (१४/५/२/६) में प्राणस्वरूप आदिम ऋषि तत्त्व का। अथर्ववेद (४/४०/१) भी इसी की पुष्टि करता है। महाभारत में भी सृष्टि प्रवर्तक ऋषियों का विवरण देते हुए मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वसिष्ठ को प्रथम मन्वन्तर के प्रवर्तक ऋषि बताया है। आश्वलायन श्रौतसूत्र कहता है कि सात ऋषि, जिनके साथ तीन प्रचेता (दक्ष, भृगु और नारद) भी हैं - इन दस को स्वायंभुव मनु ने उद्‌भावित किया, जिससे सृष्टि का प्रवर्तन हो। तब इन्होंने सृष्टि रची।

ब्राह्मण ग्रन्थों में विश्व की सृष्टि के रहस्य को बतलाते हुए जो यह संकेत दिया गया है कि सबसे पहले 'असत्' उत्पन्न हुआ, उससे 'सत्' प्रकट हुआ [पुराकाले असत: सद्जायत] उसका आशय यही है कि सृष्टि के मूल में एक चैतन्य तत्त्व है जो विज्ञानमूलक, प्रज्ञात्मक या शुद्ध चिदात्मक है। इसे किसी भी रूप में व्याख्यात करें - चाहे तो इन्टेलेक्ट (Intelligence principle) कह दें, जिससे ऊर्जा और पदार्थ (Energy और matter) उद्‌भूत माने जा सकते हैं चाहें 'प्राण' कह दें, जैसा शतपथ ब्राह्मण ने कहा है। हमारा मन्तव्य यह है कि मूल सृष्टि-कारण वह चैतन्य है जो प्राणों का भी मूल तत्त्व है - मन और वाक् का भी। इसी से सारा जंगम और जड़ जगत् बना है। इसी बात को मनुस्मृति ने एक श्लोक में सूत्र रूप में कह दिया -

ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः।
देवेभ्यश्च जगत्सर्वं चरं स्थाण्वनुपूर्वशः॥

(कहीं कहीं "देवमानवाः" ऐसा पाठ भी है किन्तु ओझाजी ने देवदानवाः पाठ ही माना है)।

ऋषियों से पितृ हुए, पितरों से देव और दानव। देवों से सृष्टि हुई, पहले चर, फिर अचर जन्मे। यही सृष्टि आज तक प्रवृत्त है। इसी विज्ञान को पुराणों ने प्रतीक कथाओं के माध्यम से उपाख्यानों की तरह सरस ढंग से कहा। महाभारत में भी यह कथा आती है कि सृष्टि का उद्‌भव इस प्रकार हुआ कि ब्रह्मा के मन से मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, छह ऋषि उद्‌भूत हुए, मरीचि से कश्यप, कश्यप से सारा संसार उत्पन्न हुआ। कैसे? दक्ष प्रजापति (जो स्वयं ब्रह्मा से ही जन्मे) की तेरह कन्याएँ हुईं, अदिति, दिति, दनु, काला, दनायु, सिंहिका, क्रोधा, प्राधा, विश्वा, विनता, कपिला, मुनि ओर कद्रू। इन्हें कश्यप को ब्याह दिया गया। इन्हीं की सन्तति यह सारा विश्व है।

इस पुराण कथा में वही रहस्य छिपा है जो ब्राह्मण ग्रन्थों और मनु के उपर्युक्त श्लोक में अन्तर्निहित है। ब्रह्मा के ही पुत्र (मरीचि) के पुत्र कश्यप को ब्रह्मा से उद्‌भूत दक्ष प्रजापति ने अपनी कन्याएँ क्यों ब्याह दीं? प्रजापति को अन्य कोई वर ही नहीं मिला? कश्यप ऋषि जो वर मिला तो ऐसा कि तेरह कन्याओं से सारी ब्रह्माण्डगत जातियाँ ही पैदा कर डालीं? ऋषि को दक्ष-कन्या ब्याह देना और उससे जगत् की उत्पत्ति बतलाना उसी सिद्धान्त को कथा के रूप में समझाना है कि सृष्टि के मूल तत्त्व हैं प्राण, जिन्हें ऋषि कहा जा सकता है। इनमें कश्यप आदित्यगत मूल तत्त्व के प्रतीक हैं जो मरीचि नामक 'अप्' तत्त्व से उद्‌भूत हैं। द्यावापृथिवी के प्रतीक-रूप में कश्यप और अदिति से आदित्यों के जन्म की कथा सभी पुराणों में बताई जाती है। कश्यप ने दिति से दैत्य पैदा किए, दनु से दानव, कद्रू से सर्प, विनता से गरुड़ इत्यादि कथाएँ इसी वैज्ञानिक सिद्धान्त पर आधारित हैं। इसे समझ लेने पर ही मनु का श्लोक **"ऋषिभ्यः पितरो जाताः पितृभ्यो देवदानवाः"** सही तरह से समझ में आ सकता है। इसका एक निगूढ़ कारण यह भी है कि वेदों को सर्वप्रथम उद्‌भूत माना जाता है, उनके बाद ही सृष्टि हुई, अतः वेदों के जन्मदाता ही सृष्टि के जन्मदाता बतलाए जाएँ, यह लाज़िमी हो गया। चूंकि सृष्टि का उद्‌गम प्राणों से है, अतः ऋषि प्राणस्वरूप बतलाए गए।

पुराणों में यह ऋषि-परम्परा सनातन अर्थात् सततं चलने वाली मानी गई है। ज्ञान की निरन्तरता का युग-युग में अभिलेख रखने वाले इन ऋषियों की यह अवधारणा सनातन धर्म की सनातनता का अन्यतम रहस्य है। तभी तो

पुराणों में इतिहास का संधारण करने वाले ऋषियों की परंपरा का उल्लेख मिलता है। एक परंपरा वेद व्यासों की इस प्रकार भी पाई जाती है क्योंकि यह माना जाता है कि प्रत्येक मन्वन्तर में या चतुर्युगी में एक वेदव्यास होते हैं - १. ब्रह्मा (प्रवर्तक) २. मातरिश्वा - वायु ३. शुक्र ४. बृहस्पति ५. विवस्वान ६. यम ७. इन्द्र ८. वसिष्ठ ९. सारस्वत १०. त्रिधामा ११. शरद्वान् १२. त्रिशिख १३. अन्तरिक्ष १४. वर्णी १५. त्रय्यारुण १६. धनंजय १७. कृतंजय १८. तृणंजय १९. भरद्वाज २०. गौतम २१. निर्यन्तर २२. वाजश्रवा. २३. सोमशुष्म २४. तृणबिन्दु २५. ऋक्ष (वाल्मीकि) २६. शक्ति २७. पराशर २८. जातूकर्ण्य २९. द्वैपायन।

सम्भवतः सृष्टि के प्रारंभ से इतिहास या पुराण का संधारण करने वाले ऋषियों की यह सूची इस बात की प्रतीक है कि देश और काल का अभिलेख रखने की स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया हमारे मनीषियों ने प्रारंभ से ही चला रखी थी। वेदव्यास परंपरा और पुराण व्यास परंपरा इसी का प्रमाण है। पुराणों के रचयिता व्यास और पुराणों के प्रवक्ता सूत ये दोनों इसी का विस्तार परिलक्षित करते हैं। पुराणों में वैदिक उपाख्यान भी समाहित हैं, वेदों के मंत्र-द्रष्टा ऋषियों के वृत्त भी, राजाओं की वंशावलियाँ भी, ज्ञान की शाखाओं के विवरण भी। पुराणों के रचयिता भी ऋषि थे, प्रवक्ता भी। व्यास या वेदव्यास का चरित्र अथवा व्यक्तित्व इसी ऋषि परंपरा की महत्ता, सनातनता और वन्दनीयता का एक विलक्षण प्रमाण है। द्वैपायन व्यास का नाम मंत्र-द्रष्टा ऋषियों में सम्मिलित नहीं है, "अष्टादश पुराणानां कर्ता सत्यवतीसुतः" के रूप में वे पुराणकार ही थे। किन्तु वेद की परंपरा से जुड़े बिना हमारे देश की चिरन्तनता का अंग कोई कैसे हो सकता है? इसीलिए यह मान्यता बद्धमूल हुई कि व्यासजी ने वेदमंत्र चाहे न बनाये हों, उन्होंने उनका संपादन किया, विषय विभाजन किया, व्याख्यान किया और शिष्यों को उसका प्रदान किया। इस प्रकार वेदव्यास एक ऐसी कड़ी है, जो वैदिक परंपरा को पौराणिक परंपरा से जोड़ती है।

प्रतिवर्ष व्यास पूर्णिमा को इन्हीं वेदव्यास का स्मरण कर हम वेद और पुराण, साथ ही दर्शन और इतिहास की एकात्मता का पुनःस्थापन करते हैं।

इस विवरण से यह स्पष्ट होता है कि हमारी संस्कृति के जो तीन प्रमुख महनीय प्राण अथवा तत्त्व हैं - देव, ऋषि और पितृ। उनमें से ऋषि ज्ञान के प्रतीक हैं और वे भी प्रमुखतः तीन परम्पराओं में बाँटे जा सकते हैं। एक तो वे ऋषि, जो मंत्रद्रष्टा हैं अर्थात् वेदमंत्रों के प्रणेता हैं, दूसरे शब्दों में आदि ऋषि हैं, क्योंकि वेद अनादि हैं, स्वतः स्फुरित ज्ञान स्वरूप हैं अतः सर्वप्रथम ज्ञान के प्रवर्तक ऋषि मंत्रद्रष्टा हुए। मंत्रद्रष्टा ऋषि प्रथम ऋषि होने के कारण

गोत्र–प्रवर्तक भी हैं। तभी तो सप्तर्षि के नाम से जो ऋषि प्रसिद्ध हैं और जिनके नाम से हम आकाशीय ज्योतियों को जानते हैं – वे ही मंत्रद्रष्टा आदिम ऋषि भी हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सृष्टि--प्रवर्तक ऋषि, गोत्र प्रवर्तक ऋषि और ज्ञान प्रवर्तक ऋषि एक ही हैं, यह हमारी सामान्य मान्यता है। इन सात ऋषियों के नामों में एक–दो का अन्तर चाहे विभिन्न पुराण–परम्पराओं में परिलक्षित होता है, किन्तु सामान्यत: ये ही नाम आद्य ऋषियों के रूप में आते हैं – शतपथ इन्हें गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि बताता है, जो मंत्रद्रष्टा हैं। आकाशीय ज्योतियों के नामों में महाभारत थोड़ा अन्तर करके मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वशिष्ठ बतलाता है। इनमें से एक–दो का मिश्रण (जैसे अगस्त्य, भृगु आदि) या एक दो का परिवर्तन (जैसे मरीचि, पुलह, पुलस्त्य आदि को हटा) करके गोत्र–प्रवर्तक ऋषियों की अवधारणा बनी।

ज्ञान प्रवर्तक ऋषियों के भी तीन प्रकार हैं। एक तो वे जो आदिम ज्ञान के द्रष्टा हैं, जिन्हें मंत्र–द्रष्टा कहा जाता है, दूसरे वे जो चाहे मंत्र–द्रष्टा नहीं हों किन्तु वेदों के व्याख्याता, त्रिमर्शक और भाष्यकार हैं जैसे जैमिनि महिदास, ऐतरेय या याज्ञवल्क्य, जिन्होंने वेदों को आत्मसात् किया, संहिताओं को बनाया, ब्राह्मणों से जोड़ा, शतपथ जैसे विमर्शक भाष्य उद्‌भावित किये। तीसरे वे, जिन्होंने वेदों का संपादन किया, वर्गीकरण किया तथा उस वर्गीकरण के आधार पर शिष्यों को दिया और जो वेदव्यास कहे जाते हैं। ज्ञान प्रवर्तक ऋषियों के ये तीन प्रकार बुद्धिसंगत भी लगते हैं क्योंकि जो ज्ञान या टेक्स्ट पहले उद्‌भूत होगा तभी तो उसका व्याख्यान किया जाएगा और तभी उसका संपादन हो सकेगा। अत: यह तर्कसंगत ही है कि प्रणेता पहले होगा, व्याख्याकार बाद में, संपादक भी बाद में। तभी मंत्रद्रष्टा ऋषियों की परम्परा अलग है और वेदव्यासों की अलग। सृष्टि के आदि में मंत्रद्रष्टा ऋषियों ने जिस ज्ञान का अर्थात् जिन मंत्रों का प्रणयन अर्थात् दर्शन कर वेद तैयार किये, उनका संपादन प्रत्येक मन्वन्तर या चतुर्युगी में वेदव्यासों ने कर शिष्यों को पढ़ाया, अत: वे तो परवर्ती होते ही गये। इसीलिए विद्वज्जन इस बात का प्रयत्न करते नहीं पाए जाते कि जो वेदव्यास हैं, उनमें मंत्रद्रष्टा ऋषियों को भी ढूँढ़ा जाए। मंत्रद्रष्टा तो पहले हो ही चुके। मंत्रद्रष्टा ऋषियों के अतिरिक्त ऐसे ऋषि अवश्य हुए जो वैदिक नहीं हैं जैसे वाल्मीकि, मार्कंडेय, लोमश आदि जो पौराणिक हैं किन्तु उन्हें वेद परंपरा से जोड़ने की दृष्टि से कभी ''वेदव्यास'' परंपरा में शामिल किया गया (जैसे वाल्मीकि को ऋक्ष के नाम से) कभी वेद व्याख्याता परंपरा में, वह बात अलग है। वाल्मीकि

को तो वेदेतर छन्दों के प्रवर्तक होने के कारण आदिकवि भी कहा गया, जिसकी कथा अलग है।

वेदव्यासों की परंपरा में कुछ ऐसे नाम अवश्य मिलते हैं जिनके नाम कभी मंत्रद्रष्टाओं में भी शामिल थे जैसे वसिष्ठ और भरद्वाज (या भारद्वाज)। शक्ति और पराशर के नाम से भी मंत्र ऋग्वेद, सामवेद आदि में मिलते हैं। इन पर विद्वानों में विस्मय होना स्वाभाविक ही है। जो प्रणेता है, वही बहुत बाद में (अर्थात् किसी चतुर्युगी विशेष में) उनका संपादक कैसे हो सकता है? इसका समाधान कुछ विद्वान् इस प्रकार करते हैं कि मंत्रद्रष्टा तो वसिष्ठ या भरद्वाज रहे होंगे, उनके गोत्र के कोई ऋषि जो वासिष्ठ या भारद्वाज कहलाए वेदव्यास रहे होंगे। कुछ विद्वान् मानते हैं कि उसी नाम के कोई परवर्ती ऋषि रहे होंगे। अतः यह नामसाम्य का मामला है। कुछ के द्वारा शक्ति के लिखे मंत्र मूलतः वसिष्ठ के बताये जाते हैं। पराशर के लिखे मंत्रों पर भी अनेक मत हैं। डॉ. सूर्यकान्त ने न जाने किस आधार पर लिखा है कि पराशर को ऋग्वेद के कुछ सूक्तों का रचयिता अनुक्रमणी में संभवतः गलती से कहा गया है (वैदिक कोश, पृ. २६०) क्योंकि गेल्डनर के अनुसार पराशर का उल्लेख सुदास् राजा के पक्षधरों में वसिष्ठ के पौत्र और शतयातु के भतीजे के रूप में ऋग्वेद में है अतः ये वेदकालीन अवश्य हैं, मंत्रद्रष्टा होने में सन्देह है आदि। पराशर को गोत्रकर्ता ऋषियों की बड़ी सूची में गिना जाता है। वे वसिष्ठ वर्ग में आते हैं। पाराशर गोत्र के तीन प्रवर हैं वासिष्ठ, शाक्त्य, पाराशर्य। पारीक समुदाय के महानुभाव इन्हें पारीकों के मूल पुरुष मानते हैं। वसिष्ठ के पौत्र, शक्ति के पुत्र और वेदव्यास के पिता के रूप में पुराणों में इनका वर्णन मिलता ही है। वायुपुराण और ब्रह्मांड पुराण में तो यह उल्लेख भी है कि विष्णु का दसवां अवतार जो कल्कि अवतार के नाम से प्रसिद्ध होगा 'पाराशर्य' होगा। **''कल्किर्विष्णुयशा नाम पाराशर्यः प्रतापवान्''** (वायु. ९८/१०४) इससे प्रतीत होता है कि कलियुग के अन्त में विष्णु का अवतार पाराशर गोत्र में होगा। आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकार हमारी विशाल और सुदीर्घ ऋषि परंपरा के महिमामय ऋषियों के स्वरूप, इतिहास, अवदान आदि पर विद्वानों का ध्यान जाए तथा उन पर लगन से शोध और लेखन का कार्य हो।

यह अत्यन्त हर्ष का विषय है कि जयपुर के प्रसिद्ध विधिवेत्ता, सांस्कृतिक चिन्तक और लेखक विद्वद्वर श्री रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी उमंग, का जिन्होंने गहन अध्ययन, अनुसंधान और मनन के फलस्वरूप 'पारीक महापुरुष,' 'हमारी कुलदेवियाँ' आदि ग्रन्थ लिखे हैं, इस ओर ध्यान गया कि महर्षि पराशर पर (जिन्हें मंत्रद्रष्टा भी माना जाता है, वेदव्यास भी, पारीक जाति का मूल पुरुष भी

पौराणिक ऋषि भी, महाभारत के आदिम सूत्रों में भी), विधिवत् अध्ययन कर अधिकृत ग्रन्थ लिखा जाए। वसिष्ठ, पराशर, परशुराम आदि अनेक ऐसे ऋषि हैं जिनका उल्लेख कभी वेदों में मिलता है, कभी पुराणों में, कभी त्रेता की रामकथा से वे जुड़े मिलते हैं तो कभी द्वापर की महाभारत कथा से। उनका उल्लेख हजारों वर्षों के अन्तराल में होने वाली घटनाओं में एक साथ होने से उनके बारे में विस्मय और सन्देह तथा कौतूहल और जिज्ञासा करना स्वाभाविक है। ऐसे सभी जिज्ञास्य विषयों को पहले उन्होंने भारत भर के विद्वानों में प्रसारित कर उनका अभिमत पूछा। पूर्णतः प्रत्यायक उत्तर न मिलने पर स्वयं अध्ययन किया, वेदों, ब्राह्मणों, उपनिषदों, पुराणों, भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के विमर्श ग्रन्थों का अनुशीलन कर अनेक गुत्थियाँ सुलझाईं, अनेक पर अभिमत व्यक्त किया। पराशर, कृष्णद्वैपायन, शुकदेव आदि पर इस अध्ययन के फलस्वरूप जो विपुल और अधिकृत सामग्री वेदों, पुराणों आदि से प्राप्त हुई, उसे सानुवाद उद्धृत कर इसी अनुशीलन के फलस्वरूप यह उत्कृष्ट ग्रन्थ तैयार कर दिया, जो आपके हाथों में है यह परम सन्तोष का विषय है।

इस अनुशीलन के प्रसंग से उन्होंने भारत की कालगणना पद्धति पर भी अच्छा अध्ययन किया, जिसके आधार पर मन्वन्तरों, चतुर्युगियों आदि का काल विभाजन होता है क्योंकि प्रत्येक चतुर्युगी में एक वेदव्यास होने की मान्यता के सन्दर्भ में ऐसा अध्ययन आवश्यक हो गया था। फिर वेदव्यास परम्परा का अनुशीलन किया और तदनन्तर शक्ति, पराशर, कृष्ण द्वैपायन शुकदेव आदि के जो प्रसंग प्राचीन वाङ्.मय में मिलते हैं, उन्हें संकलित किया। ये सब उद्धरण इस ग्रन्थ में हैं जो इसे अधिकृत और संग्रहणीय बनाते हैं।

इस प्रकार भारतीय विद्याओं, हमारी सांस्कृतिक परम्पराओं एवं ऐतिहासिक तथ्यों के गहन अध्येता श्री रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी 'उमंग' ने महर्षि पराशर के ऐतिह्य और उनकी परम्पराओं पर जो अध्ययन किया, उसके फलस्वरूप हमारी वेदव्यास परम्परा पर, उनके काल पर, हमारी कालगणना और युग-विभाजन पर तथा प्रमुख पौराणिक राजवंशों पर विस्तृत और सप्रमाण प्रतिपादन इस ग्रन्थ में समाविष्ट हो गया। ग्रन्थ में महर्षि वसिष्ठ, अरुन्धती, शक्ति, पराशर, कृष्ण द्वैपायन, शुकदेव आदि के स्वरूप, इतिहास और परम्परा का जो वस्तुनिष्ठ, प्रमाणपुष्ट और तार्किक विवेचन है, वह नई जमीन तोड़ता है। उन्होंने स्पष्ट किया है कि हमारे यहां किस प्रकार अनेक वेदव्यास हुए हैं, २८ वेदव्यासों की परम्परा तो सुविदित ही है जिसमें शक्ति, पराशर और द्वैपायन भी हैं। यह बात अलग है कि सामान्यजन कृष्ण द्वैपायन को ही वेदव्यास समझने लगे हों।

इन वेदव्यासों में से अनेक का उल्लेख त्रेता, द्वापर आदि अनेक युगों के

प्रसंगों में मिलता है जिस कारण अनेक शंकाएँ, जिज्ञासाएँ आदि उद्भूत होना स्वाभाविक है। श्री तिवाड़ी ने उन सबके समाधान का जो संतुलित और तर्कपुष्ट प्रयास किया है, पूर्णतः प्रत्यायक है। उन्होंने इन बिन्दुओं पर जो व्यापक अध्ययन किया है, उसके फलस्वरूप वेदों, पुराणों, इतिहास ग्रन्थों तथा अन्य स्रोतों से प्रमाण उद्धृत किये हैं एवं प्रसंगागत अनेक अन्य विषयों पर भी विस्तृत रूप से प्रकाश डाला है, उदाहरणार्थ शुकदेव के स्वरूप, काल और संदर्भों पर एक पृथक् अध्याय है। वेदों के मंत्रद्रष्टा ऋषियों की परम्परा में अनेक ऋषियों पर प्रकाश डाला गया है। श्री तिवाड़ी ने ठीक ही निष्कर्ष निकाला है कि विभिन्न युगों में विभिन्न स्वरूपों और संदर्भों में इन ऋषियों के नामों का जो उल्लेख है वह अनेक स्थानों पर नामसाम्य का मामला है, जैसा अन्य अनेक स्थितियों में भी देखा जाता है। विभिन्न कल्पों और युगों में समान नाम के राजा, ऋषि आदि होते ही रहे हैं।

इस प्रकार श्री तिवाड़ी ने पराशर के इतिहास पर जो विस्तृत अध्ययन किया, उसकी सुखद परिणति इस ग्रन्थ के रूप में हुई, यह प्रसन्नता की बात है। आशा है इस ग्रन्थ से न केवल जिज्ञासु पाठक किन्तु संस्कृति के परिनिष्ठित अध्येता भी भरपूर लाभ उठायेंगे तथा यह ग्रन्थ इससे संबद्ध अनेक अन्य विषयों पर इसी प्रकार व्यापक अध्ययन कर ग्रन्थ-लेखन हेतु विद्वानों को तथा स्वयं श्री रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी को भी प्रेरित करेगा तथा सन्दर्भ ग्रन्थ का काम देगा।

इस ग्रन्थ के प्रणयन पर मैं श्री तिवाड़ी को हार्दिक बधाई और साधुवाद समर्पित करता हूँ।

- देवर्षि कलानाथ शास्त्री

मंजुनाथ स्मृति संस्थान
सी-८, पृथ्वीराज रोड, जयपुर

गोपालनारायण बहुरा
प्रसिद्ध प्राच्य विद्याविद्
एवं
पुरा इतिहास व साहित्य के मूर्धन्य
विद्वान्

प्रास्ताविक

मानव-सभ्यता के उन्मेषकाल से ही विश्व के सभी भागों में उस परम तत्त्व सर्वशक्तिमान परम आत्मा के सन्धान एवं साक्षात्कार की दिशा में गम्भीर विचार-मंथन किया जाता रहा है, जिसमें सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की सृष्टि, उसके नियमन एवं सञ्चालन की उत्प्रेरक शक्ति अन्तर्निहित है तथा जिसकी अजस्र अमित ऊर्जा से समस्त जड़-चेतन अनुप्राणित हैं।

तत्त्व-चिन्तक मनीषियों द्वारा उस परम सत्ता के दर्शन एवं साक्षात्कार के व्यवस्थित प्रयासों को दर्शन नाम दिया गया तथा इस महत् कार्य में संलग्न महापुरुषों को दार्शनिक कहा गया। यूँ तो विश्व के सभी भागों में दार्शनिकों द्वारा इस दिशा में अपने-अपने ढङ्ग से प्रयास हुए, परन्तु भारत में इस सम्बन्ध में किये गये प्रयास अपेक्षाकृत अधिक गहन और बहु-आयामी रहे। भारत में गंगोत्री के रूप में प्रारम्भ हुये दर्शन के इस उत्स में शतशः विचार-धारायें जुड़ती गईं, जिसके परिणाम-स्वरूप भारतीय अध्यात्म-दर्शन ने अगाध एवं निस्सीम महासागर का स्वरूप ग्रहण किया।

भारत में इस तत्त्व-चिन्तन किंवा दर्शन को छः भागों में विभाजित किया गया है - १. सांख्य, २. योग, ३. न्याय, ४. वैशेषिक ५. मीमांसा और ६. वेदान्त। तत्त्व-ज्ञान का ऐसा निरूपण विश्व के अन्य देशों में दुर्लभ है।

वैदिक काल में जिस रूप में विविध रूपा प्रकृति एवं परम पुरुष की नियामक सत्ता का भाव-प्रवण-स्थिति में साक्षात्कार हुआ तथा मानस एवं वाणी के धरातल पर जिसका प्राकट्य हुआ, उसे मन्त्र कहा गया। मन्त्र-समुच्चय 'वेद' के रूप में प्रसिद्ध हुआ। परम सत्ता के दर्शन एवं साक्षात्कार का कोई एक आयाम नहीं, वह बहु-आयामी है, इस कारण अध्यात्म के भिन्न-भिन्न कोणों से दृष्ट मन्त्रों का विभिन्न विषयों से सम्बद्ध होना स्वाभाविक है। अतएव, वेद को विषयवार सुव्यवस्थित रूप प्रदान करने हेतु अन्ततोगत्वा चार भागों में विभाजित किया गया - १. ऋक्, २. यजुः, ३. साम तथा ४. अथर्व।

वेद को बोधगम्य बनाने हेतु उसके छः सहायक शास्त्र हैं –

शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दसां चितिः।
ज्योतिषामयनं चैव षडङ्गो वेद उच्यते ॥

अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दों का ज्ञान तथा ज्योतिष ये षडङ्ग वेद कहे जाते हैं। वेद के इन षडङ्गों अथवा छः अङ्गों में उच्चारण सम्बन्धी उपदेश या ज्ञान 'शिक्षा' है; यज्ञ-यागादि कर्म के विषय में विधि 'कल्प' है; शब्दों के सम्बन्ध में विचार 'व्याकरण' और उनकी व्युत्पत्ति व अर्थ के विषय में विचार 'निरुक्त' है; वैदिक छन्दों के बारे में सम्यक् ज्ञान को 'छन्द' अथवा 'पिङ्गल' कहा जाता है तथा यज्ञ-यागादि धर्म-विहित कर्म करने योग्य अयन, ऋतु, संवत्सर, मुहुर्त आदि का विचार और ज्ञान 'ज्योतिष' है। इन विषयों का गहन अध्ययन किये बिना वेदों का मर्म समझना कठिन है।

जो महात्मा चिन्तन-मनन से उस परम तत्त्व को जान लेता है, वह मुनि कहलाता है – "उच्चै मनुते जानाति यः।" चिन्तन-मनन की गहराइयों में उतरे बिना अध्यात्म-रत्नाकर में उपलब्ध रत्न एवं मणि-माणिक्य हस्तगत नहीं किये जा सकते –

'जिन खोजां तिन पाइयां गहरे पानी पैठ।'

इसी कारण अध्यात्म-जगत में मुनि को उच्च स्थान प्राप्त है, अतएव श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा है – "मुनिनामप्यहं व्यासः।" अर्थात् मुनियों में मैं वेद-व्यास हूँ।

परम तत्त्व के साक्षात्कार अथवा दर्शन करने वाले ऋषि कहलाते हैं – "ऋषिर्दर्शनात्"। केवल ज्ञान-चक्षुओं अथवा दिव्य दृष्टि से ही उस परम तत्त्व या सत्ता का दर्शन प्राप्त करना सम्भव है। इस प्रकार जिन महान विभूतियों ने वेद-मन्त्रों का दर्शन या साक्षात्कार किया, उन्हें ऋषि कहा गया – 'ऋषयोः मन्त्र-द्रष्टारः।'

अपनी दिव्य दृष्टि से असार संसार के पार उस पर ब्रह्म के दर्शन अथवा साक्षात्कार करने वाले ऋषियों की सामान्यतया सात श्रेणियाँ हैं –

सप्त ब्रह्मर्षि देवर्षि महर्षि परमर्षयः।
काण्डर्षिश्च श्रुतर्षिश्च राजर्षिश्च क्रमावराः ॥

अर्थात् ब्रह्मर्षि, देवर्षि, महर्षि, परम ऋषि, काण्डर्षि, श्रुतर्षि एवं राजर्षि ये सातों क्रमशः अवर हैं। दूसरे शब्दों में राजर्षि से लेकर ब्रह्मर्षि तक की श्रेणियाँ क्रमशः श्रेष्ठ से श्रेष्ठतर हैं। वसिष्ठ आदि ऋषि ब्रह्मर्षि हैं, नारद आदि देवर्षि, वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन एवं शाक्त्य पराशर आदि महर्षि, भेल आदि

ऋषि परमर्षि, जैमिनि आदि काण्डर्षि, सुश्रुत आदि श्रुतर्षि तथा ऋतुपर्ण व जनकादि राजर्षि की श्रेणी में सम्मिलित हैं। अनेक विदुषी एवं योग परायणा महिलाओं ने भी परम शक्ति के दर्शन किये हैं तथा वेद मन्त्रों का साक्षात्कार किया है। हमारे देश में बड़ी संख्या में ऐसी वेदकालीन ऋषिकाओं का गौरवपूर्ण स्थान रहा है।

स्वयं ब्रह्म रूप होने के कारण उस परम तत्त्व ब्रह्म का दर्शन ब्रह्मा जी के लिए सहज था, क्योंकि वे स्वयं ही एक अनादि सर्जक शक्ति हैं। इस प्रकार वेद-मन्त्रों के द्रष्टा के रूप में ब्रह्मा जी हमारे आदि ऋषि हैं। जब परमात्मा को सृष्टि करने की इच्छा हुई तो उसके संकल्प-मात्र से बुद्धि, मन और प्राण से युक्त शरीरधारी जीवों की उत्पत्ति हुई। सर्वप्रथम ब्रह्माजी आविर्भूत हुये और उनके मानसिक सन्तान हुईं। भिन्न-भिन्न पुराणों में उल्लिखित ब्रह्माजी के मानस-पुत्रों की संख्या में समानता नहीं है। महर्षि वसिष्ठ भी ब्रह्माजी के मानस-पुत्र थे, जो कालान्तर में राजा निमि के समय में अवतीर्ण हुये। वसिष्ठ एवं निमि ने पारस्परिक शाप के वशीभूत होकर अपना पञ्चभूत कलेवर छोड़ा। निमि को विदेह की उपाधि मिली तथा वसिष्ठ मित्र-वरुण के तेज से उत्पन्न हुये। यहाँ भी उन्हें ब्रह्मा का मानस-पुत्र ही कहा गया -

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः।

ऋग्वेद ७/३३/११ (पूर्वार्ध)

वसिष्ठ ऋग्वेद के सम्पूर्ण सप्तम मण्डल के मन्त्र-द्रष्टा तो हैं ही, अन्य मण्डलों में भी उनके द्वारा दृष्ट प्रभूत मन्त्र समाविष्ट हैं। अथर्ववेद में उनके द्वारा दृष्ट मन्त्रों को देखते हुये उन्हें 'आथर्वण' नाम से भी सम्बोधित किया जाता है।

विश्वामित्र मैत्रावरुणि वसिष्ठ के प्रति ईर्ष्या का भाव रखते थे। उन्हीं की दुष्प्रेरणा से वसिष्ठ के १०० पुत्र सुदास-पुत्र कल्माषपाद के हाथों काल-कवलित हुये। वसिष्ठजी ने शोक-मग्न होकर अनेक बार अपने प्राणान्त के प्रयास किये, परन्तु असफल रहे। शीघ्र ही वसिष्ठ-पुत्र शक्ति एवं वसुक्र के दो-दो पुत्र उनके देहावसान के उपरान्त उत्पन्न हुये। पराशर अपने पिता सहित उनके अन्य भाइयों की हत्या के प्रतिशोध हेतु राक्षस-सत्र प्रारम्भ कर राक्षसों के मूलोच्छेद की ओर प्रवृत्त हुये, परन्तु पुलस्त्य के आग्रह एवं वसिष्ठजी के समझाने पर उन्होंने अपने इस राक्षस-विनाशक अभियान को समाप्त कर दिया। वसिष्ठजी ने स्वयं से शत्रु-भाव रखने वाले विश्वामित्र को भी न केवल क्षमा कर दिया, अपितु इस सम्बन्ध में अधिकृत होने के नाते 'ब्रह्मर्षि' की उपाधि से भी उन्हें विभूषित किया। महर्षि वसिष्ठ के शक्ति एवं वसुक्र सहित १२ मन्त्र-द्रष्टा पुत्र हुये, जिनमें शाक्त्य

पराशर का मूर्धन्य स्थान है।

वर्तमान में सप्तम वैवस्वत मन्वन्तर की २८ वीं चतुर्युगी चल रही है तथा प्रत्येक चतुर्युगी के द्वापर में एक वेदव्यास आविर्भूत होने की मान्यता के अनुसार अब तक २८ वेदव्यास हो चुके हैं। इनमें मैत्रावरुणि वसिष्ठ, उनके पुत्र शक्ति तथा पौत्र शाक्त्य पराशर को सामान्यतया क्रमांक ८, २५ एवं २६ पर दर्शाया गया है। वेदव्यासों को दिया गया यह क्रम उनके काल क्रमानुसार न होकर संभवतया उनके वेदव्यास के रूप में किये गये अवदान पर अवलम्बित है। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्री रघुनाथ प्रसाद जी तिवाड़ी 'उमङ्ग' ने महाभारत एवं विभिन्न पुराणों के सम्बद्ध इतिवृत्त के विवेचनात्मक अध्ययन के आधार पर तीनों महर्षियों को दाशरथि श्री राम का लगभग समकालीन होने से त्रेतायुगीन स्थापित किया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक चतुर्युगी के द्वापर युग में वेदव्यास के आविर्भाव सम्बन्धी पौराणिक मान्यता के पुन: निर्वचन को आवश्यक बताया है। इसी प्रकार उपर्युक्त तीनों पिता, पुत्र एवं पौत्र के वेदव्यास होने से एक वेदव्यास से दूसरे वेदव्यास के मध्य एक चतुर्युगी में व्याप्त ४३ लाख २० हजार वर्ष के अन्तराल की मान्यता पर भी श्री तिवाड़ी जी ने पुनर्विचार आवश्यक माना है। इस सम्बन्ध में तिवाड़ी जी की यह मान्यता भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि पुराणों पर प्रथमदृष्ट्या अविश्वास एवं शङ्का करने के स्थान पर उनके गूढ़ निहितार्थ को समझने का प्रयास किया जाना चाहिये।

इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत ग्रन्थ में मीमांसकीय व्याख्याओं तथा दैनिक राजस्थान पत्रिका के 'तत्त्व बोध' स्तम्भ में 'वायु पुराण पीयूष' श्रृंखला में डॉ. अनन्त शर्मा के उद्धरणों के आधार पर विभिन्न कालों में काल-गणना की इकाइयों का परिमाप भिन्न-भिन्न होने सम्बन्धी अवधारणा को स्थापित करने का भी स्तुत्य प्रयास किया गया है। तिवाड़ी जी ने डॉ. अनन्त शर्मा के इस मन्तव्य को सर्वथा व्यावहारिक एवं तर्कसम्मत माना है कि सृष्टि एवं उसके विकास की दीर्घकालिक अवस्थाओं को सम्यक् रूप से बताने के लिये युग, मन्वन्तर एवं कल्प की गणना आधुनिक परिमापक इकाइयों की दृष्टि से सर्वथा सही एवं उचित है। इस गणना से पृथ्वी की आयु १ अरब ९७ करोड़ वर्ष आती है, जो आज के वैज्ञानिकों एवं भूवेत्ताओं के दृष्टिकोण से पूर्णतया मेल खाती है। इसके विपरीत मानव-इतिहास को दर्शाने वाली काल की परिमापक इकाइयाँ उक्त दीर्घकालिक इकाइयों की तुलना में बहुत छोटी होनी चाहिये, जिनके आधार पर युग, चतुर्युगी, मन्वन्तर एवं वेदव्यासों के आविर्भाव की अवधि बहुत संकुचित जान पड़ती है। इस विषय में बन्धुवर तिवाड़ी जी का यह निष्कर्ष भी काल-गणना के सन्दर्भ में युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि पुराणकारों ने प्रज्ञा-चमत्कार

दिखाने के उद्देश्य से प्रचलित लौकिक धारणा के विपरीत काल की इकाइयों का मान लघुतर मानकर समय-सीमा को अधिकतम दिखाने का प्रयास किया है। उन्होंने वर्ष एवं युग के भिन्न-भिन्न अर्थों का भी उल्लेख किया है तथा मीमांसकों के मत को भी उद्धृत किया है, जिसके अनुसार वर्ष समय के किसी भाग तथा युग दो, पाँच या बारह आदि अर्थों का द्योतक होता है।

जहाँ तक कृष्ण द्वैपायन को मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र पराशर का पुत्र मानने की पौराणिक मान्यता एवं सर्वव्यापी जन-आस्था का प्रश्न है, तिवाड़ी जी ने वेद-शास्त्रों में व्यक्त तथ्यों के निरपेक्ष विवेचन के आधार पर इस सत्य के उद्घाटन का श्लाघ्य प्रयास किया है कि मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र शाक्त्य पराशर रघुकुल अवतंस त्रेतायुगीन श्री राम से भी पूर्व हुये हैं तथा कृष्ण द्वैपायन महाभारत काल अर्थात् कलियुग के अन्त में, अतएव वे शाक्त्य पराशर के पुत्र नहीं हो सकते; निश्चय ही वे शाक्त्य पराशर से भिन्न कोई अन्य पराशर रहे होंगे। इस विषय में श्री तिवाड़ी जी का यह कथन बहुत सार्थक एवं प्रासङ्गिक है कि सहस्रों वर्षों के अन्तराल में पुराणों के सम्पादन, पुंनर्लेखन अथवा व्याख्या करते समय कतिपय नाम वा तथ्य छूट जाने अथवा शास्त्रों में प्रक्षिप्त अंश आ जाने के कारण इस प्रकार की विसंगति आना संभव है।

अतएव, विशेष रूप से पारीक समाज के बन्धुओं को इस तथ्यान्वेषण से किंचित् पीड़ा और आश्चर्य मिश्रित अविश्वास हो सकता है, जो अपने वंश-प्रवर्तक शाक्त्य पराशर का पुत्र होने सम्बन्धी परम्परागत मान्यता के अनुसार कृष्ण द्वैपायन को भी अपने वंश-प्रवर्तक पूर्वज के समान ही आदर देते आये हैं। आशा की जानी चाहिये कि वे अकाट्य तथ्यों पर आधारित होने के कारण इस सत्य को सरलतापूर्वक आत्मसात् कर लेंगे कि वे कृष्ण द्वैपायन के पिता किन्हीं महाभारतकालीन पराशर के वंशज न होकर त्रेतायुगीन मैत्रावरुणि वसिष्ठ-पौत्र शाक्त्य पराशर के वंशज हैं।

जो समाज जितना जड़ और अज्ञानी होता है, उसके लिये नई बात को मानना उतना ही कठिन होता है। गैलिलिओ को बाइबिल सहित सभी धर्मग्रन्थों के कथन एवं जन-सामान्य में प्रचलित मान्यता के विरुद्ध विज्ञान-सम्मत इस सत्य को उद्घाटित करने पर दण्डस्वरूप मृत्यु का वरण करना पड़ा कि सूर्य पृथ्वी की नहीं, पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। सत्य के प्रखर प्रकाश में दृश्यमान वस्तुस्थिति को देखते हुये शाक्त्य पराशर के विषय में भी इसके अतिरिक्त कोई चारा नहीं है।

सुप्रसिद्ध एवं ज्ञान-सम्पन्न ऋषि-मुनियों के नाम पर परवर्ती वंशजों में अपनी सन्तान का नाम रखने की सामान्य प्रवृत्ति एवं परम्परा दृष्टिगोचर होती है।

इसी कारण एक ही नाम के अब तक अनेक वसिष्ठ एवं पराशर आदि ऋषि हो चुके हैं। यदि पूर्ववर्ती ऋषि अथवा महापुरुष अधिक लोकप्रिय एवं विशिष्ट गुणों से सम्पन्न है तो उसी के नामधारी परवर्ती ऋषि में भी पूर्ववर्ती ऋषि के गुण–वैशिष्ट्य का आधान कर दियां गया। यदि उत्तरवर्ती ऋषि/महर्षि की कोई विशेष ख्याति होती तो बहुधा पूर्ववर्ती के जीवन–चरित्र एवं उपलब्धियों में उसका भी विवरण समाविष्ट कर दिया जाता। इस प्रकार 'अवसर के अनुकूल' पूर्ववर्ती के गुण–वैशिष्ट्य और महान कार्यों का उल्लेख उत्तरवर्ती में तथा उत्तरवर्ती के गुणों एवं उपलब्धियों का उल्लेख पूर्ववर्ती में किया जाना सामान्य बात है।

इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि हमारे देश में ऐसे पीठ एवं उपाधियाँ हैं, जो एक ही पद–नाम से चलती रहती हैं तथा पृथक् व्यक्तिगत नाम होने के उपरान्त भी उस पर आसीन व्यक्ति सामान्यतया केवल पद–नाम से ही अभिहित किया जाने लगता है। इस विषय में 'वेदव्यास' एव 'जनक' पद–नाम का उदाहरण देना उपयुक्त होगा। वेदव्यास की पीठ पर आसीन होने वाले सभी ऋषि वेदव्यास कहलाये। इसी प्रकार मिथिला–नरेशों के लिये विशेषण पद अथवा उपाधि 'जनक' निर्धारित की गई तथा मिथिला के सभी उत्तरवर्ती राजा 'जनक' के नाम से जाने गये। सीता जी के पिता आज भी केवल 'जनक' के पदसूचक नाम से ही जाने जाते हैं, जबकि उनका व्यक्तिगत नाम 'सीरध्वज' है, इस तथ्य से बहुत कम लोग परिचित होंगे।

भारत के अतिरिक्त अन्य देशों में भी इसी प्रकार की प्रथा प्रचलित है। इंगलैण्ड के राज–सिंहासन पर आसीन होने वाले राजाओं में ८ एडवर्ड, ६ जार्ज एवं २ एलिजाबेथ हो चुकी हैं।

इसी प्रकार शुकदेव भी एक से अधिक हुये हैं, जिनमें इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में दो शुकदेव विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं – १. कृष्ण द्वैपायन के पुत्र, जो आजन्म वीतराग रहे, तथा २. पुराकाल के शुकदेव।

प्रथम में कृष्ण द्वैपायन द्वारा अग्नि उत्पन्न करने हेतु अरणि नामक काष्ठ के टुकड़ों का मंथन करते समय घृताची अप्सरा को देखकर अरणि पर शुक्रपात के फलस्वरूप शुकदेव का जन्म बताया जाता है। देवी भागवत में उक्त शुकदेव के जन्म को दूसरे प्रकार से बताया गया है, जिसके अनुसार भगवान शंकर द्वारा पार्वती जी को अमरकथा सुनाने, पार्वती जी के निद्रामग्न होने की अवस्था में पक्षि–शावक द्वारा कथा में हुंकार भरने तथा भगवान शंकर के क्रोधित होकर फेंके गये त्रिशूल से बचने हेतु कृष्ण द्वैपायन जी की पत्नी के मुख से होकर उदर में प्रविष्ट हो जाने की घटना का उल्लेख है। यह पक्षि–शावक १२ वर्ष गर्भ में रहा और वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन के बहुत समझाने पर गर्भ से बाहर आया। ग्रन्थकार

'तिवाड़ी जी' ने पक्षि-शावक को द्विज या ऋषि के बालक के पर्याय के रूप में निरूपित कर घटना के निहितार्थ को प्रकट करने का तो स्तुत्य प्रयास किया ही है, उन्होंने पक्षी के बालक को १२ वर्ष गर्भ में रहने का भी बड़ा विज्ञान-सम्मत विवेचन किया है। उन्होंने पक्षि-शावक के १२ वर्ष में जन्म को १२ वर्ष की अवस्था में उपनयन होना माना है। इससे पूर्व की उस द्विज-पुत्र किंवा पक्षि-शावक की अवस्था द्विज अथवा पक्षी के रूप में गर्भावस्था ही कही जायेगी। ये शुकदेव जी जन्म से ही वीतराग हैं तथा श्रीमद्भागवत आदि में इन शुकदेव जी के सन्तान होने का कोई उल्लेख नहीं है। केवल श्री गीताप्रेस द्वारा प्रकाशित श्रीमद्‌भागवत की पाद टिप्पणी में छाया शुक को गृहस्थोचित कर्म में प्रवृत्त होने की संभावना व्यक्त की गई है।

महाभारत के शांति पर्व के ३२१ वें अध्याय में जिन शुकदेव जी के सम्बन्ध में विवरण दिया गया है, वे निश्चय ही उपर्युक्त शुकदेव से भिन्न पुराकाल के शुकदेव रहे हैं, जैसा कि निम्न श्लोक में स्पष्ट है -

कथं निर्वेदमापन्नः शुको वैयासकिः पुरा।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे॥
महा० शां० प० ३२१/१

उक्त श्लोक में युधिष्ठिर भीष्म से पूछ रहे हैं कि पूर्वकाल के व्यास-पुत्र शुकदेव को क्योंकर वैराग्य उत्पन्न हुआ, मैं अत्यधिक कौतूहल के वशीभूत होकर आपसे इस विषय में सुनने की इच्छा कर रहा हूँ।

महाभारत के शांति पर्व के ३२३ वें अध्याय के निम्न श्लोकों से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि युधिष्ठिर वर्तमान काल के नहीं अपितु पूर्वकाल के शुकदेव के विषय में ही भीष्म पितामह से पूछ रहे हैं -

कथं व्यासस्य धर्मात्मा शुको जज्ञे महातपाः।
सिद्धिं च परमां प्राप्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह॥१॥
कस्यां चोत्पादयामास शुकं व्यासस्तपोधनः।
न ह्यस्य जननीं विद्म जन्म चाग्र्यं महात्मनः॥२॥
महा० शां० प० ३२३/१-२

अर्थात् पितामह व्यासजी के यहाँ तपस्वी और धर्मात्मा शुकदेव का जन्म कैसे हुआ और उन्होंने परम सिद्धि कैसे प्राप्त की? इस सम्बन्ध में बताइये। इसके साथ ही तपस्या के धनी व्यासजी ने किस स्त्री के गर्भ से शुकदेवजी को उत्पन्न किया? हम न तो उन महात्मा शुकदेव की माता का नाम जानते हैं और न उनके श्रेष्ठ जन्म का वृत्तान्त ही।

इस सन्दर्भ में श्री तिवाड़ी जी द्वारा उद्‌धृत पराशर गीता का निम्न श्लोक भी विशेष रूप से विचारणीय है-

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथापूर्वं महायशाः।
पराशरं महात्मानं पृपच्छ जनको नृपः॥

महा०शां०प० २९०/३

अर्थात् भीष्म पितामह कहते हैं कि हे युधिष्ठिर! इस विषय में मैं तुम्हें पूर्वकाल का अथवा प्राचीन प्रसङ्ग सुनाऊँगा। एक समय महायशस्वी राजा जनक ने महात्मा पराशर से पूछा।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह संकेत मिलता है कि युधिष्ठिर और भीष्म पितामह के समय से पुराकाल में (बहुत पहले) भी पराशर और शुकदेव हो चुके थे।

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ के माध्यम से श्री तिवाड़ी जी ने इस सत्य का भी प्रतिपादन किया है कि शुकदेव युधिष्ठिर के चाचा या ताऊ थे, ऐसी स्थिति में युधिष्ठिर जैसे प्रज्ञावान महापुरुष के लिये अपनी चाची-ताई आदि का नाम न जानना व्यावहारिक दृष्टि से संभव प्रतीत नहीं होता। पूर्वकाल के शुकदेव के बारे में पूछने का स्पष्ट फलितार्थ यही है कि एक शुकदेव वर्तमान में विद्यमान हैं, जब प्रश्न पूछा जा रहा है। चूँकि ये शुकदेव भी व्यास-पुत्र हैं तथा पूर्वकाल के हैं, अतएव ग्रन्थ में शुक-रम्भा संवाद, राजा जनक से शिक्षा प्राप्त करना, नारद (अरुन्धती के भ्राता) को गुरु बनाना जैसे घटनाक्रम को विविध शास्त्रीय प्रमाण देकर इस ग्रन्थ में सम्यक् रूप से उन शुकदेव को शाक्त्य पराशर का समकालीन सिद्ध किया गया है। चूँकि पूर्वकाल के शुकदेव को भी व्यास-पुत्र बताया गया है, अतएव वे समकालीन होने से निश्चय ही वेदव्यास शाक्त्य पराशर के ही पुत्र होने संभव हैं।

जहाँ तक पराशर जी की जन्म-तिथि का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में महर्षि कृष्ण द्वैपायन की जन्म-तिथि व्यास-पूर्णिमा को ही महर्षि शाक्त्य पराशर की जन्म-तिथि मानने की जन-सामान्य में मान्यता है। वसिष्ठजी ने पराशर जी के गर्भस्थ होने की सूचना प्राप्त होने से पूर्व अनेक बार आत्मघात का प्रयास किया था, जिसमें दावानल (ग्रीष्म ऋतु में) में कूद पड़ना तथा कालान्तर में वर्षारम्भ के समय जल से आप्लावित नदी में प्राण-त्याग की दृष्टि से कूद जाना आदि घटनायें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिसके अनुसार वर्षारंभ (व्यास-पूर्णिमा) तक तो वसिष्ठ को अपनी पुत्रवधू अदृश्यन्ती के गर्भ में पराशर के होने की कोई जानकारी नहीं थी। इस दृष्टि से महर्षि पराशर की जन्म तिथि शरद् पूर्णिमा की श्री तिवाड़ी जी की मान्यता के पीछे ठोस शास्त्रीय आधार हैं, इसमें

कोई सन्देह नहीं है।

प्राचीन घटना-क्रम को आज के परिप्रेक्ष्य एवं दृष्टिकोण से देखने पर बहुधा हमारे लिये उसे आत्मसात् करना कठिन हो जाता है। पूर्व काल में यदि कोई घटना नैतिकता के धरातल पर अनुचित लगती थी तो उसके सम्बन्ध में मानस व शरीर को पवित्र बना देंने की विस्मयकारी परिपाटी एवं विधि ऋषि-मनीषियों के हाथ में थी। इस प्रकार हृदय वा मानस, व्यक्ति, उसके चरित्र, कथा-वृत्तान्त एवं वास्तु आदि सभी को पवित्र बनाने का विधान किया गया था।

श्रीमद्भगवद्गीता के निम्न श्लोक में ब्रह्म ज्ञान का उदय होने पर ब्रह्म दृष्टि की प्राप्ति की ओर सङ्केत किया गया है, जिसके अनुसार अर्पण करने की क्रिया ब्रह्म है, हवि अर्थात् अर्पण करने का द्रव्य भी ब्रह्म है, ब्रह्माग्नि में ही ब्रह्म ने हवन किया है, इस प्रकार जिसकी बुद्धि में सभी कार्य ब्रह्ममय हैं, उसको ब्रह्म ही मिलता है।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥४/२४॥

अर्थात् स्रुवा (अग्नि में घी डालने का पात्र) ब्रह्म है, हवन-योग्य सामग्री (हवि) ब्रह्म है, ब्रह्म रूप अग्नि में ब्रह्मरूप हवनकर्ता द्वारा जो होम किया जाता है, वह भी ब्रह्म है; जो इस प्रकार समझते हैं, उन ब्रह्मरूप कर्म में संयतचित्त व्यक्ति के द्वारा ब्रह्म ही प्राप्त होता है।

वैदिक युग में ऋषि लोग यज्ञों के द्वारा देवताओं की आराधना करके अभीष्ट फल-प्राप्ति की प्रार्थना करते थे। यज्ञ भी उन दिनों ईश्वर की आराधना का मुख्य साधन था। आजकल की पूजा भी यज्ञ है। ज्ञानयज्ञ, नृयज्ञ, भूतयज्ञ, जपयज्ञ, नामयज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ आदि विविध यज्ञों का प्रचलन वर्तमान युग में हुआ है। प्रत्येक यज्ञ रूप कर्म से ही निष्काम भाव से करने पर फल, चित्तशुद्धि और क्रमशः ब्रह्म-प्राप्ति होती है।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म" - यह सभी कुछ ब्रह्म है। ब्रह्मदर्शन की इस उदात्त अवस्था में व्यक्ति को किसी प्रकार का पाप कलुषित नहीं करता। व्यक्ति की यही ब्राह्मी स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त करने के उपरान्त तन अथवा मन के स्तर पर की गई किसी भी प्रकार की अपवित्रता नष्ट हो जाती है।

कालान्तर में निम्न मन्त्र के उच्चारण तथा उसमें व्यक्त भावों को आत्मसात् करने से पवित्रता के प्रवेश की कामना बलवती हुई। मनुष्य अपवित्र हो अथवा पवित्र अथवा किसी भी दशा में स्थित हो, जो पुण्डरीकाक्ष (कमलनयन) भगवान विष्णु का स्मरण करता है, वह बाहर और भीतर, सब ओर से पवित्र हो जाता है -

ओ३म् अपवित्रः पवित्रा वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरः शुचिः॥

भक्तिकाल में जाति-पाँति, अस्पर्श्यता एवं ऊँच-नीच के भेदभाव की दृष्टि को समतामयी और पवित्र बनाने हेतु हरिभजन को सर्वश्रेष्ठ माध्यम बताया गया -

जात-पाँत पूछे नहीं कोई।
हरि को भजे सो हरि का होई॥

इस प्रकार बन्धुवर रघुनाथ प्रसाद जी तिवाड़ी 'उमङ्ग' ने प्रस्तुत ग्रन्थ में बड़े उत्साह और उमङ्ग सहित पारीकों के आदि पुरुष महर्षि वसिष्ठ, शक्ति, पराशर और शुकदेव आदि महर्षियों के आविर्भाव काल एवं इतिवृत्त को वेद, उपनिषद्, पुराण तथा आधुनिक साहित्य - पत्र-पत्रिकाओं के तथ्यपूर्ण एवं तर्कसम्मत उद्धरणों का समावेश करते हुये निरपेक्ष दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है। अपने पूर्व-ज्ञान और पूर्वाग्रहों से निकल कर किसी भी वृत्तान्त, घटनाक्रम अथवा महापुरुषों के जीवन-चरित्र को वेद-शास्त्रों के तटस्थ विवेचन द्वारा सर्वथा नवीन दृष्टिकोण से प्रस्तुत करना सर्वाधिक चुनौतीपूर्ण कहा जाना चाहिये। पहली चुनौती लेखकीय पूर्व मान्यताओं को त्याग कर नई मान्यताओं एवं तथ्यों को अङ्गीकार करना है तथा दूसरी और सबसे कठिन चुनौती लोगों को पुरातन को छोड़कर नूतन पथ का अनुगामी बनाना है। श्री 'उमङ्ग' ने अपने विवेचन में सर्वत्र वेद-शास्त्रों का आश्रय लिया है तथा निर्लिप्त भाव से सत्य पर आधारित तथ्यों के अन्वेषण का स्तुत्य प्रयास किया है।

अतएव, यह पुस्तक एक बहुमूल्य सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में सामने आई है। पाठक इसकी जटिलताओं को गम्भीरतापूर्वक समझते हुये इसके तथ्यान्वेषण को आत्मसात कर सकेंगे, ऐसी आशा है। तिवाड़ी जी का यह महत्वपूर्ण प्रयास विषय से सम्बद्ध विविध गुत्थियों को सुलझाने में निश्चय ही सहायक होगा और विशेषतः पारीकों के उत्स एवं उत्पत्ति सम्बन्धी शङ्काओं के समाधान की दिशा में एक मील का पत्थर सिद्ध होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। पारीक बन्धु इस ग्रन्थ के माध्यम से अपनी वंश-परम्परा को सही दृष्टिकोण से देखता हुआ निश्चय ही गौरव का अनुभव करेगा, ऐसी मेरी मान्यता है।

मैं इस श्रम एवं समय-साध्य प्रयास के लिये श्री रघुनाथ प्रसाद जी तिवाड़ी 'उमङ्ग' को आशीर्वाद सहित बधाई देता हूँ।

- गोपाल नारायण बहुरा

बहुराजी का बाग, टोंक रोड़, जयपुर।

प्रो. सत्यदेव मिश्र
कुलपति
राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय
जयपुर

शुभाशंसा

भारतीय संस्कृति को सनातन बनाये रखने में वेद एवं वेदार्थ के उपबृंहक रामायण, महाभारत तथा पुराणों की महनीय भूमिका रही है। परमात्मा के निःश्वास से समुद्भूत होने के कारण वेद न केवल अपौरुषेय हैं अपितु सृष्टि के समान अनादि एवं अनन्त भी हैं। निरुक्त (१/२०) के टीकाकार दुर्गाचार्य के मतानुसार वेद मूलतः एक होने के कारण दुरध्येय था, अतः महर्षि व्यास ने इसको सुगम बनाने के लिये इसे शाखाओं में विभाजित किया। तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार भास्कर भट्ट का भी यही अभिमत है -

''पूर्व'' भगवता व्यासेन जगदुपकारार्थमेकीभूयस्थिता वेदाः व्यस्ताः शाखाश्च परिच्छिन्नाः। (तैत्तिरीय संहिता का प्रारम्भिक अंश)

उपर्युक्त मतों के सन्दर्भ में यह निष्कर्ष निकलता है कि वेद न तो तीन थे और न चार, सभी वेद मन्त्र एक साथ मिले-जुले थे। अतः इन मन्त्रों के संकलन के रूप में प्रसिद्ध चार वेदों में पूर्वापरत्व की कल्पना अनुचित है। यजुर्वेद के भाष्यकार महीधर का कथन है कि ब्रह्मा की परम्परा से प्राप्त वेद को वेदव्यास ने मन्दबुद्धि मनुष्यों के लिये ऋग्, यजुः, साम तथा अथर्व भागों में विभक्त करके उनका उपदेश क्रमशः पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु को दिया -

''तत्रादौ ब्रह्मपरम्परया प्राप्तं वेदं वेदव्यासो मन्दमतीन् मनुष्यान् विचिन्त्य तत्कृपया चतुर्धा व्यस्य ऋग्यजुः सामाथर्वाख्यांश्चतुरो वेदान् पैल-वैशाम्पायन-जैमिनि सुमन्तुभ्यंक्रमादुपदिदेश''।

विष्णु पुराण (३.३.१९-२०) तथा मत्स्य पुराण (१४४/११) के अनुसार वेद प्रारम्भ से ही चतुष्पाद थे। दूसरे शब्दों में वेद की पहले से ही चार संहितायें थीं। प्रत्येक द्वापर के अन्त में चतुष्पाद वेद का पुनः चार भागों में विभाजन किया गया। यह वेद विभाजन अब तक २८ बार हो चुका है। जिसने वेद-विभाजन का कार्य किया, उसी को व्यास की संज्ञा प्राप्त हुई। इस दृष्टि से अब तक ब्रह्मा से लेकर कृष्ण-द्वैपायन तक २८ व्यास हुये हैं। व्यास नाम के इस वैविध्य से

भारतीय साहित्य के अस्तित्व की प्राचीनता के समान व्यास के अस्तित्व की भी प्राचीनता सिद्ध होती है। व्यास वस्तुतः उपाधि-परम्परा, वंश-परम्परा, शिष्य-परम्परा और सम्मान-परम्परा का बोधक है। महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने व्यास या वेदव्यास के सम्बन्ध में स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि - "व्यास या वेदव्यास किसी व्यक्ति विशेष का नाम नहीं, यह एक पदवी है अथवा अधिकार का नाम है। जब जो ऋषि-मुनि वेद-संहिता या पुराण का संक्षेप कर ले, वही उस समय व्यास या वेदव्यास कहा जाता है। किसी समय वसिष्ठ और किसी समय पराशर आदि भी व्यास हुये। इस अट्ठाईसवें कलियुग के व्यास कृष्ण-द्वैपायन हैं। उनके रचित या प्रकाशित ग्रन्थ आज पुराण नाम से चल रहे हैं।" (वाचस्पति गैरोला के संस्कृत साहित्य के इतिहास में उद्धृत, पृष्ठ २३०)।

महाकवि अश्वघोष ने कृष्ण-द्वैपायन संज्ञक व्यास के विषय में तीन बातों का उल्लेख किया है - (१) उन्होंने वेदों का विभिन्न वर्गों में विभाजन किया, (२) वसिष्ठ और शक्ति उनके पूर्वज थे, तथा (३) वह सारस्वत वंशीय थे। अश्वघोष के शब्दों में व्यास के द्वारा वेद-विभाजन वह दुष्कर कार्य था, जो उनके पूर्वज वसिष्ठ और शक्ति भी न कर सके थे :-

"सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं पुनर्यं ददृशुर्नपूर्वे।
व्यासस्तथैनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवान्न शक्तिः॥"

(बुद्धचरित, १/४२)

पूर्व वेदव्यासों के रूप में परिगणित वसिष्ठ, शक्ति तथा पराशर कृष्ण-द्वैपायन व्यास के क्रमशः प्रपितामह, पितामह तथा पिता माने गये हैं:-

"वसिष्ठस्य सुतः शक्तिः शक्तेः पुत्रः पराशरः।
पराशर सुतः श्रीमान् कृष्ण-द्वैपायनो हरिः॥"

कृष्ण-द्वैपायन व्यास का एक नाम बादरायण भी था। उनका बादरायण नाम उनके बदरिकाश्रम में चिरन्तन निवास का स्मारक है। व्यास ने "वेदान्तसूत्र" की रचना बदरिकाश्रम में रह कर की थी। अतः यह "बादरायण-सूत्र" के नाम से प्रख्यात है। पराशर-पुत्र होने के कारण कृष्ण-द्वैपायन व्यास को पाराशर भी कहा जाता है।

श्री रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी "उमंग" ने अपने **वेदव्यास महर्षि पराशर** ग्रन्थ में महर्षि पराशर के पूर्वजों तथा वंशजों का प्रामाणिक इति-वृत्त प्रस्तुत किया है। छह परिच्छेदों में विभक्त इस आकर ग्रन्थ के उपक्रमात्मक परिच्छेद का उद्देश्य वेदव्यास परम्परा एवं प्राचीन काल-गणना के पौराणिक निरूपण में

निहित है। द्वितीय से पंचम परिच्छेदों में क्रमशः वसिष्ठ, शक्ति, पराशर तथा शुकदेव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का इतिहास-पुराण सम्मत विवेचन प्रस्तुत करते हुये और छठे परिच्छेद में पारीक को पराशर वंशज सिद्ध करते हुये श्री रघुनाथ प्रसाद ने वस्तुतः वसिष्ठ वंश का प्रामाणिक इतिहास लिखने का श्रेय प्राप्त किया है।

वसिष्ठ के अस्तित्वकाल का ज्ञान होने पर उनके वंशजों की तिथि का भी सहज अनुमान किया जा सकता है। काश्यप-संहिता (१/२०) में वसिष्ठ को इन्द्र का शिष्य माना गया है। युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने ग्रन्थ "**संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास**", प्रथम भाग, पृष्ठ ६०-६४ में इन्द्र का सम्भावित स्थिति काल ८५०० वि० पूर्व सिद्ध किया है। कविराज सूरमचन्द्र ने भी **आयुर्वेद के इतिहास** (खण्ड-१, पृष्ठ ४०-४२) में यह मत व्यक्त किया है कि महर्षि वसिष्ठ ने दीर्घजीवी इन्द्र से आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त की थी। इस दृष्टि से वसिष्ठ का अस्तित्व काल आज से लगभग १०,००० वर्ष पूर्व सिद्ध होता है।

श्री रघुनाथप्रसाद जी का **वेदव्यास महर्षि पराशर** ग्रन्थ उनके वैदिक तथा पौराणिक वाङ्मय के बहुवर्षीय अनुशीलन, अनथक परिश्रम एवं गवेषणामयी दृष्टि का प्रतिफल है। ग्रन्थ के निष्कर्ष तर्कसंगत तथा तथ्यपूर्ण हैं। ग्रन्थ में ऐसी कोई बात नहीं लिखी है, जिसका प्रमाण न हो। प्रसंगानुगत सन्दर्भों एवं आख्यानों से परिपूर्ण यह ग्रन्थ वेद, इतिहास-पुराण तथा धर्मशास्त्र के अध्येताओं के लिए निस्सन्देह पठनीय तथा संग्रहणीय होगा।

- प्रो० सत्यदेव मिश्र

रामकुमार त्रिपाठी
पूर्व कुलपति
महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ
विश्वविद्यालय, वाराणसी

उदान *

सितम्बर (2002) में एक विशिष्ट प्रयोजन से जयपुर जाना पड़ा। यहाँ प्रियवर रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी "उमंग", जो राजस्थान उच्च न्यायालय में प्रतिष्ठित अधिवक्ता हैं, ने जब अपने शोधपरक ग्रन्थ "वेदव्यास महर्षि पराशर" की मूल प्रति दिखलायी तो स्मृति बलात् आचार्य परशुराम चतुर्वेदी और बाबू वृन्दावन लाल वर्मा की ओर चली गयी। वृत्ति से अधिवक्ता होते हुए भी इन महानुभावों ने साहित्य-संस्कृति के क्षेत्र में जो अप्रतिम योगदान किया है उससे हिन्दी जगत पूर्ण परिचित है। मुझे लगता है कि श्री तिवाड़ी भी उक्त अधिवक्ता लेखकों की परंपरा की एक कड़ी सिद्ध होंगे।

श्री तिवाड़ी की गवेषणापूर्ण पुस्तक "वेदव्यास महर्षि पराशर" देश की सनातन संस्कृति की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। हमारी पुरातन संस्कृति की धारा में वेदव्यास ब्रह्मर्षि वसिष्ठ का स्थान अति उच्च है। वे महान प्रतिभाओं के पुंज हैं। भारत की चक्रीय सृष्टि-परंपरा के अनुसार वेदव्यास प्रत्येक मन्वन्तर में प्रकट होते हैं। इनके अनेक कार्यों में तीन सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं :

(१) वेद के गूढ़ रहस्यों को महाभारत-पुराण-इतिहास के द्वारा सामान्य जन के लिए बोधगम्य बनाकर खोलना। व्यास शब्द समास का विलोम है। समास का अर्थ है संकुचित संक्षिप्त, जबकि व्यास का अर्थ है खोला गया, फैलाया हुआ। वेदों में धर्म के तत्व समास शैली में आये हैं।

(२) दूसरा अभूतपूर्व कार्य है वेदों की आध्यात्मिकता को सूत्र शैली में संग्रहीत करना। इसी कार्य का प्रतिफल है ब्रह्मसूत्र नामक ग्रन्थ, जो वेदान्तत्रयी में अन्यतम है।

(३) तीसरा और सबसे महत्वपूर्ण कार्य है- वेदों की याज्ञिक और यात्विक (यातु) धाराओं को एक साथ जोड़ना और वेदमंत्रों को संहिताबद्ध करना। वेद की याज्ञिक परम्परा में ऋक, यजु और साम ही मान्य थे।

* पालि में प्रीतिपूर्ण वचन को उदान कहा गया है.

इस परम्परा के मानने वाले यात्विक परम्परा के अथर्व को गर्हित समझते थे। इस कारण दोनों धाराओं के ब्रह्मर्षियों/महर्षियों में विरोध था। भगवान वेदव्यास ने यात्विक धारा के अपने समकालीन अध्यक्ष महाअथर्वण जाबालि की पुत्री जाबाला से विवाह ही नहीं किया बल्कि अथर्ववेद को याज्ञिक परम्परा में सम्मिलित किया और तीन के स्थान पर चार वेदों को मान्यता दिलायी। इस तरह उन्होंने प्राचीन भारतीय मनीषियों को एक धारा में निबद्ध करने का अति प्रशंसनीय कार्य किया, जो अपने ढंग का अद्वितीय है। इस सामंजस्य सम्मिलन के अतिरिक्त वेदव्यास जी ने विभिन्न शाखाओं में बिखरे वेदमंत्रों को संहिताबद्ध कर युगयुगान्तर के लिये सुरक्षित करने का महान उद्योग भी किया है।

महामुनि शुकदेव भक्ति के आदि आचार्य और प्रतिमूर्ति हैं। श्रीमद्भागवत महापुराण के मूलकर्त्ता यद्यपि भगवान वेदव्यास हैं किन्तु उसे लोक में वचन और कार्य से प्रकाशित करने का उद्योग श्री शुकदेव जी का है। उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के महत्व को कबीर जैसा फक्कड़ निर्गुणिया संत भी स्वीकार करता है–

ता मन को कोउ जाने भेव।
ता मन लीन भये सुकदेव॥ (कबीर)

पुराणों–जनश्रुतियों में शुकदेव जी के निश्छल भक्तस्वरूप की अनेक कहानियां हैं।

महर्षि पराशर भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इन्होंने मछुआरे की कन्या योजनगंधा सत्यवती से गन्धर्व विवाह करके और उससे उत्पन्न पुत्र कृष्ण द्वैयापन को अपना उत्तराधिकारी बनाकर वर्णव्यवस्था की लौह प्राचीर में एक प्रगतिशील द्वार खोलने का विस्मयकारी कार्य किया है। महर्षि पराशर एक मान्य स्मृतिकार भी हैं।

ये तीनों महापुरुष – वसिष्ठ, शक्ति और पराशर, हमारी सनातन धर्म संस्कृति के भास्वर नक्षत्र हैं। समय के अन्तराल में इन नक्षत्रों की प्रभा विस्मृति के अन्धकार से मलिन पड़ गयी है। श्री तिवाड़ी का अनुसंधान कार्य इन नक्षत्रों को परिवेष्टित करने वाली तिमिर धूलि को विकीर्ण करने में सहायक होगा। अतः निश्चित रूप से श्री तिवाड़ी साधुवाद के पात्र हैं।

श्री तिवाड़ी अपने अध्ययन से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पराशर वेदव्यास और शुकदेव नाम वाले एक से अधिक महापुरुष हुए हैं। लेखक का यह विचार स्थापित मान्यता को ही सिद्ध करता है। वस्तुतः हमारे अधिकांश

प्राचीन महापुरुष ऐसे हैं जिनके नाम एक हैं परन्तु वे भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व हैं। अनेक महापुरुषों का समान नाम होना कोई बड़ी पहेली नहीं है और इसे आसानी से समझा जा सकता है। जो आस्थावादी हैं वे उक्त पहेली को अपनी चक्रीय सृष्टि-प्रक्रिया से हल कर सकते हैं। भारतीय चक्रीय सृष्टि-प्रक्रिया के अनुसार विश्व विकास स्वयं को हर युग में दुहराता है। अतः हर युग में वेदव्यास अवतीर्ण होते हैं। फलतः प्राचीन आख्यानों में एक ही नाम वाले अनेक व्यक्ति मिलते हैं।

जो तर्कवादी हैं वे उक्त पहेली को इस तरह समझ सकते हैं। हमारे प्राचीन गुरुकुलों में अनेक विशिष्ट अध्ययन केन्द्र होते थे। ऐसे विशिष्ट अध्ययन केन्द्रों को 'चरण' कहा जाता था। किसी चरण के संस्थापक आचार्य का जो नाम होता था, वही नाम बाद के अन्य सभी चरण-अध्यक्षों को दिया जाता था। अतः ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने जो चरण स्थापित किया, बाद में सहस्त्रों वर्षों तक उस चरण के अध्यक्ष वसिष्ठ नाम से ही विख्यात होते रहे। तो स्पष्ट है कि आदि वसिष्ठ भले ही एक थे किन्तु वसिष्ठ नामधारी अनेक व्यक्ति हुए। यही स्थिति वेदव्यास, शुकदेव आदि के विषय में भी हो सकती है। इसलिए श्री तिवाड़ी यदि एक से अधिक पराशर, वेदव्यास और शुकदेव की स्थिति का अनुसंधान करते हैं तो यह हमारी परम्परागत मान्यता के अनुरूप ही है।

समग्रतः "वेदव्यास महर्षि पराशर" पुस्तक अत्यन्त शोधपूर्ण और जिज्ञासा जगाने वाली है। मेरा विश्वास है कि यह ग्रंथ पराशर वंशज पारीकों के साथ-साथ अन्य सभी के लिए प्रेरणाप्रद और हितकारी सिद्ध होगा। श्री तिवाड़ी 'उमङ्ग' को एक बार पुनः साधुवाद और शुभाशीष।

– रामकुमार त्रिपाठी

श्री विश्वेश्वर आश्रम,
अकबरपुर, अम्बेडकरनगर, उ०प्र०

पं. दुर्गालाल बाढ़दार
पूर्व सदस्य, राजस्थान विधानसभा
एवं
पूर्व सदस्य, राजस्व मण्डल, राजस्थान

उपोद्धात

प्रागैतिहासिक महानुभावों के जीवन-चरित्र का आधार मुख्यतया वेद तथा पुराण रहे हैं। किन्तु इन पुराणों की भाषा नाना प्रकार के रूपकों, उपमाओं तथा अलंकारों से आच्छन्न होने के कारण जब तक इनके प्रयुक्त शब्दों का वास्तविक अभिप्राय नहीं समझा जाये तब तक उनका समझना बड़ा कठिन होता है।

किसी भी शब्द का अर्थ करने के लिए हमारे व्याकरणकारों ने कुछ मार्ग बताये हैं, जिन्हें अभिधा, लक्षणा और व्यंजना नाम से जाना जाता है। किसी भी शब्द का सीधा अर्थ अभिधा होता है, किसी शब्द द्वारा यदि किसी वस्तु का लक्षण प्रकट होता है, तो उस लक्षण विशेष से किसी वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना लक्षणा है और व्यंग्य रूप से यदि विलोम अथवा उपलक्षित अर्थ निकलता हो तो वह व्यंजना है। इन्हें 'शब्द-शक्ति' कहा जाता है। इन शक्तियों के आधार पर पौराणिक भाषा का यदि वास्तविक स्वरूप समझा जाये तो ही सही अर्थ हो सकता है।

अंग्रेजी शिक्षा के व्यापक प्रसार और प्रभाव के कारण भारत का अधिकांश शिक्षित वर्ग भी वास्तविक मर्म समझे बिना प्राचीन पौराणिक साहित्य के प्रति आस्थाविहीन होता जा रहा है और योग-सिद्ध ऋषियों के दीर्घकालीन जीवन को असम्भव और अस्वाभाविक मानने लगा है। कतिपय पाश्चात्य विद्वानों के मिथ्या तथा भ्रामक लेखों ने भी हमारे भारत-वासियों के मस्तिष्क को दुष्प्रभावित किया है।

पुराणों के आधार पर सृष्टि का चित्रण इस प्रकार मिलता है - क्षीर सागर पर शेष शैया पर भगवान विष्णु शयन कर रहे हैं। भगवती लक्ष्मी उनके चरण दबा रही हैं। नारद खड़े प्रार्थना कर रहे हैं। विष्णु की नाभि से एक कमल उत्पन्न होता है और उस कमल से चतुर्मुख ब्रह्मा। यह ब्रह्मा ही इस

सारी सृष्टि का निर्माण करते हैं, जिनमें स्थावर, जंगम और सारे लोक नक्षत्र आदि हैं।

मैं इस सृष्टि-उत्पत्ति के चित्र की वैज्ञानिक व्याख्या समझने के अभिप्राय से एक और उदाहरण देता हूँ। साहित्यिक भाषा में नारियों के सौन्दर्य, प्रकृति और गुणों को जिस प्रकार आलंकारिक भाषा में प्रदर्शित किया जाता है, यदि उन अलंकारों के आधार पर कोई चित्र बनाया जाये तो बिना यथार्थ को समझे बनाया गया चित्र मात्र एक मजाक ही समझा जायेगा। उदाहरण के लिए एक पद्मिनी स्त्री के सौन्दर्य और गुणों को प्रकट करने के लिए कोई चित्रकार काव्यगत उपमाओं के आधार पर उसका चित्र बनाये तो एक कमल के स्वरूप में नारी का चित्रण करेगा, इसी प्रकार, गजगामिनी प्रदर्शित करने के लिए पाँव की जगह हाथी, पतली कमर दिखाने के लिए सिंह और चंचल नेत्र वाली मृगनैनी दिखाने के लिए मृग बना दे तो इस चित्र का अभिप्राय समझे बिना मूर्खता ही सिद्ध होगी।

इन सारी शंकाओं का समाधान करने की दृष्टि से महा महोपाध्याय पं. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, (जो संस्कृत कालेज, जयपुर के प्राचार्य भी थे और विद्वत् शिरोमणि मधुसूदन जी ओझा, जिन्होंने वेदों को विज्ञानमय सिद्ध किया है, के शिष्य थे) ने अपने लेख "पुराणों का क्रम और सृष्टि विद्या का निरूपण" जो कल्याण के विशेषांक "पुराण कथांक" १९८९ में प्रकाशित हुआ था, में पुराणों की भाषा का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है।

उनके मतानुसार प्रसिद्ध अठारह पुराण क्रमबद्ध रूप से सृष्टि विद्या का निरूपण करते हैं ओर इस क्रम में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। पुराणों का क्रम इस प्रकार है (१) ब्राह्म (२) पाद्म (३) वैष्णव (४) वायव्य (५) भागवत् (६) नारद (७) मार्कण्डेय (८) आग्नेय (९) भविष्य (१०) ब्रह्म वैवर्त (११) लैंग (१२) वाराह (१३) स्कान्द (१४) वामन (१५) कौर्म (१६) मात्स्य (१७) गारुड़, और (१८) ब्रह्माण्ड।

अभिप्राय यह है कि ये पुराण-साहित्य सृष्टि-विद्या का ब्रह्म से प्रारंभ कर समाप्ति ब्रह्माण्ड से करते हैं।

अब सृष्टि की उत्पत्ति के उपरोक्त वर्णन की व्याख्या वैज्ञानिक रूप से करते हुए प्रथम पुराण 'ब्रह्म' स्थावर जंगम विश्व के निर्माता को समझाता है। ब्रह्मा का उद्गम जिस स्थान से होता है, उसे दूसरा पद्म पुराण समझाता है और पद्म के उद्गम स्थान विष्णु को तीसरा पुराण वैष्णव पुराण। उनके शयन-स्थान शेष को वायु पुराण समझाता है, वायु पुराण को शिव पुराण भी कहते हैं। शेष के भी आधार क्षीर सागर को सारस्वत कहते हैं। अर्थात् (सरस्वत इदं सारस्वतम्)। अब रहे नारद वह छठा पुराण है। इस प्रकार

यह पहले छह पुराण सृष्टि के चित्र की विस्तृत रूप से व्याख्या करते हैं। अब शंका यह होती है कि एक छोटे से कमल से चार मुँह वाला ब्रह्मा कैसे पैदा हुआ? इसे पद्म पुराण सृष्टि खण्ड में स्पष्ट करता है, जिसके अनुसार पृथ्वी को ही पद्म कहते हैं-

"तच्च पद्मं पुरा भूतं पृथिवीरूपमुत्तमम्।
यत्पद्मं सा रसा देवी पृथिवी परिचक्ष्यते॥"

यह रूपक पद्म रसा या पृथ्वी है और पद्म को समझने के पश्चात् यह भी समझ में आ जायेगा कि पृथ्वी पर अभिव्यास यह आग्नेय पुराण ही ब्रह्मा है जो चतुर्मुख अर्थात् चारों ओर फैला हुआ है।

अन्तरिक्ष का चन्द्रमण्डलस्थ सौम्य प्राण से मिलकर सब प्रकार की सृष्टि करता है। जिसकी नाभि से कमल निकलता है, वह विष्णु प्रत्यक्ष देव सूर्यनारायण है। वैज्ञानिक भाषा में नाभि केन्द्र को कहते हैं और सूर्यमण्डल के केन्द्र से पृथ्वी का प्रादुर्भाव होकर वे इस मण्डल से अलग हो गई और द्वादश आदित्यों में अन्तिम आदित्य का नाम विष्णु है "यज्ञो वै विष्णुः" विष्णु यज्ञ स्वरूप हैं और आदान-प्रदान रूप यज्ञ के बिना किसी भी मण्डल की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

यह सारे ग्रह नक्षत्र आदि मण्डलाकार हैं। जहाँ तक इस त्रिलोकी का प्रश्न है वह है पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्यु (सूर्यमण्डल) अथवा दूसरे शब्दों में भूः, भुवः, स्वः। सूर्यमण्डल से आगे जो अन्तरिक्ष महः है, वह वायु प्रधान होने के कारण विष्णु का शयन-स्थान 'शेष शय्या' है। हमारे अन्तरिक्ष की वायु उपद्रावक भी है, किन्तु यह दूसरे अन्तरिक्ष महः की वायु विशुद्ध कल्याणप्रद है। इसलिए इसे शिव भी कहते हैं अतः वायु पुराण का शिव पुराण होना सिद्ध है और पुराणों में इसे वायुभक्षी सर्पों के ईश्वर 'शेष' के रूप में वायु पुराण में दर्शाया गया है। यह भी जिसके आधार पर प्रतिष्ठित है वह सोम प्रधान 'आपो मण्डल' क्षीर सागर - परमेष्टि मण्डल या जनः लोक है और उसके समीप स्थित तपः लोक है और नारद 'सत्यम्' हैं। जनः लोक या परमेष्टि मण्डल आपोमय है और अप नर के पुत्र होने के कारण नार कहे गये हैं और नार को देने वाला नारद है - **नारं ददातीति नारदः।**

ब्रह्मा और नारायण दोनों नाम समान हैं, इस प्रकार आदि मण्डल से आगे-आगे जितने भी मण्डल हैं और उन मण्डलों में जितनी शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं, वे आदि मण्डल की शक्ति से भिन्न नहीं हैं अर्थात् आदि मण्डल का देव ही अद्वैत रूप से एक है। पुराणों में नाम पृथक्-पृथक् रखा

गया है। अद्वैत सबको इष्ट है, अतः **एकमूर्तिस्त्रयो देवा ब्रह्माविष्णुमहेश्वराः।**

सृष्टि के मूल तत्त्व के विषय में प्राचीन आचार्यों के तीन प्रकार के मत मिलते हैं। कोई प्रकृति को मूल तत्त्व कहता है, उनका वह ''प्राकृतवाद'' मार्कण्डेय पुराण में प्रदर्शित हुआ है। कोई आग्नेय प्राण को मूल तत्त्व मानता है यह मत अष्टम् अग्नि पुराण में बताया गया है। कोई आचार्य सौर प्राण को मूल तत्त्व बताते हैं, उनका मत भविष्य पुराण में बताया गया है, किन्तु भगवान व्यास ने ब्रह्म वैवर्त पुराण द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि यह सब ब्रह्म का विवर्त है अर्थात् मूल तत्त्व ब्रह्म है और अन्यथा भाव ही सृष्टि है और आगे के ग्यारहवें पुराण से लेकर सोलहवें पुराण तक अवतार प्रतिपादक हैं और सृष्टि-प्रक्रिया में जिन अवतारों का उपयोग हुआ है उसी के अनुसार उन पुराणों का नाम रखा गया है। इस सृष्टि-क्रम में घूमनेवाले जीव की किस किस कर्म से क्या गति होती है यह गरुड़ पुराण में बताया गया है और इस गति का आयतन अथवा सीमा कितनी है यह ब्रह्माण्ड पुराण में स्पष्ट किया गया है। इस प्रकार यह अठारह पुराण सृष्टि विधान को प्रदर्शित करने वाले हैं।

श्री चतुर्वेदी जी की वैज्ञानिक व्याख्या को यहाँ व्यक्त करने का मेरा आशय मात्र यह है कि पाश्चात्य विद्वानों के कतिपय भ्रामक और मिथ्या कथनों तथा पाश्चात्य शिक्षा के दुष्प्रभाव और मिशनरियों के भ्रामक प्रचार के कारण भारत के ज्ञानियों के मन में भी जो भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई हैं, उनका निराकरण हो सके और हम पुराणों के वैज्ञानिक स्वरूप को समझ कर इन पुराणों में उल्लिखित कथनों को मिथ्या कहने की भूल का सुधार कर सकें।

श्री रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी (उमंग) ने अपनी पुस्तक **वेदव्यास महर्षि पराशर** में वैदिक ऋचाओं और प्रायः सभी पुराणों के सम्बद्ध उद्धरणों को साक्ष्य-रूप में एकत्रित कर बड़ा ही श्रमसाध्य कार्य किया है। श्री उमंग का यह कार्य प्रशंसनीय है। श्री उमंग का जन्म खण्डेला में हुआ था। वहीं इनकी प्रारंभिक शिक्षा का काल रहा। इनके पिता स्व. श्री मदनलालजी तिवाड़ी खण्डेला से आकर सर्वप्रथम जयपुर नगर की चौकड़ी पुरानी बस्ती में रहने लगे थे। वे बड़े मृदुल स्वभाव और व्यवहार कुशल थे। मेरा भी जन्म, शिक्षा और अधिकांश कार्यकाल चौकड़ी पुरानी बस्ती ही रहा है। श्री मदनलालजी के मृदुल व्यवहार ने मुझे बड़ा प्रभावित किया है और उनसे मेरी घनिष्ठता रही है। इस कारण, श्री उमंग को मैं उनके विद्यार्थी जीवन से जानता हूँ। प्रारंभ से ही इनकी रुचि सामाजिक गतिविधियों में भाग लेने

की रही है। कालान्तर में वकालत का व्यवसाय अपनाने के उपरान्त भी पारीक समाज के गोत्र, कुल देवियाँ तथा इस समाज में उत्पन्न सन्तों आदि का उल्लेख करते हुये अनेक पुस्तकें लिखी हैं। श्री उमंग प्रकाशन के पूर्व अपनी सभी पुस्तकों का अवलोकन करने का मुझे अवसर देते रहे हैं, यह उनका मेरे प्रति स्नेह का प्रतीक है। इस विशद पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व अवलोकन का अवसर श्री उमंग ने मुझे दिया है इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। इस पुस्तक में महर्षि वसिष्ठ, पराशर आदि महर्षियों के कृत्यों पर वृहद रूप से प्रकाश डाला है। ब्रह्मा के मानस पुत्र महर्षि वसिष्ठ का शापवश देह त्याग कर मित्र-वरुण के तेज से उर्वशी अप्सरा के संसर्ग से जन्म हुआ, जिनके अरुन्धती नाम की पत्नी से सौ पुत्र हुए और राक्षस द्वारा मार दिये गए। उनके एक पुत्र शक्ति की विधवा, जो गर्भवती थी, उससे पराशर का जन्म हुआ। इस कथा को श्री उमंग ने अपने इस ग्रन्थ में बड़े विस्तार के साथ लिखा है। उनके मत के अनुसार वसिष्ठ पराशर त्रेता युग के पुरुष हैं और कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास द्वापर युग के; कलियुग के प्रादुर्भाव तक जिनका विवरण मिलता है। दोनों में लाखों वर्षों का अन्तर है। वेदव्यास पूर्व में भी अनेक हो चुके हैं।

ऐसी सूरत में पराशर पुत्र कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के पिता वसिष्ठ पौत्र पराशर न होकर कोई अन्य पराशर रहे होंगे, क्योंकि एक व्यक्ति का जीवन काल लाखों वर्षों तक चलना असम्भव और अविश्वसनीय है। श्री उमंग के मतानुसार मैत्रावरुणि महर्षि वसिष्ठ के कई पुत्र मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। उनके पुत्र शक्ति की गर्भवती स्त्री से पराशर शाक्त्य और गौरवीति शाक्त्य दो पुत्र उत्पन्न हुए। अन्य पौत्र वसुक्र के वसुक्रद् और वसुकर्ण दो पुत्र उत्पन्न हुए और इन्हीं चार मन्त्रद्रष्टा पौत्रों से आगे पीढ़ियाँ चलीं। प्रायः प्रत्येक विशिष्ट समाज या जाति का उद्‌भव किसी न किसी ऋषि से सम्बद्ध रहा है। अतीत से चली मान्यता एवं परम्परा से पारीक महर्षि पराशर के वंशज माने जाते रहे हैं। पराशर के वंशज पारीक शब्द की उत्पत्ति के विषय में व्याकरण के मत के अनुसार पराशर शब्द से पाराशरिक शब्द बनना मानते हैं और इसी पाराशरिक का तद्‌भव रूप पारीक बना। श्री उमंग पारीक शब्द की ग्राह्यता के लिए कई अन्य आधार भी मानते हैं। अन्य आधारों में मुण्डकोपनिषद, पारीक शब्द की निष्पत्ति के लिए पारीक्ष ब्राह्मणोत्पत्ति, पारीक्ष संहिता आदि कई ग्रन्थों का आधार उल्लेखनीय है। उन्होंने अपने कथन को युक्तियुक्त और तर्कसंगत ढंग से सिद्ध किया है। उनके इस प्रयास की मैं भूरि-भूरि प्रशंसा करता हूँ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रंथ हमारे समाज के बन्धुओं में नवीन स्फूर्ति प्रदान करेगा और यह समाज अपने पूर्वज महर्षियों के प्रभाव से गौरवान्वित अनुभव करेगा और अतीत के महान आदर्शों की ओर अग्रसर होगा।

वेदों को श्रुति भी कहते हैं। सर्वमान्य मान्यता के अनुसार वेदों के निर्माता कोई मनुष्य न होकर स्वयं ब्रह्मा हैं और ऋषि केवल उस अलौकिक ज्ञान का दर्शन करते हैं। दर्शन से मेरा अभिप्राय दो प्रकार से है – एक दर्शन वह जो हम अपनी भौतिक दृष्टि से करते हैं और उस दर्शन के आधार पर अनुभूति प्रकट करते हैं। जिस वस्तु का हम दर्शन करते हैं, उस वस्तु के निर्माता हम भौतिक दृष्टि वाले नहीं हो सकते। इसी प्रकार हमारी सूक्ष्म दृष्टि ही अन्तर्दृष्टि या दिव्य दृष्टि है। जिस ज्योति की प्रकाश-किरण का हमें साक्षात्कार होता है, उस दिव्य किरण के स्रष्टा हम नहीं हो सकते। वह दिव्य शक्ति ब्रह्म की ही दिव्य शक्ति है। द्रष्टा-स्रष्टा भिन्न-भिन्न हैं। इन विचारधाराओं की विषमता के कारण ही भिन्न-भिन्न मतों का जो प्रादुर्भाव हुआ है, उनमें द्वैतवाद, अद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद आदि प्रमुख हैं। यदि हम इन सबको समन्वयात्मक दृष्टिकोण से देखें तो यह सब एक ही विविधरूपा शक्ति का विस्तार है।

वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन को पराशर की सन्तान मानने सम्बन्धी एक मत के अनुसार पराशर कोई अन्य व्यक्ति न होकर वसिष्ठ-पौत्र पराशर हैं। उनकी मान्यता के अनुसार पराशर एक सिद्ध पुरुष शक्ति से उत्पन्न हुये हैं और गर्भावस्था में ही उन्होंने वेद-वेदांगों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यही कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के लिए भी कहा जाता है। इसी आधार पर उनका मत यह कहता है कि शक्ति-पुत्र पराशर जैसा व्यक्ति ही कृष्ण द्वैपायन के रूप में अपनी शक्ति का संचार कर सकता है। अन्य पराशर का उल्लेख अन्यत्र नहीं मिलता। उनका यह भी मानना है कि योगसिद्ध व्यक्तियों के लिये काल का कोई महत्व नहीं होता।

मैंने ये दोनों मत केवल इस अभिप्राय से व्यक्त किये हैं, जिससे ज्ञात हो सके कि कौन-सा मत अधिक तर्कसम्मत है और सर्वग्राह्य है।

किसी भी मत की प्रासंगिकता में उसके पक्ष में दिये गये तर्क तथा साक्ष्य ही महत्वपूर्ण आधार माने जाते हैं। प्रागैतिहासिक महान व्यक्तियों के जीवन पर प्रकाश डालने के लिए जो भी सामग्री उपलब्ध है, उसमें महत्वपूर्ण वेद और पुराण ही माने जाते हैं। मेरी दृष्टि में अब तक जो भी विभिन्न महानुभावों के लेख पढ़ने में आये, उनमें किसी में भी मुझे इतनी प्रामाणिक सामग्री नहीं मिली, जितनी श्री उमंग ने अपनी इस पुस्तक में उपलब्ध कराई

है। प्रायः सारे ही पुराणों तथा वैदिक ऋचाओं का आधार लेकर यह पुस्तक लिखी गई है। अतः श्री उमंग द्वारा दिये गये तर्क महत्पूर्ण और विश्वसनीय हैं।

निस्सन्देह, यह पुस्तक भावी पीढ़ी के लिये विशेष अनुसन्धान का मार्ग प्रशस्त करेगी और प्रेरणा स्रोत सिद्ध होगी। मैं उनके स्वस्थ एवं सुदीर्घ जीवन की कामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि वे इसी प्रकार अध्ययन एवं अध्यवसाय में संलग्न रहकर उत्तरोत्तर सत्साहित्य की श्रीवृद्धि करते हुए समाज का मार्गदर्शन करते रहेंगे।

- दुर्गालाल बाढ़दार

बी-18 एफ, टोडरमल मार्ग,
बनीपार्क, जयपुर

डॉ. बृजमोहन जावलिया
विख्यात इतिहासज्ञ, पुरातत्त्वविद्
एवं पाण्डुलिपि-पुरालेख विशेषज्ञ
उदयपुर (राजस्थान)

वेद में वैदिक एवं पौराणिक ऋषि

वेद परब्रह्म परमात्मा के द्वारा आदि सृष्टि में जीवों के कल्याण के लिये ऋषियों के हृदयों में प्रकाशित सम्पूर्ण सत्य विद्याओं और पदार्थ विद्याओं से युक्त ज्ञान है, जिसके आश्रय से ही ऋषि-मुनि और महात्मा श्वास-प्रश्वास लेते रहे हैं। उसके ही आधार पर ऋषि-मुनियों ने वेदाश्रित आर्य संस्कृति की आधार शिला रखी थी। प्रभु की इस वाणी को ये ऋषिगण श्रुति परम्परा से पीढ़ी दर पीढ़ी सुरक्षित रखते हुए बढ़ाते रहे हैं। वेद विषय पुस्तकों में हर सूक्त या अध्याय के प्रारम्भ में ही उन सूक्तों के छंद और देवता के साथ ऋषि के नाम का निर्देश भी लिखा मिलता है। वेद और वैदिक साहित्य में इन ऋषियों को मंत्रद्रष्टा की संज्ञा दी गयी है। ऋषि का अर्थ है मंत्र के अर्थदर्शन की या तर्क की शक्ति। ऋषि का तात्पर्य है उनका अपने क्षेत्र में पूर्ण तर्कनामय ज्ञान शक्ति सम्पन्न होना। कोई भी मंत्र ऐसा नहीं है जिसका कोई ऋषि न हो। अत: ऋषि के ज्ञान के बिना वेद का रहस्य प्रकट नहीं होता। जिन ज्ञानवान्, तर्क-शक्ति प्रधान, मानव ऋषियों ने उन मंत्रों में निहित आशय को या रहस्यों को जिस विचारधारा से विचारा या साक्षात्कार किया उनका आर्षत्व भी उसी नाम से विख्यात हुआ। वेदों के मंत्रद्रष्टा ऋषियों के नाम हमें वेद संहिताओं में मिलते हैं। समय-समय पर विलुप्त होती वेद विद्या के उद्धारक ऋषियों की नामावली भी हमें ब्राह्मण ग्रन्थों[१], उपनिषदों[२], महाभारत और पुराणों में मिलती हैं। वैदिक संहिताओं में ही लगभग पाँच सौ ऋषि और तीस ऋषिकाओं के नाम हमें प्राप्त होते हैं।[३]

ऋषियों की इस परम्परा में वेदों का संपादन या वर्गीकरण करने वाले विद्वानों को भी स्थान दिया गया है - जिन्हें वेदव्यास की संज्ञा दी गयी है। वेद-

१. शतपथ ब्राह्मण - मधु विद्या प्रसंग
२. वृहद्वारण्यक उपनिषद् - ४/६/१-३.
३. नरदेव शास्त्री - वेदतीर्थ - वैदिक ऋषि शीर्षक नामावली - दिवाकर-
वेदांक - पृ. २-३.

व्यास उपाधिधारी इन ऋषियों की संख्या अट्ठाईस[१] या तीस[२] बताई गई है। कई पुराणों में व्यासों के नामों में अन्तर मिलता है। इनमें से कतिपय एक दूसरे के पर्याय नाम ही हैं। इनके नाम इस प्रकार हैं :-

स्वयंभू (ब्रह्मा), प्रजापति (मातरिश्वा, मनु), उशना (शुक्र), वृहस्पति, सवितृ (विवस्वान्), मृत्यु (यम), इन्द्र, वशिष्ठ, सारस्वत (अयान्तरतमा), त्रिधामन्, त्रिवृषन्, सुतेजा या भारद्वाज, अंतरिक्ष, धर्म, सुचक्षु, त्र्यारुणि, धनञ्जय, कृतञ्जय, ऋतञ्जय, भरद्वाज, गौतम, उत्तम (हर्यात्मा), वाजश्रवा (वेण) सोम मुख्यायन या तृणविन्दु, ऋक्ष (वाल्मीकि), शक्ति; पराशर, जातुकर्ण और कृष्ण द्वैपायन।

व्यास उपाधिधारी इन ऋषियों में ऋग्वेद् में उल्लिखित मंत्रद्रष्टा ऋषि वसिष्ठ, शक्ति, पराशर के नाम भी परिगणित किये गये हैं। आदि वसिष्ठ की स्थिति स्वायंभुव मन्वन्तर में बतायी गई है। इन्हीं के वंश में चाक्षुष मन्वन्तर के अंत में द्वितीय वसिष्ठ मैत्रावरुण नाम से प्रसिद्ध बताये गये हैं। इनकी मैत्रावरुणी संज्ञा-धारण करने के पीछे मान्यता है कि मित्रावरुण ने इन्हें उर्वशी से अपने मानस पुत्र के रूप में उत्पन्न किया था, इसी से वे मैत्रावरुणि नाम से प्रसिद्ध हुए।[३] ये प्राय: वरुण के पुत्र कहे जाते हैं। ऋग्वेद के ७ वें मण्डल की अनेक ऋचाओं में वसिष्ठ के जन्म की सूचना मिलती है। वसिष्ठ के जन्म के विषय में बृहद्देवता में उल्लेख है कि प्रजापति वरुण के यज्ञ में अदिति पुत्रों मित्र और वरुण का उर्वशी अप्सरा के रूप सौन्दर्य को देखकर कुंभ में वीर्य का स्खलन हो गया और उसी से वीर्यवान् वसिष्ठ और अगस्त्य का जन्म हुआ।[४] ऋग्वेद में भी यही बात कही गई है।[५]

अथर्ववेद के मंत्रों के आशय का उद्घाटक होने के कारण वसिष्ठ को आथर्वण भी कहा गया है। वे मंत्रद्रष्टा ऋषि थे। ऋग्वेद के सप्तम मंडल के सभी सूक्तों के ऋषि के रूप में उन्हीं का नाम मिलता है। सूक्त ३२-३३ में उनके पुत्र

---

१. विष्णु पुराण, अंश ३, अध्याय १-२.

२. आर्ष यज्ञ विद्या - डॉ. कुंवरलाल व्यास शिष्य, प्रथम अध्याय, पृ.१.

३. उत असि मैत्रावरुण: वसिष्ठ: उर्वश्या ब्रह्मन् मनस: अधिजात:। ऋग्वेद ७/३३/११.

४.(क) तयोरादित्यो: सत्रे दृष्ट्वा अप्सरसमुर्वशीम्।
रेतश्च स्कन्द तत्कुंभे न्यपतद्वासतीवरे।
तेनैव तु मुहुर्ते वीर्यवन्तौ तपस्विनौ
अगस्त्यश्च वसिष्ठश्च तत्रर्षी संबभूवतु॥ (बृहद्देवता - ५/१४९-५०).

(ख) तत्ते जन्म उत एकम वसिष्ठ: अगस्त्य: यत् त्वा विश: आजभार:।
(ऋ.७/३३/१०)

५. उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोअधिजात:॥

शक्ति का नाम भी उनके साथ आया है। महर्षि दयानन्द ने सरस्वती सूक्त ३२ वें की २६ वीं ऋचा के प्रथम पाद के ऋषि 'वसिष्ठः शक्तिर्वा' बताये हैं। सूक्त ३२ की १४ ऋचाएँ ऐसी हैं, जिनमें वसिष्ठ और उनके परिवार की प्रशंसा की गई है। सामवेद में भी बहुत से अंशों के द्रष्टा वसिष्ठ ऋषि ही हैं। वसिष्ठ ऋषि द्वारा दृष्ट ऋग्वेद की ऋचाओं के अंत में प्रायः "यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः" पद का प्रयोग किया गया है। अनेक ऋचाओं में उनके नाम की छाप अंकित मिलती है - यथा "नु त्वाम् अग्ने ईमहे वसिष्ठाः ईशानम् सूनो सहसः वसूनाम्॥"

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के सूक्त ६५ से ७३ तक के ऋषि शक्ति-पुत्र पराशर हैं। इसके सप्तम मण्डल के सूक्त २८ की ऋचा २१ में वसिष्ठ से पूर्व पराशर और शतयातु (शक्ति), के नामों का उल्लेख हुआ है। यथा - " प्रये गृहात् अमददुः त्वाया पराशरः शतयातुः वसिष्ठः"। यहाँ शतयातु संभवतः शक्ति का ही अपर नाम है। इसी ऋचा में इनके नामों के एक साथ आने से ही इनमें पितामह, पिता और पौत्र का संबंध स्थापित किया लगता है।

वैदिक साहित्य के संबंध में ऋषि शब्द का अर्थ प्राण है- ऋषति गच्छतीति गतिशीलो भवतीति ऋषि। समस्त सृष्टि में गतिशील होकर ओत-प्रोत होने से यह जगत् का प्राण है। वैदिक मंत्रों में इसका प्रयोग मंत्र के देवता में निहित आशय (तत्त्व) से है। देहस्थ स्थूल द्वारों पर भी ये ऋषि विराजमान हैं। पर जहाँ तक उर्वशी से उत्पन्न मैत्रावरुणी ऋषि वसिष्ठ का सम्बन्ध है - यह जल विद्या विज्ञान के रहस्य को उद्घाटित करने वाला तत्त्व प्रतीत होता है। मित्र, वरुण, उर्वशी (अप्सरा), अगस्त्य आदि सभी इसी विज्ञांन से सम्बन्ध रखने वाले तत्त्व हैं। मित्र और वरुण दो अलग तत्त्व हैं। ऋग्वेद में ही वायुसूक्त (१/२/७) में मित्र को पूत दक्ष और वरुण को ऋषा (रिशा) दस कहा है - यथा

मित्रं हुवे पूतदक्षं, वरुणं च रिशादक्षं, धियं धृताचीं साधन्ता।

पूतदक्ष से तात्पर्य है शक्ति सम्पन्न वायु और रिशादस का अर्थ है रिश (Rust जंग) को लगाने वाली या वस्तुओं का स्वरूप बिगाड़ने वाली वायु अर्थात् आज की वैज्ञानिक भाषा में हाइड्रोजन और ऑक्सीजन। उर्वशी अप्सरा है। अप्सरा का अर्थ है बिजली - 'अप्सु सरति इति अप्सरा' (अमरकोश - क्षीर स्वामी टीका - १/१/११) अर्थात् जल के आश्रय से जिसका संचार होता है। यजुर्वेद ५/२ में पुरुरवा उर्वशी प्रसंग में इन पुरुरवा और उर्वशी दोनों तत्त्वों को अग्नि (विद्युत शक्ति की दीप्त तरंग) कहा गया है। उर्वशी का अर्थ उरु वशे यस्या (जिसके अधीन सब कुछ और 'उरु बहु अश्नुते'), जो बहुत अधिक भक्षण करती है, किया गया है। अतः उर्वशी नाम की मेघों में स्थित विद्युत तरंगों

के संघात् से मित्र और वरुण (उद्‌जन और ओषजन) के परमाणुओं के स्खलन से उत्पन्न पुत्रों वसिष्ठ और अगस्त्य का आलंकारिक वर्णन वेदों में किया गया है। वाजसनेयी संहिता २/१६ तथा शतपथ ब्राह्मण १/८/३/१२ में मित्रावरुणौ त्वा वृष्टयाऽवताम् (मित्र और वरुण मिलकर जल उत्पन्न करें और अथर्व वेद (५/२४/५) में मित्रावरुणौ वृष्टयाधिपती तौ भावतां (मित्र और वरुण दोनों वृष्टि के अधिपति हैं) से मित्र और वरुण के द्वारा उर्वशी से वसिष्ठ को जन्म देने का अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यजुर्वेद में भी विद्युत शक्ति के साथ मित्र और वरुण तत्त्वों के परस्पर संयोग से जल तत्त्व के सिंचन के रहस्य को प्रकट किया गया है। वेद में इस प्रकार के शब्दों को देखकर ही विद्वानों ने इन्हें ऐतिहासिक पात्र मान लिया था। स्वयं यास्क ने भी वेद में इतिहास की बात कह कर इन विद्वानों के लिये मार्ग खोल दिया था। इसी से वेदों में इतिहास विषयक भ्रम हुआ है।

वेदों में ऐसे शब्दों को देख कर ही विद्वान् मनीषियों ने इन शब्दों का इतिहास पुराणादि में आये ऐतिहासिक व्यक्तियों के व्यक्तित्व के साथ बैठाकर उनसे संबंधित सर्वथा नये ही इतिहास की संरचना कर डाली थी, जिनमें प्रकृति विरुद्ध कई एक चमत्कारिक घटनाओं का समावेश भी हो गया है।

वास्तव में वैदिक युग में वेदों में आये शब्दों के आधार पर ही व्यक्ति-नाम रखने की परम्परा थी। इस प्रकार उस काल के राजाओं और ऋषियों के वैदिक नामों से साम्य के कारण उनके विषय में भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो गई है।

पुराणों के अध्ययन से ऐसा आभास होने लगता है कि वसिष्ठ नामधारी एक ही व्यक्ति वेदों का रचयिता रहा होगा - वही सत्यवादी हरिश्चन्द के काल में और दाशरथी राम के काल में इक्ष्वाकु वंश का कुल पुरोहित रहा होगा। हजारों वर्षों के अन्तराल में एक ही व्यक्ति के द्वारा इन सभी कालों में विद्यमान रहना असम्भव है। यदि हम इसे स्वीकार करते हैं तो हमें पाश्चात्य वैचारिकों का समर्थन करते हुए वेदों की रचना का काल आज से ५-७ हजार वर्ष पूर्व स्वीकारना पड़ेगा।

वास्तव में वसिष्ठ या वासिष्ठ गोत्र नाम था। वसिष्ठ गोत्र में उत्पन्न हर व्यक्ति स्वयं वसिष्ठ या वासिष्ठ कहलाने का अधिकारी बन जाता है। पराशर, भरद्वाज, गौतम आदि गोत्रों की भी यही स्थिति है। पुराणों में इनके काल के विषय में बहुत घपला हुआ है।

यही स्थिति शक्ति की भी है, जो वसिष्ठ द्वितीय के पुत्र थे और शक्ति-पुत्र पराशर की भी यही स्थिति है। ये दोनों कृष्ण द्वैपायन व्यास से चालीस

पचास पीढ़ी पूर्व ऐक्ष्वाकुवंशीय राजा कल्माषपाद के समकालीन थे। कल्माषपाद अयोध्या के राजा दशरथ से लगभग दस पीढ़ी पूर्व हुए माने जाते हैं, ऐसी स्थिति में भी क्या आद्य पराशर कृष्ण द्वैपायन व्यास के पिता के रूप में स्वीकार किये जा सकते हैं। कृष्ण द्वैपायन व्यास वेदव्यासों की परम्परा में अन्तिम २८ वें व्यास माने जाते हैं। महाभारत कालीन वेदव्यास से उनका नाम साम्य है। पर एक के पिता का नाम द्विप कहा है तो दूसरे का जन्म यमुना के मध्य स्थित द्वीप में होने से उनकी द्वैपायन संज्ञा हुई कही जाती है।

हम इतना ही मान सकते हैं कि वेदव्यास भी पराशर गोत्रीय ब्राह्मण ऋषि थे और उनके तथाकथित पिता भी पराशर गोत्रीय ब्राह्मण। पराशर गोत्रज होने से ही द्विप और द्वैपायन दोनों ही पराशर, पाराशर या पाराशर्य थे। ब्राह्मण ग्रंथों में उस काल में विद्यमान अनेक पाराशर्यों का उल्लेख मिलता है। वृहदारण्यक उपनिषद (२/६/३) में चार पाराशर्यों का वर्णन मिलता है तो महाभारत में कृष्ण द्वैपायन से पूर्ववर्ती पंचशिख पाराशर्य के नाम का उल्लेख हुआ है। कृष्ण द्वैपायन के गुरु जातुकर्ण्य जिनसे उन्होंने वेद पढ़ा, भी पाराशर्य थे। इससे यही सिद्ध होता है कि प्राचीन काल में ऋषियों की प्रसिद्धि उनके गोत्र नाम से ही होती थी। गोत्र नाम के साथ उन ऋषियों के व्यक्ति नामों का या मूल नामों का उल्लेख नहीं किये जाने से पुराणों में एक ही गोत्र के अनेक व्यक्तियों को एक मान कर भी भ्रम उत्पन्न कर दिया गया है।

कृष्ण द्वैपायन व्यास भारतीय इतिहास के प्रधान पुरुष और वैदिक वाङ्मय के प्रमुख आचार्य थे। उनका उल्लेख शतपथ ब्राह्मण (पाराशर्यो जातुकर्ण्याद् १४/४/६/३), गोपथ ब्राह्मण (एतस्माद व्यासः पुरोवाच), तैत्तिरीयारण्यक (सहो वाच व्यासः पाराशर्यः ९/३५) एवं बोधायन गृह्य सूत्र जैसे अनेक वैदिक ग्रंथों में और महाभारत में मिलता है। वे समस्त वेदवेत्ताओं में श्रेष्ठ (सर्ववेदविदो श्रेष्ठो व्यासः सत्यवती सुतः, महाभारत शान्ति पर्व २/१) और अद्वितीय यज्ञवेत्ता या ऋत्विक थे – जिनके शिष्य सभी प्रकार के यज्ञों के सम्पादन में निपुण होकर पृथ्वी पर यज्ञकर्म के लिए निरन्तर विचरण करते रहते थे। पूर्व युगों में वेदवाङ्मय अस्त-व्यस्त हो रहा था। व्यास जी ने पुरातन वेद संहिताओं को प्राप्त कर उनका सार संकलित करते हुए उन्हें चार संहिताओं में व्यवस्थित कर वेदों का उद्धार किया। इसी से वे व्यास उपाधि से सुशोभित हुए। उनका जन्म शान्तनु के राज्यकाल में हुआ। उनके पिता द्विप पाराशर्य और माता राजा उपरिचर वसु की पुत्री सत्यवती थी। सत्यवती की कौमार्यावस्था में यमुना तट पर उनका जन्म होने से वे कानीन भी कहे गये। उनकी काया कृष्णवर्णी होने से कृष्ण नाम से

ख्यात हुए।

वेद व्यास के पुत्र शुकदेव थे। शुक के अतिरिक्त वेद व्यास जी के उपमन्यु और कपिञ्जल नाम के दो और भी पुत्र थे, ऐसा उल्लेख मिलता है। पुराणों के अनुसार, शुकदेव की पीवरी नामक पत्नी से आठ पुत्र और एक कृत्वी नाम की पुत्री का जन्म हुआ। कहीं-कहीं यह संख्या कम या अधिक भी बताई जाती है)। कृत्वी का विवाह काम्पिल्य देशाधिपति राज पृथु (विभ्राज) के पुत्र अणुह के साथ किया गया था, ऐसा उल्लेख हरिवंश पुराण में मिलता है, जिससे ब्रह्मदत्त नामक पुत्र का जन्म हुआ। शुकदेव के दौहित्र ब्रह्मदत्त को आठ या इससे अधिक पुत्रों का पिता होते हुए भी गोद ले लिया, जबकि यह उल्लेख भी मिलता है कि शुकदेव अपने पुत्रों को अपने पिता के पास छोड़कर तप करने के लिये वन में चले गये।

दूसरी ओर रामायण में उल्लेख मिलता है कि कीर्तिमती सोमदा कृत्वी गन्धर्व कन्या थी। उसने महर्षि चूली से विवाह किया। उसको ब्रह्मदत्त नाम के पुत्र की प्राप्ति हुई। महर्षि चूली सम्राट कुश के पुत्र कुशनाभ के समकालीन थे। ब्रह्मदत्त ने गंधर्व नगरी काम्पिल्य में प्रसिद्धि प्राप्त की और वहाँ का राज्य प्राप्त किया। ब्रह्मदत्त के कोई सन्तान नहीं थी। वृद्धावस्था में गाधि नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे पुत्र विहीन अनेक कन्याओं के पिता कुशाश्व पुत्र कुशिक ने गोद लिया। वही गाधि विश्वामित्र का पिता था, जो वसिष्ठ द्वितीय का समकालीन था।

हरिवंश पुराण से ज्ञात होता है कि कृत्वी जिससे ब्रह्मदत्त के दादा योगीराज विभ्राज का जन्म हुआ था, का पुत्र अणुह और उसका पुत्र ब्रह्मज्ञानी योगीराज ब्रह्मदत्त हुआ। उसके एक बालक पुत्र की आँख पूजनीया संज्ञक चिड़िया ने फोड़ दी थी (हरिवंश १/२०/११-१२)। कृत्वी का पिता शुक किसी प्रदेश का राजा था (हरिवंश १/२०/२७)। ब्रह्मदत्त का पुत्र विश्वकसेन पाराशर्य पाराशर्य व्यास का गुरु था। एक सौ आठ पुत्रों की प्राप्ति और उनसे पारीक ब्राह्मण जाति के एक सौ आठ अवटंकों की कल्पना। ये सभी धारणायें पुराणों द्वारा पैदा की गई उलझनों और रावों की कपोल कल्पना का परिणाम है। रामायण में काम्पिल्य राज चूलि और ब्रह्मदत्त का प्रसंग भी प्रक्षिप्त कहा गया है।

श्री तिवाड़ी ने वेद, उपनिषद्, पुराण आदि ग्रन्थों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि महाभारत कालीन पराशर, मैत्रावरुणि-वसिष्ठ पौत्र पराशर से भिन्न पराशर रहे हैं। इसी प्रकार शाक्त्य पराशर की जयन्ती शरद् पूर्णिमा के सम्बन्ध में जो ऐतिहासिक तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं, वे शास्त्रानुसार तथ्य सम्मत होने से स्वीकार्य हैं। इन्होंने महर्षि पराशर एवं उनके वंशज-पारीकों के सम्बन्ध

में शोधपूर्ण विवरण देकर बहुत ही स्तुत्य कार्य किया है। इस सन्दर्भ में मेरा यह मत भी विचारणीय है कि पारीक शब्द का उद्‌गम प्रादेशिक आधार पर भी पड़ा होना प्रतीत होता है, जैसा कि मैंने अपने पूर्व प्रकाशित लेख में 'पारसीक' शब्द से उद्‌गम का उल्लेख किया है। मेरा यह पूर्ण विश्वास है कि यह ग्रन्थ कतिपय अन्य सम्बद्ध विषयों पर भी अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करेगा।

आदरणीय श्री रघुनाथ प्रसाद जी तिवाड़ी ने वेद, वैदिक साहित्य, पुराण, रामायण, महाभारत आदि अनेक ग्रंथों का गहन मंथन कर पारीक ब्राह्मणें से सम्बन्धित वृहद्‌काय ग्रंथ 'वेदव्यास महर्षि पराशर' की संरचना करके श्लाघनीय कार्य किया है। उन्होंने महर्षि वसिष्ठ, शक्ति, पराशर तथा शुकदेव जैसे महर्षियों के काल और उनसे सम्बन्धित कथाओं पर वेद, उपनिषद्, पुराण आदि के अध्ययन द्वारा निष्पक्ष होकर अन्वेषण कार्य किया है। इन ग्रंथों में आये प्रकृति विरुद्ध जन्म आदि के विवरणों पर भी वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन प्रस्तुत करके गुत्थियों को सुलझाने का स्तुत्य प्रयास किया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि विद्वानों में इस रचना को प्रभूत समादर प्राप्त होगा। श्री तिवाड़ी जी इस पुण्य कार्य के लिए क़ोटिशः बधाइयों के पात्र हैं। मैं श्री तिवाड़ी जी की दीर्घायु एवं स्वस्थ व सुखी जीवन की कामना करता हूँ।

ऋषिभ्यः नमः।
परम् ऋषिभ्यः नमः।

– **बृजमोहन जावलिया**
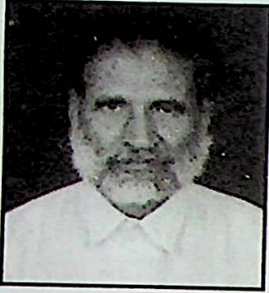
अनन्त शर्मा
निदेशक
गोदावरी आर्य कन्या शिक्षण समिति
ब्यावर

मङ्गल-कामना

आपकी प्रशस्त कृति 'वेदव्यास महर्षि पराशर' को आद्यन्त विहङ्गम दृष्टि से देखा, समयाभाववश कहीं कहीं इसका श्रवण भी अपनी धर्मपत्नी श्रीमती लतिका शर्मा के मुख से किया, जो इन्हें भी अतीव सुन्दर लगी तथा इनका उद्गार भी रहा कि उपाधि हेतु ग्रथित शोध प्रबन्धों में, कतिपय अपवादों को छोड़कर, आज यह बात कहाँ ?

वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, सूत्रग्रन्थ, इतिहास-पुराण, स्मृति आदि सभी वाङ्.मय विधाओं के अनेक ग्रन्थों के गाढ़ अनुशीलन की कठोर भूमि पर किये गये विचार-मन्थन की परिणति इस नवनीत '**वेदव्यास महर्षि पराशर**' के रूप में हुई है जो यथार्थतः स्पृहणीय है।

नामों की समता, चरितों की एकरूपता, प्राचीनों की ग्रथन शैली की विचित्रता आदि तो ऐतिह्य अनुसन्धान में पदे पदे गतिरोध हैं ही, लिपीकरण, प्रतिलिपीकरण, सम्पादन और मुद्रण दोष भी कम विरक्ति नहीं करते हैं। एक अभिभाषक के लिए स्व-विषयक ग्रन्थसन्दोह का दैनिक दोहन अनिवार्य तो है ही बहु समय सापेक्ष भी है, पारिवारिक तथा सामाजिक कृत्य भी निर्वाह की अपेक्षा रखते ही हैं। इस प्रातिकूल्य चक्रव्यूह का भेदन जहां श्री उमङ्ग द्वारा कर अभीष्ट में सफलता का अर्जन बारम्बार अतिशय प्रशंसनीय और वन्दनीय है, वहीं अध्ययन-अध्यापन क्षेत्र में निरत सुधीजनों के लिए एक नम्र चुनौती तथा रम्य प्रेरणा भी है।

यह स्वाध्याय-व्यसनियों के स्वाध्याय का विषय एवम् इतिहास में एक मानदण्ड बने, इस कामना के साथ आपके स्वस्थ सुदीर्घ जीवन की परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है जिससे ऐसे वाङ्.मय रत्न समाज को उज्ज्वल आभा प्रदान करते रहें।

शुभम्भूयात्

- अनन्त शर्मा

दो शब्द

पूर्व प्रकाशित पुस्तकों - ''पारीक जाति का इतिहास'' व ''पारीक महापुरुष'' के लेखन-क्रम में महर्षि वसिष्ठ, पराशर एवं कृष्ण द्वैपायन के पारस्परिक सम्बन्ध तथा जीवन-काल के विषय में पौराणिक उद्धरणों को लेकर कतिपय हल्की-सी तर्कसम्मत शङ्कायें मन में उठी थीं, परन्तु समयाभाव तथा सर्वत्र एक ही तथ्य एवं इतिवृत्त की आवृत्ति को देखते हुये विशेष ध्यान दिये बिना मैंने उन्हें यथावत् स्वीकार कर लिया। यहाँ मेरा आशय विशेषतया वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन को मैत्रावरुणि वशिष्ठ-पौत्र शाक्त्य पराशर का पुत्र बताये जाने सम्बन्धी उद्धरणों से है।

मन की पृष्ठभूमि में तत्समय अंकुरित ये अनुत्तरित प्रश्न कालान्तर में मन-मस्तिष्क में अन्तर्द्वन्द्व एवं हलचल उत्पन्न अवश्य करते रहे। अपनी शङ्काओं के निवारण की जिज्ञासा ने मुझे वेदों, उपनिषदों, पुराणों, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत एवं अन्य धर्मग्रन्थों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त किया। इस अध्ययन एवं तथ्यान्वेषण के यत्किंचित् प्रयासों ने ही इस पुस्तक **'वेदव्यास महर्षि पराशर'** की रचना का मार्ग-प्रशस्त किया है।

मुझे यह स्वीकार करने में किंचित् भी सङ्कोच नहीं कि इस सम्बन्ध में उपर्युक्त धर्मग्रन्थों के विश्लेषण-विवेचन ने निश्चित दिशा का निर्धारण अवश्य किया है, परन्तु एक प्राथमिक जिज्ञासु अध्येता होने के कारण इन विषयों पर परिणाममूलक निष्कर्ष प्राप्त करने की न तो मैं स्वयं में अपेक्षित योग्यता अनुभव करता हूँ और न ही इस सम्बन्ध में कोई आधिकारिक क्षमता ही रखता हूँ। इस कारण यदि यह कहा जाये कि मेरे ये अकिंचन प्रयास केवल मार्ग एवं गन्तव्य के प्रति इङ्गित-मात्र हैं तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

प्राचीन धर्म-ग्रन्थ, जैसे वाल्मीकि रामायण, महाभारत तथा पुराणों में विभिन्न राजवंशों एवं ऋषि-महर्षियों के जीवन-वृत्त, वंशानुक्रम इत्यादि विषयों पर प्रभूत सामग्री प्राप्त होती है। इनमें भी राज-वंशों के उत्तरोत्तर विकास व विस्तार पर तो प्रचुर मात्रा में उल्लेख एवं विवरण उपलब्ध हो जाता है, परन्तु ऋषि-महर्षिगण के वंश-क्रम का विवरण व्यवस्थित रूप से प्राप्त होना अपेक्षाकृत अधिक दुरूह कार्य है। उनका प्रसिद्धि-पराङ्मुख होना एवं अपने स्वरूप में स्थित

होना ही संभवतया इसके प्रमुख कारण कहे जा सकते हैं। कतिपय मामलों में एक नामधेय उपाधि के वंश-परम्परागत अथवा गुरु-शिष्य परम्परा के आधार पर चलती रहने से और किसी ऋषि विशेष के उल्लेख में मूल नाम छोड़कर केवल उपाधि-नाम या पद-नाम को ग्रहण करने से भी कहीं-कहीं भ्रम की स्थिति उत्पन्न हुई है, विविध प्रसङ्गों के अवलोकन से इस धारणा की पुष्टि होती है।

यह उल्लेखनीय है कि पौराणिक वाङ्मय के उद्धरणों के अनुसार वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन को उन मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र पराशर का पुत्र बताया गया है, जिनका आविर्भाव भगवान राम से भी पूर्व हुआ है। इसी प्रकार शुकदेव के सम्बन्ध में भी महाभारत, श्रीमद्भागवत महापुराण सहित विभिन्न पौराणिक ग्रन्थों में जो वर्णन आया है, वह भी विचारणीय है। उपर्युक्त ग्रंथों के परिशीलन से यह तथ्य उद्घाटित हुआ है कि शुकदेव भी एकाधिक हुए हैं, जिनमें (१) अमरकथा के श्रोता शुकदेव (२) चेटिका/वटिका के गर्भ से उत्पन्न शुकदेव (३) छाया शुकदेव (४) आरणेय शुकदेव (५) पूर्वकाल के शुकदेव तथा (६) दीर्घतपा मुनि के पुत्र शुकदेव। इन सभी शुकदेवों में वर्ण्य विषय के अनुसार दो ही शुकदेव मुख्य रूप से प्रासंगिक हैं। इनमें एक शुकदेव, जिन्होंने राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत की कथा सुनाई, असङ्ग एवं वीतराग थे तथा दूसरे शुकदेव, जिनके एकाधिक सन्तानें होने का उल्लेख अनेकानेक पुराणों में है, पूर्वकाल के शुकदेव प्रतीत होते हैं, जैसा कि महाभारत आदि के प्रसङ्गों से आभासित होता है। अतः गृहस्थाश्रम का पालन करने वाले शुकदेव राजा परीक्षित को कथा सुनाने वाले शुकदेव से भिन्न प्रतीत होते हैं, जो उनके बहुत समय पूर्व आविर्भूत हुए हैं।

किसी भी पुस्तक या ग्रन्थ में वर्ण्य विषय की प्रस्तुति एवं प्रतिपादन में लेखकीय प्रयोजन एवं दृष्टिकोण अन्तर्विष्ट अवश्य होता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। तथापि, प्रयास यही किया गया है कि मैत्रावरुणि वसिष्ठ-पौत्र पराशर तथा कृष्ण द्वैपायन के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह से मुक्त होकर निष्पक्ष भाव से वेद, उपनिषद्, पुराण, महाभारत व श्रीमद्भागवत आदि प्राचीन आर्ष-ग्रन्थों के सम्बद्ध उद्धरणों का तथ्यपरक एवं तर्कमूलक विवेचन कर सही निष्कर्षों की दिशा का निर्धारण किया जाये।

इस सम्बन्ध में, मैं कतिपय निम्न बिन्दुओं पर अपने दृष्टिकोण तथा विवेचन की आधारभूत विषय-सामग्री से सुधी पाठकों को अवगत कराना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ, जिससे वे विषय की महत्ता, प्रतिपाद्य सामग्री के स्वरूप तथा लेखकीय सीमाओं का सम्यक् आकलन कर सकें -

१. मैत्रावरुणि वसिष्ठ, उनके पुत्र शक्ति तथा शक्ति-पुत्र पराशर तीनों ही मन्त्र-द्रष्टा ऋषि रहे हैं, जिनका आविर्भाव दाशरथि राम से भी पूर्व हुआ है। विभिन्न पुराणों एवं महाभारत आदि धर्मग्रन्थों में वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन को उपर्युक्त शाक्त्य पराशर का पुत्र बताया गया है, जबकि कृष्ण द्वैपायन महाभारतकालीन हैं, जिनके नियोग से धृतराष्ट्र, पाण्डु एवं विदुर का जन्म हुआ है। इन कृष्ण द्वैपायन की माता का नाम सत्यवती है, कौमार्यावस्था में पराशर नामक ऋषि के संयोग से कृष्ण द्वैपायन को यमुना के निर्जन द्वीप में जन्म देने के पश्चात् जिसका विवाह देवव्रत (भीष्म) के पिता शान्तनु के साथ हुआ था।

२. महर्षि वसिष्ठ एवं विश्वामित्र हमें अत्यधिक अन्तराल वाले काल-खण्डों में निरन्तर दिखाई देते हैं, वे दोनों राजा हरिश्चन्द्र के समय, राम से पूर्व आविर्भूत कल्माषपाद एवं पैजवन सुदास तथा कालान्तर में भगवान राम के जीवन-काल में भी दिखाई देते हैं। इनका अस्तित्व सहस्रों वर्षों के सुदीर्घ काल तक निश्चय ही किसी नामधेय उपाधि के रूप में रहा होगा, जिस पर अधिष्ठित होने वाला व्यक्ति उसी पद नाम से अभिहित किया जाता है, यद्यपि उसका अपना कोई व्यक्तिगत अभिज्ञान एवं नाम अवश्य होता है।

३. पुराणों में प्रत्येक मन्वन्तर की हर चतुर्युगी (४३ लाख २० हजार वर्ष) के द्वापर में वेदव्यास का आविर्भाव बताया गया है। वर्तमान में वैवस्वत् मन्वन्तर की २८ वीं चतुर्युगी चल रही है, अट्ठाईसवीं चतुर्युगी के वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन बताये गये हैं। पुराणों की सुस्थापित मान्यता के अनुसार सभी वेदव्यासों का आविर्भाव द्वापर में हुआ है, जबकि मैत्रावरुणि वसिष्ठ, शक्ति एवं पराशर सभी त्रेता में हुये हैं। अतः वेदव्यासों के प्रत्येक चतुर्युगी के द्वापर में आविर्भाव की इस मान्यता पर गम्भीरतापूर्वक विचार-मनन अपेक्षित है।

४. कतिपय वेदव्यास या तो समकालीन हैं, अथवा उनके आविर्भाव में अधिक अन्तराल नहीं है। वसिष्ठ, उनके पुत्र शक्ति एवं शक्ति के पुत्र पराशर, तीनों ही वेदव्यास हैं, जैसा कि विष्णु पुराण एवं अन्य पुराणों के विभिन्न उद्धरणों से स्पष्टतया उनका अनुक्रम क्रमशः ८ वाँ, २५ वाँ तथा २६ वाँ है।

वेदव्यासों को जो क्रम दिया गया है, वह उनके द्वारा वेदव्यास के रूप में किये गये अवदान के महत्व को देखते हुये निर्धारित किया जाना संभव है। अतएव, पिता-पुत्र एवं पौत्र के रूप में मैत्रावरुणि वसिष्ठ, शक्ति एवं

पराशर में प्रत्येक के मध्य उक्त क्रमानुसार लाखों वर्षों का अन्तर व्यावहारिक नहीं जान पड़ता है।

५. महाराजा हरिश्चन्द्र से लेकर भगवान राम तक विभिन्न पुराणों में ३२-३३ पीढ़ियों का अन्तर होना बताया गया है, इस दृष्टि से सत् युग एवं त्रेता युग के मध्य १७ लाख २८ हजार वर्ष का अन्तराल विचारणीय है। पौराणिक ग्रंथों में यह तथ्य सुस्थापित है कि वेदव्यासों की शृंखला में महर्षि वसिष्ठ, उनके पुत्र शक्ति एवं पौत्र पराशर वेदव्यास हैं। परन्तु वेदव्यासों के अनुक्रम में इनका स्थान सामान्यतया क्रमशः ८, २५ एवं २६ बताया गया है। पिता-पुत्र एवं पौत्र के मध्य लाखों वर्षों का अन्तराल सम्भव प्रतीत नहीं होता, जैसा कि एक वेदव्यास से दूसरे वेदव्यास का आविर्भाव ४३,२०,००० वर्ष बाद बताया गया है। महाराजा हरिश्चन्द्र से भगवान् राम तक की वर्णित उक्त पीढ़ियों में प्रमुख एवं प्रसिद्ध पीढ़ियों की ही गणना के पुराणों में उल्लिखित कथ्य पर विचार करने पर इन पीढ़ियों को यदि पाँच-दस से गुणा करके देखें तो भी लाखों वर्षों का अन्तराल व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता। इससे यह अनुमान होता है कि मानव इतिहास के सन्दर्भ में युगों की काल-गणना के मापदण्ड सृष्टि के सुदीर्घ मानदण्डों से बहुत छोटे रहे होंगे, जैसे 'युग' का अर्थ दो, बारह आदि भी होता है।

६. गणेश पुराण में पराशर की पत्नी का नाम वत्सला बताया गया है। ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल में मित्र-वरुण, सुदास एवं घृताची का बार-बार नामोल्लेख किया गया है, क्या वत्सला का एक नाम घृताची भी है। इसी प्रकार क्या वत्सला का नाम काली भी है, जैसा कतिपय पुराणों में काली को पराशर की पत्नी बताया गया है, जिनसे कृष्ण द्वैपायन उत्पन्न हुये हैं। इस काली का मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र पराशर की पत्नी होना सुसंगत प्रतीत होता है। इस दृष्टि से कृष्ण द्वैपायन का उल्लेख विचारणीय है। मैत्रावरुणि वसिष्ठ-पुत्र शक्ति के पुत्र तथा कृष्ण द्वैपायन के पिता के रूप में भिन्न कालों के पृथक्-पृथक् पराशर के नाम-साम्य की संभावना के कारण ही उक्त विसंगति आई प्रतीत होती है।

इस प्रकार महाभारतकाल में मैत्रावरुणि वसिष्ठ-पौत्र पराशर से भिन्न अन्य पराशर कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास के पिता रहे होंगे, क्योंकि पुराणादि ग्रन्थों में महाभारत कालीन कृष्ण द्वैपायन के पिता का नाम पराशर बताया गया है, मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र तो शाक्त्य पराशर हैं ही। ऋग्वेद, महाभारत एवं पुराणों में उपलब्ध साक्ष्य के विवेचन से निम्न निष्कर्षों पर पहुँचने का प्रयास किया गया है-

(क) मैत्रावरुणि वसिष्ठ, शक्ति एवं उनके पुत्र पराशर वेद व्यास हैं, वेद–मन्त्रों के द्रष्टा हैं तथा क्रमशः पिता, पुत्र एवं पौत्र हैं;

(ख) अनेक वेद व्यास समकालीन दृष्टिगोचर होने के कारण उनका प्रदत्त अनुक्रमांक जैसे वसिष्ठ का आठवाँ एवं शक्ति व पराशर का क्रमश: २५ वाँ तथा २६ वाँ संभवतया उनके वेदव्यास के रूप में अवदान अथवा किसी अन्य आधार पर हो सकता है, परन्तु वंशानुगत पीढ़ियों के आधार पर संभव नहीं;

(ग) एक वेद व्यास से दूसरे के मध्य एक चतुर्युगी या ४३ लाख २० हजार वर्षों का अन्तर बताया गया है। वेद व्यासों की श्रृंखला पर दृष्टिपात् करने से यह ज्ञात होता है कि यह काल बहुत संकुचित होना चाहिये। या तो प्राचीन काल में वर्ष, युग आदि के मापदण्ड बहुत छोटे रहे होंगे अथवा पुराणकारों ने प्रज्ञा–चमत्कार दिखाने की दृष्टि से उनका अन्यथा (जो प्रचलित नहीं है) अर्थ ग्रहण करके काल–खण्ड को अधिकतम बताने का प्रयास किया है;

(घ) काल–गणना की दृष्टि से कृष्ण द्वैपायन मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र शाक्त्य पराशर के पुत्र सम्भव नहीं लगते, क्योंकि दोनों के काल–खण्ड (त्रेता एवं द्वापर) में अति सुदीर्घ अन्तराल है। निश्चय ही द्वैपायन के पिता पराशर उक्त शाक्त्य पराशर से भिन्न कोई दूसरे ऋषि हुये होंगे;

(ङ) कृष्ण द्वैपायन का सत्यवती अथवा मत्स्यगन्धा से उत्पन्न होना निर्विवाद है। अत: जहाँ कहीं काली एवं पराशर से कृष्ण द्वैपायन पुत्र होने का अर्थ है, वहाँ पराशर के नाम–साम्य के कारण भ्रान्ति हो सकती है। घृताची व काली पर्यायवाची शब्द हैं। घृताची स्नेहवाचक होने से वत्सला के लिये भी प्रयुक्त किया गया हो सकता है।

(च) एक शुकदेव कृष्ण द्वैपायन के पुत्र हैं। पूर्वकाल के दूसरे शुकदेव भी 'व्यास' पुत्र हैं। दोनों का आविर्भाव भिन्न–भिन्न समय में हुआ है, अत: पूर्वकाल के शुकदेव कौन से 'व्यासजी' के पुत्र हैं, यह विचारणीय हो जाता है; और

(छ) क्या कृष्ण द्वैपायन–पुत्र शुकदेव, जिन्होंने राजा परीक्षित को कथा सुनाई, बाद में उन्होंने ही गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लिया?

७. पुराण, महाभारत आदि धर्मग्रन्थ प्राचीन भारतीय इतिहास के प्रामाणिक

स्रोत हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। परन्तु उनमें कतिपय विसंगतियाँ एवं भ्रम की स्थिति उत्पन्न होने का कारण प्रक्षिप्त अंश हो सकते हैं। पुराणादि ग्रन्थों में प्रक्षिप्त अंश जोड़ने की सच्चाई से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता, वरना विभिन्न पाण्डुलिपियों के श्लोकों अथवा उन की शब्दावली में प्रभूत पाठ-भेद के साथ-साथ कलेवर में उल्लेखनीय असमानता का अन्य क्या कारण हो सकता है?

८. वेद-पुराणादि को गुरु-शिष्य परम्परा से 'श्रुति एवं स्मृति' प्रक्रिया का आश्रय ग्रहण कर अनादि काल से इस युग तक लाने में ऋषियों ने जो वंशानुगत तपस्या की है, उसके लिये प्रत्येक भारतवासी उनका सदैव कृतज्ञ रहेगा। इस 'श्रुति एवं स्मृति' प्रक्रिया को निर्दोष बनाये रखने के लिये समय-समय पर वेद व्यासों के आविर्भाव की अभूतपूर्व व्यवस्था रही है। यह संभव है कृष्ण द्वैपायन के बहुत पश्चात् इस प्रक्रिया में संलग्न घटकों के स्तर पर कुछ शिथिलता आ गई हो और विस्मृति, भूल या रूपान्तरण की सम्भावना हो गयी हो।

९. पुराणों की प्राचीन पाण्डुलिपियों के पृष्ठ इधर-उधर हो जाने या कतिपय अंश विलुप्त हो जाने के कारण सम्पादन-कर्त्ताओं के स्तर पर पूरी सावधानी के पश्चात् भी सम्पादन में कोई भूल-चूक होना सम्भव है।

१०. ऐसा प्रतीत होता है कि पुराण, महाभारत आदि ग्रन्थों में वर्ण्य विषय को अधिक रोचक एवं मनोरञ्जक बनाने के दृष्टिकोण से या तो अतिशयोक्ति का आश्रय लिया गया है, अथवा प्रचलित माप-दण्डों को बढ़ा कर संख्याओं को विपुल रूप में बताने का उपक्रम किया गया है। वाल्मीकि रामायण में दशरथ का साठ हजार वर्ष की आयु के उपरान्त भगवान राम आदि पुत्रों को प्राप्त करना, किसी राजा द्वारा हजारों वर्ष तक यज्ञ करना, इसी संभावना को व्यक्त करते हैं। युगों की काल-गणना भी इसी रूप में ग्रहण की जा सकती है।

११. कतिपय नामों एवं घटनाओं में लाक्षणिकता लाने के दृष्टिकोण से बिम्बों एवं प्रतीकों का सहारा लिया गया है। उदाहरण के लिये पक्षि-शावक शुक द्वारा अमरकथा के श्रवण के प्रसङ्ग को लिया जा सकता है। यहाँ पक्षी को 'द्विज' के रूप में ग्रहण करना समीचीन ज्ञात होता है, क्योंकि पक्षी भी दो बार जन्म लेने से द्विज ही कहा जाता है। इसी प्रकार, द्विज या ऋषि-पुत्र १२ वर्ष की अवस्था में उपनयन संस्कार सम्पन्न होने के पश्चात् द्विज के रूप में नया जन्म ग्रहण करता है, इससे पूर्व का जन्म द्विज की गर्भावस्था ही तो है। इसी प्रकार व्यास-पत्नी के मुख या हृदय में

रहना भी उसे सदैव अपने अन्तस्तल में बनाये रखना और सदैव उसका नाम मुँह पर रहना हो सकता है।

अतएव, पुराणों पर अनावश्यक रूप से अश्रद्धा करने का कोई कारण नहीं है। यदि आवश्यकता है तो उनके सही मर्म और मन्तव्य को समझने की। इस दृष्टि से, आशा की जानी चाहिये कि विद्वज्जन पुराणों की वास्तविक भावना के अनुरूप व्याख्या अथवा पुनर्व्याख्या की दिशा में अग्रसर होंगे, यही आज समय की माँग है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पिष्टपेषण–दोष की संभावना के बावजूद सुधी पाठकों की सुविधा एवं सद्य सन्दर्भ के लिये प्रसङ्गानुसार कतिपय घटनाओं, वेद–मन्त्रों एवं श्लोकादि की पुनरावृत्ति का लोभ--संवरण नहीं कर पाया हूँ।

अनन्तानन्त श्री विभूषित जगद्गुरु श्री निम्बार्काचार्य पीठाधीश्वर श्री राधासर्वेश्वरशरण देवाचार्य श्री श्रीजी महाराज ने अस्वस्थ होते हुए भी इस सम्पूर्ण ग्रन्थ का अवलोकन करने की महती कृपा कर अपना शुभाशीर्वाद दिया है, इसके लिये मैं महाराज श्री का सदैव कृतज्ञ रहूँगा।

श्री सम्प्रदाचार्याचार्य रामावतार जगद्गुरु स्वामी श्री रामानंदाचार्य पद प्रतिष्ठित स्वामी श्री रामनरेशाचार्यजी महाराज, श्रीमठ, पंच गंगा, वाराणसी के जयपुर में चातुर्मास की अवधि में उनका सत्सङ्ग एवं प्रेरक उद्‌बोधन पाकर मुझे कृतार्थ होने का अवसर मिला। इस अवधि में प्रस्तुत ग्रंथ का अवलोकन करने के पश्चात् कृपा कर उन्होंने अपना शुभाशीर्वाद प्रदान किया, जिसके लिए मैं उनके प्रति विनीत भाव से कृतज्ञता–ज्ञापन करना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ।

परम श्रद्धेय शिवजी उपाध्याय, प्रति कुलपतिः श्री सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी एवं प्रवक्ताधिकारी, श्री काशी विद्वत्परिषद्, वाराणसी ने भी पुस्तक का अवलोकन कर शुभाशीष देने की जो कृपा की है, उसके लिये मैं सदैव हृदय से उनका आभारी रहूँगा।

राजस्थान संस्कृत अकादमी के पूर्व अध्यक्ष देवर्षि पं. कलानाथ जी शास्त्री ने अत्यन्त व्यस्तता के बावजूद अपना अमूल्य समय देकर पुस्तक का आद्यन्त अवलोकन करने के उपरान्त *पुरोवाक्* लिखने की अनुकम्पा की है, एतदर्थ मैं हृदय से उनका भी आभारी हूँ।

अपना अमूल्य समय देकर पुस्तक का आद्योपान्त अवलोकन करने के पश्चात् पुरा इतिहास मर्मज्ञ वयोवृद्ध पं. गोपाल नारायण जी बहुरा ने *प्रास्ताविक*, राजस्थान संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर के कुलपति प्रो० सत्यदेव मिश्र ने *शुभाशंसा*, महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ विश्वविद्यालय, वाराणसी के पूर्व

कुलपति डॉ. राम कुमार जी त्रिपाठी ने *उदान*, बृजमोहन जी जावलिया ने सम्मति, पं. दुर्गालाल जी बाढ़दार, प्रभाकर, सिद्धान्त शास्त्री, एम.ए. , एलएल.बी. ने *उपोद्घात* एवं गोदावरी आर्य कन्या शिक्षण समिति, ब्यावर के निदेशक प्रो० अनन्त जी शर्मा ने *मंगल कामना* लिखकर मुझे उपकृत किया है, जिसके लिये मैं इन सभी विद्वान मनीषियों के प्रति श्रद्धापूर्वक आभार प्रदर्शित करता हूँ।

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखन में महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा श्री राम शर्मा आचार्य द्वारा सम्पादित/व्याख्यायित ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद संहिताओं के अनुशीलन से बहुत सहायता एवं मार्ग-दर्शन मिला है। इसके अतिरिक्त, प्रमुख उपनिषदों, वाल्मीकि रामायण, महाभारत एवं श्रीमद्भागवत सहित अन्य पुराणों जैसे प्राचीन धर्म-ग्रन्थों का भी पर्याप्त आश्रय ग्रहण किया गया है। गीताप्रेस गोरखपुर से प्रकाशित कल्याण के विषय-सम्बन्धी विशेषाङ्कों सहित अन्य धर्मग्रन्थों से भी पग-पग पर सहायता ग्रहण की गयी है। अतएव, महर्षि दयानन्द सरस्वती, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, गीताप्रेस गोरखपुर तथा वर्णित धर्मग्रन्थों के व्याख्याकारों एवं प्रकाशकों के प्रति नतमस्तक होकर मैं कृतज्ञतापूर्वक आभार प्रकट करता हूँ।

यहाँ मैं पारीक महिला परिषद, जयपुर की संस्थापिका व अध्यक्षा श्रीमती कृष्णा पारीक एवं उनकी कार्यकारिणी के पदाधिकारियों व सदस्यों का भी नामोल्लेख उचित समझता हूँ, जिन्होंने महर्षि पराशर जी की मूर्ति के अनावरण समारोह के अवसर पर पराशर जी की जन्मतिथि के निर्धारण एवं उनके माता-पिता सम्बन्धी प्रामाणिक इतिवृत्त सुनिश्चित करने की दिशा में कार्य करने का आग्रह किया, जो अन्ततोगत्वा इस पुस्तक *वेदव्यास महर्षि पराशर* के लेखन का आधार बना।

इसी सन्दर्भ में स्वतन्त्रता सेनानी स्व० राधाकिशन जी पुरोहित, पुरोहितों की ढाणी (सीकर) का प्रतिबिम्ब भी मेरे स्मृति-पटल पर हठात् उभर आता है, जिन्होंने पारीक जाति के प्रवर्त्तक ऋषि के बारे में शास्त्र-सम्मत प्रमाणों के आधार पर वास्तविक स्थिति ज्ञात करने की आवश्यकता पर बारम्बार जोर दिया। इस प्रकार पूज्य स्व० राधाकिशन जी पुरोहित को नमनपूर्वक स्मरण करता हूँ, जिनके आग्रह को मैंने आदेश के रूप में स्वीकार कर इस ग्रन्थ के रूप में उसकी पालना करने का प्रयास किया।

इस पुस्तक के लेखन में वर्षों की व्यस्तता एवं एकाग्रचित्तता के कारण अपने गृहस्थोचित दायित्वों के प्रति न्याय न कर पाना स्वाभाविक था। इस अवधि में मैं अपनी पूजनीया माताश्री श्रीमती नारायणी देवी की यथेष्ट सेवा-सुश्रुषा नहीं कर पाया। उन्होंने स्वयं इस कार्य को सम्पन्न करने हेतु मुझे अपने समय का अधिकतम उपयोग करने पर विशेष बल दिया था। उनके आशीर्वाद एवं प्रेरणा के प्रसाद से ही मैं अपने इस उद्देश्य में कृतकृत्य हो सका हूँ।

पुस्तक- लेखन-की अवधि में मेरी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीला ने गृहस्थी के सम्पूर्ण कर्त्तव्य-भार में दत्तचित्त रहते हुये मुझे पूर्णतया मुक्त रखकर अपना सर्वाधिक योगदान दिया है। इन वर्षों में मेरे सुपुत्र चि. नरेन्द्र एवं खगेन्द्र ने वकालत के कार्य से पूरी तरह मुक्त रखकर मुझे जो उल्लेखनीय सहयोग दिया है, उसके लिये वे प्रशंसा एवं आशीर्वाद के पात्र हैं। सतत् अध्ययन-चिन्तन के फलस्वरूप पाण्डुलिपि में समय-समय पर किये गये संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्द्धन के कारण बार-बार प्रूफ शोधन का कार्य और भी दुरूह सिद्ध हुआ। इस श्रमसाध्य कार्य को सम्पन्न करने में मेरे पुत्र चि. अनिल एवं जामाता चि. कृष्णकान्त के साथ-साथ पुत्रवधू श्रीमती इन्दु, श्रीमती मधुलिका व श्रीमती ज्योत्सना और सुपुत्री श्रीमती विजयेता ने निरन्तर सहयोग दिया है, इसके लिए वे भी विशेष प्रशंसा एवं शुभाशीष पाने के सच्चे हकदार हैं। लेखन में व्यस्तता के कारण सुपौत्र चि. रोहित व चि. भानु, दौहित्र चि. ऋषि एवं चि. विनय तथा सुपौत्री नेहा, प्रियंका व राधिका का प्रच्छन्न सहयोग सर्वाधिक उल्लेखनीय है, जो इस अवधि में न केवल मेरे सान्निध्य एवं स्नेह से वंचित रहे, बल्कि अपनी बाल-सुलभ ज़िद व फरमाइशों का मुझ पर प्रयोग करने में स्वयं पर नियन्त्रण रखा। सुपौत्र चि. शोभित एवं मोहित ने भी आवश्यकता होने पर कम्प्यूटर कार्य में सदैव सहयोग देने का श्रेय प्राप्त किया है, मैं उन्हें भी साधुवाद देता हूँ।

श्री के.एस. चौधरी ने पुस्तक की साज-सज्जा एवं मुद्रण सम्बन्धी तकनीकी बातों में सदैव के समान इस बार भी जो अपना योगदान दिया है, उसके लिये मैं उनको व श्री विनोद पारीक को हृदय से धन्यवाद देता हूँ।

अपने अन्तःस्थल एवं मुक्तकण्ठ से यह स्वीकार करते हुये मुझे तनिक भी संकोच नहीं है कि मुझे मेरे अनुज-सम श्री रामलाल चौधरी, पूर्व अनुसन्धान अधिकारी, द्वारा इस दुरूह कार्य में अनथक हार्दिक सहयोग दिया गया है, जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

संस्कृत के पर्याप्त ज्ञान की अपेक्षा रखने वाले, श्रमसाध्य टाइप सैटिंग के कार्य को कम्प्यूटर पर दक्षतापूर्वक सम्पादित कर सहयोग प्रदान करने हेतु मैं श्री के.पी. सिंघल के प्रति भी आभार प्रकट करता हूँ।

आवरण-सज्जा के लिये श्री नवनीत पारीक तथा कम्प्यूटर-सैटिंग कार्य के लिये मै. क्रियेशन, 80, पटेल कॉलोनी, सरदार पटेल मार्ग, जयपुर के प्रो. राजेन्द्र शर्मा एवं कृष्णाज कम्प्यूटर्स के श्री मंयक पारीक को धन्यवाद देना मैं आवश्यक समझता हूँ।

– रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी 'उमङ्ग'

एफ 37 ए, 'मदन नारायण',
घीया मार्ग, बनीपार्क
जयपुर – 302 016
रामनवमी, चैत्र शुक्ल ९ सं. 2060
दिनांक : 11 अप्रेल, 2003

नव अध्यायों में विभक्त

"पराशर गीता" में

महर्षि शाक्त्य पराशर

द्वारा

राजा जनक को

उपदेश

एक दृष्टि में-

- कल्याण की प्राप्ति के साधन।
- कर्म फल की अनिवार्यता तथा पुण्यकर्म से लाभ।
- धर्मोपार्जित धन की श्रेष्ठता, पाँच प्रकार के ऋणों से छूटने की विधि, भगवत् स्तवन की महिमा, सदाचार एवं गुरुजनों की सेवा से महान् लाभ।
- सेवावृत्ति का महत्त्व, सत्सङ्ग तथा वर्णानुसार धर्म-पालन की महत्ता।
- निन्दनीय कर्मों का त्याग, मनुष्यों में आसुरीभाव की उत्पत्ति, स्वधर्मानुसार कर्त्तव्य-पालन।
- विषयासक्त मनुष्य का पतन तथा तपोबल की श्रेष्ठता।
- वर्ण: उत्पत्ति का रहस्य, विशेष एवं सामान्य धर्म, तपोबल से उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति, सत्कर्म एवं अहिंसा की श्रेष्ठता।
- नाना प्रकार के धर्म एवं कर्त्तव्य।
- राजा जनक की शङ्कायें एवं उनका समाधान।

१
वेदव्यास परम्परा एवं प्राचीन काल-गणना

अति प्राचीनकाल से ही वंश-परम्परागत रूप से वेदों को श्रुति के रूप में अक्षुण्ण बनाये रखने की सतत् एवं जीवन्त व्यवस्था हमारे तत्वद्रष्टा मनीषियों द्वारा की गई है। प्रारम्भ से ही श्रुति पर आधारित वेदों के स्वरूप या क्रमबद्धता का दीर्घ अन्तराल में किंचित् अव्यत्रस्थित होना स्वाभाविक था। अतएव वेदों के मूल-मंत्रों को व्यवस्थित रखने एवं क्रमबद्ध रूप देने हेतु निश्चित अन्तराल में वेदव्यास उपाधि-धारक ऋषि का सभी मन्वन्तरों की प्रत्येक चतुर्युगी के द्वापर युग में आविर्भाव माना जाता है।

मन्वतरों के नाम - वर्तमान में सातवाँ मन्वन्तर चल रहा है, जिसका नाम वैवस्वत मन्वन्तर है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि सृष्टि के एक कल्प-काल को कुल चौदह मन्वन्तरों में विभाजित किया गया है- १. स्वायम्भुव २. स्वारोचिष ३. औत्तमि ४. तामस ५. रैवत ६. चाक्षुष ७. वैवस्वत ८. सावर्णि ९. दक्षसावर्णि १०. ब्रह्मसावर्णि ११. धर्मसावर्णि १२. रुद्र सावर्णि १३. रुचि १४. भौम। विभिन्न पुराणों में इन मन्वन्तरों के नाम में कहीं-कहीं भिन्नता पाई जाती है। उक्त नाम महर्षि पराशर रचित 'विष्णुपुराण' से उद्धृत किये गये हैं।[१]

विभिन्न पुराणों में उल्लेख किया गया है कि चतुर्युगी (महायुग) के प्रत्येक द्वापर में वेद-व्यास का आविर्भाव होता है। इस समय सातवें मन्वन्तर की २७ चतुर्युगियाँ व्यतीत होकर २८ वीं चतुर्युगी चल रही है। इस दृष्टि से वर्तमान सातवें वैवस्वत् मन्वन्तर की इस २८ वीं चतुर्युगी के द्वापर से आगामी २९ वीं चतुर्युगी के द्वापर के प्रारम्भ तक वर्तमान २८ वें वेद-व्यास महर्षि कृष्ण द्वैपायन का प्रभावी कार्यकाल रहेगा। एक मन्वन्तर में ७१ से कुछ अधिक चतुर्युगियों की अवधि होती है।

वेदव्यासों के नाम - वर्तमान सातवें मन्वन्तर की प्रत्येक चतुर्युगी (महायुग) में समाविष्ट सभी २८ द्वापरों में निम्न व्यास हुये हैं, जैसा कि विष्णुपुराण में उल्लेख किया गया है-

१. विष्णु पुराण - अंश ३, अध्याय १ व २, गीताप्रेस गोरखपुर (सं. २०५५) पृ. १६३-६९.

ज्ञातमेतन्मया त्वत्तो यथा सर्वमिदं जगत्।
विष्णुर्विष्णौ विष्णुतश्च न परं विद्यते ततः॥ १॥
एतत्तु श्रोतुमिच्छामि व्यस्ता वेदा महात्मना।
वेदव्यासस्वरूपेण तथा तेन युगे युगे॥ २॥
यस्मिन्यस्मिन्युगे व्यासो यो य आसीन्महामुने।
तं तमाचक्ष्व भगवञ्छाखाभेदांश्च मे वद॥ ३॥
वेदद्रुमस्य मैत्रेय शाखाभेदास्सहस्त्रशः।
न शक्तो विस्तराद्वक्तुं संक्षेपेण श्रृणुष्व तम्॥ ४॥
द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने।
वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हितः॥ ५॥
वीर्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च।
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान्करोति सः॥ ६॥
ययासौ कुरुते तन्वा वेदमेकं पृथक् प्रभुः।
वेदव्यासाभिधाना तु सा च मूर्तिर्मधुद्विषः॥ ७॥
यस्मिन्मन्वन्तरे व्यासा ये ये स्युस्तान्निबोध मे।
यथा च भेदश्शाखानां व्यासेन क्रियते मुने॥८॥
अष्टाविंशतिकृत्वो वै वेदो व्यस्तो महर्षिभिः।
वैवस्वतेऽन्तरे तस्मिन्द्वापरेषु पुनः पुनः॥ ९॥
वेदव्यासा व्यतीता ये ह्यष्टाविंशति सत्तम।
चतुर्धा यैः कृतो वेदो द्वापरेषु पुनः पुनः॥ १०॥
द्वापरे प्रथमे व्यस्तस्स्वयं वेदः स्वयम्भुवा।
द्वितीये द्वापरे चैव वेदव्यासः प्रजापतिः॥ ११॥
तृतीये चोशना व्यासश्चतुर्थे च बृहस्पतिः।
सविता पञ्चमे व्यासः षष्ठे मृत्युस्स्मृतः प्रभुः॥ १२॥
सप्तमे च तथैवेन्द्रो वसिष्ठश्चाष्टमे स्मृतः।
सारस्वतश्च नवमे त्रिधामा दशमे स्मृतः॥ १३॥
एकादशे तु त्रिशिखो भरद्वाजस्ततः परः।
त्रयोदशे चान्तरिक्षो वर्णी चापि चतुर्दशे॥ १४॥

त्र्य्यारुणः पञ्चदशे षोडशे तु धनञ्जयः।
ऋतुञ्जयः सप्तदशे तदूर्ध्वं च जयस्स्मृतः॥ १५॥
ततो व्यासो भरद्वाजो भरद्वाजाच्च गौतमः।
गौतमादुत्तरो व्यासो हर्यात्मा योऽभिधीयते॥ १६॥
अथ हर्यात्मनोऽन्ते च स्मृतो वाजश्रवा मुनिः।
सोमशुष्मायणस्तस्मात्तृणबिन्दुरिति स्मृतः॥ १७॥
ऋक्षोऽभूद्भार्गवस्तस्माद्वाल्मीकिर्योऽभिधीयते।
तस्मादस्मत्पिता शक्तिर्व्यासस्तस्मादहं मुने ॥ १८॥
जातुकर्णोऽभवन्मत्तः कृष्णद्वैपायनस्ततः।
अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः॥ १९॥

विष्णु पु० ३/३/१-१९

उपर्युक्त श्लोकों के अनुसार अब तक निम्न २८ वेद-व्यास हुये हैं :-

१. ब्रह्मा	११. त्रिशिख (त्रिवृषने)	२१. हर्यात्मा
२. प्रजापतिं	१२. भरद्वाज	२२. वाजश्रवामुनि
३. उशना(शुक्राचार्य)	१३. अन्तरिक्ष	२३. तृणबिन्दु
४. बृहस्पति	१४. वर्णि (धर्म)	२४. ऋक्ष (वाल्मीकि)
५. सविता (सूर्य)	१५. त्रैयारुण	२५. शक्ति
६. मृत्यु	१६. धनञ्जय	२६. पराशर
७. इन्द्र	१७. ऋतुञ्जय(मेधातिथि)	२७. जातुकर्ण
८. वसिष्ठ	१८. जय (व्रति)	२८. कृष्ण द्वैपायन
९. सारस्वत	१९. भरद्वाज (अत्रि)	
१०. त्रिधामा	२०. गौतम	

अट्ठाइसवें व्यास सत्यवती नंदन कृष्ण द्वैपायन के पश्चात् आगामी चतुष्पदी के 29 वें द्वापर में द्रोण-पुत्र अश्वत्थामा को भावी वेद-व्यास बताया गया है। कई पुराणों में व्यासों के नाम तथा क्रम में अन्तर मिलता है जैसा कि कोष्ठक में दिया गया है। इस सम्बन्ध में श्री अनन्त शर्मा द्वारा किया गया वेदव्यासों के नामों का निम्न विवेचन विशेष रूप से द्रष्टव्य है-[१]

"**श्रीमद्वायु पुराण पीयूष** - यहाँ वायु के दोनों अध्यायों, विष्णु पुराण, कूर्म पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण (2 अध्याय) व देवी भागवत के अनुसार कुछ नामों

१. अनन्त शर्मा, राजस्थान पत्रिका, दिनांक २६ व २७ सितम्बर, २००१ ("तत्व बोध"स्तम्भ).

को शुद्ध करने का यत्न किया जा रहा है। शिव पुराण की वायवीय संहिता (८.४४) मैंने साक्षात् नहीं देखी, पुराण विद्या (महामहोपाध्याय श्री गिरिधर शर्मा चतुर्वेदीजी) पृ. १६० पर दिए गए पद्यों के आधार पर वे भी नाम विचारणार्थ हैं। प्रथम व्यास भगवान ब्रह्मा हैं। कूर्म पुराण ही अकेला है, जो प्रथम व्यास मनु को मानता है। वस्तुतः यह मान्यता नहीं है अपितु दोष है और इसका आधार सम्भवतः वायु पुराण के इसी अध्याय का अस्पष्ट पाठ है। पद्य ११०-१११ में वाराह कल्प में ब्रह्मा के पुत्र वैवस्वत मनु को बता कर शिव ने अपना श्वेत अवतार बताया तथा विष्णु को मनुरूप में अवतीर्ण बताया है। शिवयोगियों का व्यासों के साथ-साथ अवतार बताने के क्रम में श्वेत के साथ मनु को गिनने से यह भ्रान्ति हो गई कि वैवस्वत् मनु प्रथम व्यास हैं। कूर्म पुराण का कथन अधिकतर इसी अध्याय पर आधृत है। स्वयं वायु पुराण ही अध्याय १०३ में कहता हैः

ब्रह्मा द दौ शास्त्रमिदं पुराणं मातरिश्वने ॥५८॥ (मोर संस्करण)।

ब्रह्मा ने यह पुराणशास्त्र मातरिश्वा अर्थात् वायु को दिया। अतः शुद्ध परम्परा ब्रह्मा से ही सभी शास्त्रों के आरम्भ को मानने की है। अन्यत्र भी स्पष्ट शब्दों में ब्रह्मा का ही उल्लेख है। स्वयं कूर्म पुराण कहता है-

तेषु चान्तर्हितेष्वेवं युगान्तेषु महर्षयः।
ब्रह्मणो वचनात्तानि करिष्यन्ति युगे युगे॥
अष्टादश पुराणानि व्यासाद्यैः कथितानि तु।
नियोगाद् ब्रह्मणो राजन् तेषु धर्मः प्रतिष्ठितः॥

कूर्म पु. १२/२६७-८*

शास्त्रों की परम्परा में शिथिलता आ जाने पर युगान्त (कलियुग)में ब्रह्मा के वचन से महर्षि प्रत्येक युग में शास्त्रों का प्रवचन करेंगे॥२६७॥ व्यास आदि ने ब्रह्मा के नियोग से अष्टादश पुराण कहे हैं, इन पुराणों में धर्म प्रतिष्ठित है। द्वितीय व्यास प्रजापति को कहा गया है। यहाँ सभी पुराण प्रजापति को ही समान रूप से दूसरा व्यास कह रहे हैं। इस (वायु) पुराण के १०३ अध्याय (५८ वें श्लोक) में तथा ब्रह्माण्ड पुराण उपसंहारपाद चतुर्थ अध्याय में प्रजापति के स्थान पर मातरिश्वा नाम है। इससे स्पष्ट है कि २१ प्रजापतियों में यह प्रजापति मातरिश्वा है। इन व्यास का निज नाम सत्य था, जैसे कृष्ण अथवा द्वैपायन। इसी दृष्टि से शिव पुराण वायवीय संहिता ८/४४ में २८ व्यासों के नाम में दूसरा सत्य है। तृतीय व्यास उशना अथवा भार्गव हैं। उशना शुक्र कवि काव्य और भार्गव शुक्र के नाम हैं। वायु पुराण २३ तथा शिव पुराण में भार्गव हैं, शेष सभी में उशना नाम है। चतुर्थ

---

* कल्याण - कूर्मपुराणाङ्क, वर्ष ७१ (१९९७) में ये श्लोक -पू.वि. ११/२७८-७९ हैं।

व्यास अंगिरा है। यह बृहस्पति का ही दूसरा नाम है। अंगिरा के पुत्र होने से ये अंगरिस भी कहलाते हैं। पिता के नाम पर पुत्र का नाम एकात्मताख्यापन की दृष्टि से ले लिया जाता है। वायु पुराण २३ में अंगिरा तथा १०३ में बृहस्पति नाम पढ़ना इस तथ्य का प्रमाण है। शिव पुराण तथा वायु पुराण में भी अंगिरा है, शेष सभी पुराणों में बृहस्पति है।

पञ्चम व्यास सविता थे। सर्वत्र यही नाम है। छठा, आठवां, नवां तथा दसवां नाम सर्वत्र मृत्यु (षष्ठ) वसिष्ठ (अष्ठम), सारस्वत (नवम) तथा त्रिधामा (दशम) हैं, न इनके दूसरे नाम पढ़े गये हैं और न मृत्यु के पर्यायवाचक नाम ही दिए गए हैं। सूर्य सिद्धान्त में भय का उपदेष्टा सूर्य, इस सविता से अभिन्न है। वृहदारण्यकोपनिषत् में ब्रह्म-परम्परा में प्रध्वंसन से मृत्यु प्राध्वंसन, मृत्यु से दैव अथर्वा का विद्याग्रहण बताया गया है (४/६/३)। सातवाँ व्यास क्रम इन्द्र का है। सर्वत्र इन्द्र नाम है, केवल इसी अध्याय में इन्द्र का दूसरा नाम शतक्रतु पढ़ा गया है।

ग्यारहवें व्यास के नामों में भयंकर अव्यवस्था है। तिष्ठत्, शरद्वान, त्रिशिख, त्रिवर्षा, ऋषभ, त्रिवृष तथा त्रिवृत हैं। यहाँ त्रिवृत् नाम लिया गया है। वायु ने १०३ में शरद्वान् लिया है, यही ब्रह्माण्ड में भी है। अन्य स्त्रोतों से इसकी शुद्धि अपेक्षित है। सुनिश्चित एक नाम वाले कुछ व्यास ये हैं - २४ वें परिवर्त के व्यास ऋक्ष हैं, यह वाल्मीकि का ही दूसरा नाम है, भार्गव भी तीसरा नाम है। इसके पश्चात् २५वाँ नाम शक्ति का है। शक्ति वसिष्ठ पुत्र हैं। २६, २७, २८ वें व्यास शक्ति के ही वंशज हैं, ये क्रमशः पराशर, जातूकर्ण्य और कृष्ण द्वैपायन हैं। जातूकर्ण्य पराशर के भ्राता तथा कृष्ण द्वैपायन व्यास के वेदगुरु हैं।

ये सभी व्यास प्रत्येक द्वापर के बताए गए हैं। निश्चित ही यह द्वापर ज्योतिष में स्वीकृत मानदण्ड से भिन्न है। यदि ज्योतिष का मान लिया जावे तो सम्भव ही नहीं है। यदि शक्ति तथा पराशर को भिन्न-भिन्न द्वापरों में माना जावे तो दोनों के मध्य ४३२०००० वर्षों का अन्तर आता है, क्या पिता-पुत्र के मध्य यह अन्तराल सम्भव है? पिता-पुत्र न होते हुए भी दो भाइयों पराशर तथा जातूकर्ण्य के मध्य भी एक चतुर्युगी का अन्तर आवेगा। जातूकर्ण्य के मध्य में आ जाने से पराशर और व्यास के मध्य ८६४००००(छियासी लाख चालीस हजार) वर्षों का अन्तराल होगा। पराशर और व्यास महाभारत में साथ-साथ बताए गए हैं। द्वापर समाप्ति के अभी पाँच सहस्त्र वर्ष ही बीते हैं। व्यास कृष्ण द्वैपायन शौनक के दीर्घ सत्र में भी नहीं थे। व्यास चतुर्युगी काल की आयु भोगते हैं, ये व्यास आज भी नहीं, यह अन्तर क्यों।"

वेदव्यास शक्ति एवं पराशर

वेदव्यासों के नामों की क्रमबद्ध आवृत्ति को देखकर प्रथम दृष्ट्या यह प्रतीत होता है कि ये ऋषिगण काल-क्रमानुसार निर्धारित अन्तराल में आविर्भूत हुये हैं। परन्तु सम्पूर्ण सूची में कई नाम समकालीन दिखाई दे रहे हैं, इनमें अत्रि, वाल्मीकि, गौतम, भरद्वाज, वसिष्ठ, शक्ति एवं पराशर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

विष्णु पुराणानुसार वेदव्यासों के उक्त वर्णन के क्रम में १८ वें श्लोक में पराशर द्वारा भृगुवंशी महर्षि ऋक्ष को चौबीसवाँ वेदव्यास बताया गया है, जो वाल्मीकि कहलाये। पराशर जी कहते हैं कि इसके पश्चात् हमारे पिता शक्ति (पच्चीसवें) और फिर मैं (पराशर) हुआ। इस कथन से इन दोनों महर्षियों के परस्पर पिता-पुत्र होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इस सम्बन्ध में विष्णुपुराण के ही निम्न श्लोकों में स्थिति बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है-

साधु मैत्रेय धर्मज्ञ स्मारितोऽस्मि पुरातनम्।
पितुः पिता मे भगवान् वसिष्ठो यदुवाच ह॥ १२॥
विश्वामित्रप्रयुक्तेन रक्षसा भक्षितः पुरा।
श्रुतस्तातस्ततः क्रोधो मैत्रेयाभून्ममातुलः॥१३॥
ततोऽहं रक्षसां सत्रं विनाशाय समारभम्।
भस्मीभूताश्च शतशस्तस्मिन्सत्रे निशाचराः॥१४॥
अलं निशाचरैर्दग्धैर्दीनैरनपकारिभिः।
सत्रं ते विरमत्वेतत्क्षमासारा हि साधवः॥२०॥
एवं तातेन तेनाहमनुनीतो महात्मना।
उपसंहृतवान्सत्रं सद्यस्तद्वाक्यगौरवात्॥२१॥
ततः प्रीतः स भगवान्वसिष्ठो मुनिसत्तमः।
सम्प्राप्तश्च तदा तत्र पुलस्त्यो ब्रह्मणः सुतः॥२२॥
वैरे महति यद्वाक्याद्गुरोरद्याश्रिता क्षमा।
त्वया तस्मात्समस्तानि भवाञ्च्छास्त्राणि वेत्स्यति॥२४॥

विष्णु पु० १/१/१२-१४, २०-२२ एवं २४

अर्थात् हे धर्मज्ञ मैत्रेय! मेरे पिताजी (शक्ति) के पिता (वसिष्ठ) ने जिसका वर्णन किया था, उस पूर्व प्रसङ्ग का तुमने मुझे अच्छा स्मरण कराया॥१२॥ हे मैत्रेय! जब मैंने (पूर्व प्रसङ्ग) सुना कि पिताजी को विश्वामित्र की प्रेरणा से राक्षस ने खा लिया है, तो मुझको बड़ा क्रोध आया॥१३॥ तब राक्षसों का ध्वंस करने के लिये मैंने यज्ञ करना प्रारम्भ किया, उस यज्ञ में सैकड़ों राक्षस जल कर

भस्म हो गये ॥१४॥ ..... इस पर मेरे पितामह वसिष्ठ ने समझाते हुये कहा कि अब इन बेचारे निरपराध राक्षसों को दग्ध करने से कोई लाभ नहीं; अपने इस यज्ञ को समाप्त करो। साधुओं का धन तो सदा क्षमा ही है ॥२०॥ महात्मा दादाजी के इस प्रकार समझाने पर उनकी बातों के गौरव का विचार करके मैंने वह यज्ञ समाप्त कर दिया ॥२१॥ इससे मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठ जी बहुत प्रसन्न हुये। उसी समय पुलस्त्य जी भी वहाँ आये ॥२२॥ .... तब पुलस्त्य जी बोले – तुमने चित्त में बड़ा वैर भाव रहने पर भी अपने बड़े-बूढ़े वसिष्ठ जी के कहने से क्षमा स्वीकार की है, इसलिये तुम सम्पूर्ण शास्त्रों के ज्ञाता होंगे ॥२४॥

विष्णु पुराण के उक्त अध्याय में ही निम्न श्लोक में पुलस्त्य द्वारा पराशर को पुराण-संहिताकार होने का वरदान देने का उल्लेख है-

पुराण संहिताकर्ता भवान्वत्स भविष्यति।
देवतापारमार्थ्यं च यथावद्वेत्स्यते भवान् ॥२६॥

विष्णु पु० १/१/२६

अर्थात् (पुलस्त्य ने कहा) हे वत्स! तुम पुराण संहिता के वक्ता होंगे और देवताओं के यथार्थ स्वरूप को जानोगे।

विष्णु पुराण के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि पच्चीसवें वेद व्यास शक्ति के पिता मैत्रावरुणि वसिष्ठ हैं तथा इन्हीं मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र पराशर हैं। मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र शाक्त्य पराशर ने अपनी माता अदृश्यन्ती से अपने पिता शक्ति का कल्माषपाद के हाथों वध होने का वृत्तान्त सुना तथा प्रतिशोध के वशीभूत होकर राक्षस-सत्र का आयोजन किया था, जिसका विस्तृत विवरण प्रसङ्गानुसार यथास्थान दिया गया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि मैत्रावरुणि महर्षि वसिष्ठ, उनके पौत्र शाक्त्य पराशर तथा पराशर के पिता शक्ति तीनों वेदव्यास हैं।

वेदव्यास के रूप में वेदों के विस्तारक उपर्युक्त वेदव्यास वसिष्ठ, शक्ति एवं पराशर की भूमिका मन्त्र-द्रष्टा के रूप में उल्लेखनीय रही है, जिसका संक्षिप्त विवरण देना प्रसङ्गानुसार उचित प्रतीत होता है।

वेदव्यास वसिष्ठ

वेदव्यासों की परम्परा में महर्षि वसिष्ठ को आठवाँ वेद व्यास बताया गया है। अब तक एकाधिक वसिष्ठ हो चुके हैं, जिनमें ब्रह्मा के मानस-पुत्रों तथा वैवस्वत मन्वन्तर के सप्तर्षियों में एक, निमि के समकालीन ऋषि तथा तत्पश्चात् मित्र-वरुण और उर्वशी के मानस पुत्र मैत्रावरुणि महर्षि वसिष्ठ प्रमुख हैं। यहाँ

यह उल्लेखनीय है कि आठवें वेदव्यास वसिष्ठजी वेदों के विस्तारक हैं, अतः वेदव्यासों के सम्बन्ध में किसी प्रकार के संशय की स्थिति विद्यमान नहीं है।

वसिष्ठ का इक्ष्वाकु कुल में भगवान राम से अनेक पीढ़ियों पूर्व हुये निमि के पुरोहित के रूप में उल्लेख आता है। उस जन्म में उक्त दोनों ही महानुभावों को पारस्परिक शाप से देह त्यागनी पड़ी और उनमें वसिष्ठ अगले जन्म में मित्र-वरुण और उर्वशी के (मानस) पुत्र के रूप में उत्पन्न हुये-

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाऽददन्त॥

ऋग्वेद ७/३३/११

पिजवन-पुत्र (पैजवन) सुदास के पुत्र मित्रसह (कल्माषपाद) इन्हीं मैत्रावरुणि वसिष्ठ के समकालीन हैं तथा कल्माषपाद तथा शक्ति के मध्य विवाद के कारण ही शक्ति सहित वसिष्ठ के सौ पुत्रों को मृत्यु का मुख देखना पड़ा था।

मैत्रावरुणि वसिष्ठ न केवल ऋग्वेद के सम्पूर्ण सप्तम मण्डल तथा नवम मण्डल के ९ सूक्तों के अधिकांश मन्त्रों के द्रष्टा हैं अपितु यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद के अनेक सूक्तों अथवा अध्यायों में अन्तर्विष्ट बड़ी संख्या में मन्त्रों के भी द्रष्टा हैं। अथर्ववेद के मन्त्रों के द्रष्टा होने के कारण वे आथर्वण नाम से भी लोकप्रिय हैं। इस प्रकार वेदों के मन्त्र-द्रष्टा के रूप में वेदों के विस्तार में उनकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण भूमिका को सर्वत्र स्वीकार किया गया है।

मन्त्र-द्रष्टा शक्ति

शक्ति सहित वसिष्ठ के १२ पुत्र मन्त्र-द्रष्टा रहे हैं। महर्षि शक्ति ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के तैतीसवें सूक्त के कई मन्त्रों के द्रष्टा हैं। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ३२ वें सूक्त के छब्बीसवें मन्त्र के निम्न पूर्वार्द्ध के द्रष्टा शक्ति हैं, जो कि उन्होंने राक्षसों द्वारा आग में फेंके जाने पर जलते हुये कहे-

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।

इस मन्त्र के निम्नांकित उत्तरार्द्ध भाग के द्रष्टा महर्षि वसिष्ठ हैं, जिन्होंने उसे पूर्ण किया-

शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥

ऋग्वेद ७/३२/२६

शक्ति ऋग्वेद के ही नवम मण्डल के १०८ वें सूक्त के भी अनेक मन्त्रों के द्रष्टा रहे हैं।

चूँकि ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के द्रष्टा महर्षि वसिष्ठ हैं, अतएव उन्होंने

इसके अनेक मन्त्रों में अपने पुत्र शक्ति, पौत्र पराशर, राजा सुदास व कल्माषपाद आदि का बार-बार उल्लेख किया है। ऋग्वेद के सातवें मण्डल के २१ वें सूक्त के १० वें मन्त्र में महर्षि शक्ति का उल्लेख दृष्टव्य है-

स न इन्द्र त्वयताया इषे धास्त्मना च ये मघवानो जुनन्ति।
वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

ऋग्वेद ७/२१/१०

मन्त्र-द्रष्टा महर्षि पराशर

वेदों में मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों में पराशर को बहुधा शाक्त्य पराशर के नाम से ही अभिहित किया जाता है। पराशर ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ९ सूक्तों के अधिकांश मन्त्रों के द्रष्टा रहे हैं। ऋग्वेद के ९ वें मण्डल के अतिरिक्त, सामवेद के पाँचवें तथा यजुर्वेद के तेतीसवें अध्याय के अनेक मन्त्रों के भी वे द्रष्टा हैं।

महर्षि वसिष्ठ, उनके पुत्र शक्ति एवं पौत्र पराशर, तीनों ही मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों का इस योगदान के फलस्वरूप ऋग्वेद में बारम्बार नामोल्लेख हुआ है-

प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः।
न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ताधा सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान्॥

ऋग्वेद ७/१८/२१

अर्थात् हे इन्द्रदेव! जिन्हें असुर मारना चाहते थे, ऐसे पराशर, वसिष्ठ आदि ऋषियों ने भक्तिपूर्वक आपकी स्तुति की है। आप उनके पालक हैं। अतः वे आपकी मित्रता को नहीं भूले। आपकी कृपा से ऋषियों को श्रेष्ठ दिवस (शुभ अवसर) प्राप्त हों।

उक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि महर्षि पराशर न केवल वेदव्यास हैं, अपितु अनेकानेक वेद मन्त्रों के स्वयं द्रष्टा ऋषि होने के कारण सही अर्थों में वेदों के विस्तारक भी हैं।

कृष्ण द्वैपायन

कृष्ण द्वैपायन को २८ वाँ वेदव्यास बताया गया है। विष्णु पुराण के निम्न श्लोक में वर्णन आया है - तदनन्तर २८ वें द्वापर युग में मेरे पुत्र (कृष्ण-द्वैपायन) ने इस चतुष्पादयुक्त एक ही वेद के चार भाग किये। परम बुद्धिमान् वेदव्यास ने उनका जिस प्रकार विभाग किया है, ठीक उसी प्रकार अन्यान्य वेदव्यासों ने तथा मैंने भी पहले किया था-

ततोऽत्र मत्सुतो व्यासो अष्टाविंशति मेऽन्तरे।
वेदमेकं चतुष्पादं चतुर्धा व्यभजत्प्रभुः॥२॥

यथा च तेन वै व्यस्ता वेदव्यासेन धीमता।
वेदास्तथा समस्तैस्तैर्व्यस्ता व्यस्तैस्तथा मया॥३॥

विष्णु पु० ३/४/२-३

उपर्युक्त श्लोकों से यह ज्ञात होता है कि पिता पराशर अपने पुत्र २८ वें वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन की वेदव्यास के रूप में भूमिका का महत्व बता रहे हैं कि जिस प्रकार पूर्व में मैंने तथा अन्य वेदव्यासों ने वेदों का विस्तार किया था, वैसे ही कृष्ण दैपायन ने भी चतुष्पादयुक्त एक ही वेद के चार भाग किये।

जब स्वयं पराशर तथा पूर्ववर्ती वेदव्यासों ने ही यह कार्य सम्पादित कर दिया था तो उसी को पुनः करने की क्या आवश्यकता थी। इस विषय में यही कहा जा सकता है कि वेदों के विभाजन का विषय अति दुरूह है, इस कारण विषयवार इसके संयोजन पर समय-समय पर पुनरावलोकन की व्यवस्था की गई थी, जिससे विस्मरण अथवा त्रुटिवश विशृंखलित विषय ऋक्, यजुः, साम अथवा अथर्ववेद के जिस भाग से सम्बद्ध है, उसका समावेश यथास्थान किया जा सके। इससे यह ध्वनित होता है कि सभी वेदव्यासों ने अपने स्तर पर न्यूनाधिक इस कार्य को किया है। एक वेद का विषय दूसरे वेद से सम्बन्धित लगता हो तो उसे भी उचित स्थान में स्थानान्तरित करने की प्रक्रिया परिशोधन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

मत्स्य पुराण के निम्न श्लोकों में नारद की बहिन अरुन्धती एवं वसिष्ठ के पुत्र शक्ति बताये गये हैं। शक्ति के पराशर पुत्र हुये। आगे वंश के बारे में जानकारी देते हुए स्वयं विष्णु के अवतार के रूप में कृष्ण द्वैपायन को पराशर का पुत्र कहा गया है -

वसिष्ठस्तूपयेमेऽथ भगिनीं नारदस्य तु।
अरुन्धतीं वरारोहां तस्यां शक्तिमजीजनत्॥३०॥
शक्तेः पराशरः पुत्रस्तस्य वंशं निबोध मे।
यस्य द्वैपायनः पुत्रः स्वयं विष्णुरजायत॥३१॥

मत्स्य पु. २०१/३०-३१

उपर्युक्त श्लोक में मैत्रावरुणि वसिष्ठ से लेकर कृष्ण द्वैपायन को उत्तरोत्तर पीढ़ियों में बताया गया है, परन्तु कृष्ण द्वैपायन का वसिष्ठ-पौत्र पराशर का पुत्र होना सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि कृष्ण द्वैपायन महाभारत कालीन हैं तथा वसिष्ठ एवं शाक्त्य पराशर कल्माषपाद के समकालीन, जो दाशरथि श्रीराम से भी पूर्व हुये हैं।

बहुधा वंशज होने के नाते पुत्र (अपत्य) मानने का तर्क निम्न श्लोकांश के आधार पर दिया जाता है, जिसके अनुसार एक पुत्र अपने पिता का पुत्र तो होता ही है, साथ ही साथ अपने पूर्वजों का भी पुत्र ही माना जाता है–[१]

अपत्यं पितुरेव स्यात् ततः प्राचामपीति च।

उक्त वचनों के आधार पर, कृष्ण द्वैपायन को शाक्त्य पराशर के वंश में उत्पन्न होने से पुत्र मानने में एक कठिनाई यह भी है कि उन्हें प्रत्यक्षतया सत्यवती एवं पराशर के संयोग से उत्पन्न बताया गया है, अतएव उन्हें शाक्त्य पराशर का पुत्र मानने का कोई कारण दिखाई नहीं देता –

एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यों पराशरात्।। महा०भा०आ०प० ६३/८६

कूर्म पुराण के निम्न श्लोकानुसार भी कृष्ण द्वैपायन पराशर के वंशज नहीं, अपितु पुत्र थे, जिनको पराशर ने भगवान शंकर की आराधना कर प्राप्त किया था –

आराध्य देवदेवेशमीशानं त्रिपुरान्तकम्।
लेभे त्वप्रतिमं पुत्रं कृष्णद्वैपायनं प्रभुम्।।

कूर्म पु० पूर्व वि० १८/२४

महादेव की आराधना के फलस्वरूप पराशर ने कृष्ण द्वैपायन को प्राप्त किया है, इस कारण भी उन्हें पराशर के वंश में उत्पन्न होने के नाते अपत्य अथवा पुत्र मानने की सम्भावना नहीं है, वे प्रत्यक्षतः उनके पुत्र हैं।

इस सम्बन्ध में निम्न बातें दिखाई देती हैं –

(१) कृष्ण द्वैपायन का मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र पराशर के वंश में अति दीर्घ अन्तराल में उत्पन्न होना सम्भव है;

(२) कृष्ण द्वैपायन का अन्य वंश में उत्पन्न किसी अन्य पराशर नाम के ऋषि का पुत्र होना सम्भव है। कृष्ण द्वैपायन के पिता का नाम भी पराशर होने के कारण भ्रम की यह स्थिति उत्पन्न हुई और सम्भवतया पूर्व-पराशर के वंश का इन दूसरे पराशर से सम्बन्ध जोड़ दिया गया।

(३) जहाँ तक दोनों पराशर के पृथक् अस्तित्व का प्रश्न है, इसके पक्ष में यह तथ्य दिया जा सकता है कि पूर्व पराशर की पत्नी एवं माता का नाम क्रमशः वत्सला तथा शक्ति पत्नी अदृश्यन्ती है, जबकि पश्चात्वर्त्ती पराशर से उत्पन्न पुत्र कृष्ण द्वैपायन की माता का नाम मत्स्यगन्धा अथवा सत्यवती है, जो कालान्तर में महाराजा शान्तनु की पत्नी एवं भीष्म की विमाता बनीं,

१. कल्याण : सूर्य अङ्क, वर्ष ५३ (१९७९) पृ. २२४.

उन्हें काली, योजनगन्धा आदि नामों से भी जाना जाता है।

विभिन्न काल-खण्डों में समान नाम के दो प्रमुख ऋषियों से भ्रम उत्पन्न होना सम्भव : ऐसा प्रतीत होता है कि दो विभिन्न काल-खण्डों में पराशर नाम के दो ऋषि हुये हैं, एक मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र तथा दूसरे अट्ठाइसवें वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन के पिता। अतः कालान्तर में कृष्ण द्वैपायन को भ्रमवश आठवें वेदव्यास महर्षि वसिष्ठ का प्रपौत्र समझ लिया जाना सम्भव है। एक ही वंश में उत्पन्न होने से अपत्य या पुत्र मान लेने की स्थापित परम्परा को नकारा नहीं जा सकता, तथापि कृष्ण द्वैपायन के विषय में यह लागू नहीं होता है, क्योंकि उन्हें पराशर एवं माता सत्यवती का पुत्र बताया गया है, जो महाभारतकालीन हैं।

वेदव्यासों का क्रम-विभाजन

वेदव्यासों के क्रम पर दृष्टिपात करने से हमारे समक्ष अंनेक विचारणीय प्रश्न उपस्थित होते हैं, जिनमें मुख्य निम्न हैं -

१. आठवें वेदव्यास मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पुत्र शक्ति एवं पौत्र पराशर क्रमशः पच्चीसवें एवं छब्बीसवें क्रम पर वेदव्यास बताये गये हैं, जबकि कृष्ण द्वैपायन अट्ठाईसवें क्रम पर आये हैं। शक्ति एवं पराशर का मैत्रावरुणि वसिष्ठ का क्रमशः पुत्र एवं पौत्र होना सिद्ध है, जो भगवान राम से भी कई पीढ़ी पूर्व हुये हैं।

   चूँकि शक्ति एवं पराशर पिता-पुत्र हैं, अतएव उनके मध्य एक महायुग (४३ लाख बीस हजार वर्ष) का सुदीर्घ अंतराल सम्भव प्रतीत नहीं होता है। यही बात शक्ति एवं वसिष्ठ के मध्य अन्तराल पर भी लागू होती है।

२. उपर्युक्त वेदव्यासों में अत्रि, भरद्वाज, गौतम, वाल्मीकि, शक्ति, पराशर एवं वसिष्ठ सभी समकालीन दिखाई देते हैं, ऐसी स्थिति में उनके मध्य बताई गई महायुगों की निर्धारित पौराणिक अवधि भी संभव प्रतीत नहीं होती। अतएव, समकालीन ऋषियों का क्रम वेदव्यास के रूप में उनके अवदान की दृष्टि से निर्धारित किया जाना संभव है। एक वेदव्यास से दूसरे के मध्य बताया गया अन्तराल (शक्ति एवं पराशर के दृष्टिकोण से) भी विचारणीय है। उनका जो क्रम दिया गया है, वह पीढ़ियों या काल-क्रम की निरन्तरता की दृष्टि से नये सिरे से मनन करने योग्य है। मैत्रावरुणि वसिष्ठ का आठवाँ तथा उनके पुत्र एवं पौत्र का क्रमांक २५ एवं २६ पर आना वंश क्रमागत दृष्टि से अव्यावहारिक प्रतीत होता है।

३. वेदव्यासों का १ से २८ तक का क्रम वेद व्यासों के रूप में उनके योगदान की दृष्टि से होना संभव है। अन्यथा एक ही वंश-क्रम की तीन पीढ़ियों - वसिष्ठ, शक्ति एवं पराशर का क्रमशः ८, २५ एवं २६ क्रमांक पर आना

संभव प्रतीत नहीं होता।

उपर्युक्त बिन्दुओं को दृष्टिंगत करते हुये वेदव्यासों के क्रम-निर्धारण की व्यावहारिकता पर विचार किया जाना समीचीन प्रतीत होता है।

प्राचीन काल-गणना एवं वेदव्यास

प्राचीन काल गणना के अनुसार वर्तमान में सातवें वैवस्वत मन्वन्तर की अट्ठाईसवीं चतुर्युगी चल रही है, जिसे महायुग भी कहा जाता है। पौराणिक मान्यतानुसार, प्रत्येक महायुग (कृत, त्रेता, द्वापर एवं कलि की चतुर्युगी) के द्वापर में वेद-व्यास का आविर्भाव होता है तथा प्रत्येक चतुर्युगी ४३,२०,००० वर्ष की होती है। अतः एक वेदव्यास से दूसरे वेदव्यास के मध्य भी इतना ही अन्तर समझा जाना चाहिये। इस गणना की दृष्टि से २७ वेदव्यासों के कार्यकाल की अवधि ११ करोड़ ६६ लाख ४० हजार वर्ष आती है। चूँकि अट्ठाईसवें वेद-व्यास का भी एक युग (द्वापर) बीत गया है, जिसकी अवधि ८,६४,००० वर्ष होती है, इसे मिलाकर ११ करोड़ ७५ लाख ४ हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि व्यतीत हो चुकी है तथा वर्तमान कलियुग के जो ५००० से अधिक वर्ष बीते हैं, वे इस गणना में सम्मिलित नहीं हैं।

मैत्रावरुणि वसिष्ठ के आविर्भाव, उनकी सन्तति- वेदव्यास शक्ति, पराशर एवं उनके द्वारा वेद-मंत्रों के साक्षात्कार का जो विवरण प्राप्त होता है, वे राजा कल्माषपाद के समकालीन हैं। भगवान राम कल्माषपाद से ११ पीढ़ी पश्चात् इसी सातवें वैवस्वत मन्वन्तर की २८ वीं चतुर्युगी के त्रेता में हुये हैं। त्रेता युग के पश्चात् द्वापर बीतकर राजा परीक्षित के शासन-काल के पूर्व द्वापर तक त्रेता युग सहित २१ लाख ६० हजार वर्ष की अवधि आती है। यदि भगवान राम का अवतार त्रेता के उत्तरार्द्ध में मानें तो भी उनके बाद द्वापर का सम्पूर्ण काल-खण्ड ८ लाख ६४ हजार वर्ष तो कम से कम व्यतीत हुआ ही है।

शक्ति एवं पराशर के मध्य अन्तर - चूँकि वेदव्यास का आविर्भाव एक चतुर्युगी के पश्चात् द्वापर में होने की पौराणिक मान्यता है। इस दृष्टि से शक्ति एवं पराशर के मध्य भी एक चतुर्युगी (४३ लाख बीस हजार वर्ष) का अन्तर होना चाहिये। जब दोनों का पिता-पुत्र होना निश्चित है तो ऐसी स्थिति में उनके मध्य इतना सुदीर्घ अन्तराल असम्भव प्रतीत होता है। अतः दो वेदव्यासों के मध्य एक चतुर्युगी की मान्यता का ठोस आधार दिखाई नहीं देता।

प्रत्येक द्वापर में वेदव्यास के आविर्भाव की मान्यता

महर्षि वसिष्ठ, शक्ति एवं उनके पुत्र पराशर का कल्माषपाद के समय में होना एक तथ्यपरक वास्तविकता है। यह काल द्वापर का काल न होकर त्रेता-

काल है। अतएव, प्रत्येक वेदव्यास के हर चतुर्युगी के द्वापर में आविर्भूत होने की मान्यता उक्त तीनों वेदव्यासों के सन्दर्भ में वास्तविकता से दूर प्रतीत होती है; कृष्ण द्वैपायन २८ वें वेद व्यास अवश्य द्वापर में ही आविर्भूत हुये हैं।

जहाँ तक युगों की गणना का प्रश्न है, यदि इसे पीढ़ियों के अन्तराल से देखें तो उसका विस्तार उपर्युक्त चतुष्पदी (४३,२०,००० वर्ष) की तुलना में बहुत संकुचित दिखाई देता है। इस सम्बन्ध में सूर्यवंशी राजाओं की पीढ़ियों पर दृष्टिपात् करना उचित होगा। राजा हरिश्चन्द्र को सतयुग में मानते हैं। राजा हरिश्चन्द्र से भगवान राम तक के विस्तृत काल-खण्ड के मध्य ३३ पीढ़ियाँ दिखाई देती हैं।[१] यदि इन पीढ़ियों में केवल प्रतापी एवं प्रमुख राजाओं की नामावली ही सम्मिलित करना मान लें और इनको पाँच या दस गुणा करके देखें तो भी इस दृष्टि से राजा हरिश्चन्द्र से भगवान राम तक के मध्य लगभग ५०००से १०००० वर्ष का अन्तराल होना चाहिए। अतः सूर्यवंशी राजाओं के वंशानुक्रम के आधार पर भी भारतीय मानव इतिहास के सन्दर्भ में विभिन्न युगों के काल खण्ड को बहुत ही संकुचित मानने एवं तदनुसार प्राचीन-मानदंडों के पुनर्निर्धारण की आवश्यकता प्रतीत होती है।

यह उल्लेख करना प्रासंगिक होगा कि सूर्यवंशी राजाओं की पीढ़ियों की तथ्यात्मकता का समावेश वेदों में सूक्ष्म रूप से यत्र-तत्र तथा पुराणों में सर्वत्र एवं विस्तृत रूप से दिखाई देता है। अतएव राजा हरिश्चन्द्र से भगवान राम एवं उनके वंशजों की पीढ़ियों के विस्तार पर किसी प्रकार की शङ्का करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता है। हाँ, इन वर्णित पीढ़ियों में ऐसी पीढ़ी के अनेक राजाओं का नामोल्लेख न होना स्वाभाविक है, जो ख्याति-प्राप्त नहीं थे।

काल के प्राचीन मानदण्डों का विवेचन

युग, मन्वन्तर एवं कल्प सम्बन्धी प्राचीन काल-गणना के मानदण्डों को सृष्टि की आयु तथा उसके विकास-क्रम की विभिन्न अवस्थाओं के रूप में देखा जाना चाहिये, क्योंकि मन्वन्तर एवं कल्पों के सुदीर्घ काल-खण्ड के आधार पर प्राचीन ऐतिहासिक इतिवृत्त तथा ऋषियों एवं राजवंशों के काल-क्रम का निर्धारण व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता है। अतएव प्राचीन ऋषियों व राजवंशों की पीढ़ियों की काल-गणना पृथक् से गम्भीर अनुसन्धान एवं गवेषणा का विषय है।

काल-गणना के प्राचीन मान-दण्डों के विवेचन एवं वंश व पीढ़ियों के अन्तराल की अवधि के निर्धारण के मामले में निम्न बिन्दु विचारणीय हैं :-

१. प्राचीन काल में सृष्टि-रचना की दृष्टि से युग, महायुग एवं मन्वन्तर के रूप

---

१. पौराणिक कोश - राणा प्रसाद शर्मा, द्वि० संस्करण, परिशिष्ट "ज" पृ. ५६८.

में विस्तीर्ण काल-खण्डों का निर्धारण भू-वैज्ञानिकों के पृथ्वी की आयु सम्बन्धी आज के दृष्टिकोण के भी सर्वथा अनुकूल है। इस पौराणिक काल-गणना के अनुसार श्वेतवाराह कल्प से प्रारम्भ सृष्टि के उदय की आयु वैवस्वत मन्वन्तर की वर्तमान २८वीं चतुर्युगी में आज तक १अरब ९७ करोड़ वर्ष के लगभग आती है। इतनी ही पृथ्वी की आयु आज के वैज्ञानिक बताते हैं।

२. वेदों एवं पुराणों में वर्णित राजवंशों की पीढ़ियों का जो वर्णन आया है, उनकी युग, चतुर्युगी तथा मन्वन्तरों के रूप में सृष्टि की काल-गणना के प्राचीन मान-दण्डों से तुलना करना व्यावहारिक रूप से सम्भव प्रतीत नहीं होता। मानव- इतिहास सम्बन्धी वर्ष, युग, मन्वन्तर एवं कल्प के काल-मापक मापदण्ड निश्चय ही बहुत छोटे रहे होंगे। वर्ष भाग को कहते हैं, यह समय अथवा भू का कोई भी भाग हो सकता है, छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा।

३. हमारे प्राचीन ऋषियों ने समय के माप की सबसे छोटी इकाई सामान्यतया त्रुटि मानी है, जो पल एवं क्षण की तुलना में बहुत सूक्ष्म है। इस अनुपात से दिन पक्ष एवं मास के आगे की इकाइयों की कालावधि का विस्तार अधिक है। वर्ष के पश्चात् और युग से पहले समय की कोई अन्य इकाई दिखायी नहीं देती, अतएव ३६० या ३६५ दिन की अवधि के एक वर्ष की इकाई के तत्काल बाद लाखों वर्ष की इकाई का आना सन्देह अवश्य उत्पन्न करता है। मानव इतिहास की दृष्टि से निश्चय ही युग की इकाई बताये गये लाखों वर्षों के स्थान पर कम अवधि की रही होगी, जैसा कि शब्दकोश के अनुसार बारह वर्ष की कालावधि को भी युग कहा गया है।

४. एक काल-खण्ड में एक ही नाम के भिन्न-भिन्न व्यक्ति पाये जाते हैं, विभिन्न काल-खण्डों में तो एक ही नाम के अनेक महापुरुषों का होना स्वाभाविक है, यही बात कृष्ण द्वैपायन के पिता पराशर के नाम पर भी लागू होना सम्भव है।

५. किसी प्रमुख वंश की परवर्ती सन्तानों को उसी वंश के पूर्वज के नाम से सम्बोधित करने की भारतीय परम्परा के कारण भी अति प्राचीन काल के महापुरुषों के बारे में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। जैसे राम के लिए रघुनन्दन शब्द का अर्थ रघु का वंशज है न कि रघु का पुत्र।

६. किसी पद, पीठ आदि पर अधिष्ठित ऋषियों-मुनियों की अन्तहीन वंश-परम्परा के व्यक्तियों को उसी पदनाम से जानने की प्रवृत्ति भी प्रायः भ्रम की स्थिति उत्पन्न करती है, जब तक उस पद पर आसीन व्यक्ति का पद के

साथ पृथक से निजी नाम का उल्लेख न हो।

इस सन्दर्भ में कल्याण के सूर्य अङ्क[1] के निम्न विवेचन को उद्धृत करना प्रासङ्गिक होगा–

''उदाहरण के लिये वसिष्ठ और विश्वामित्र के अस्तित्व को लिया जा सकता है, जो हरिश्चन्द्र और उनके पिता त्रिशंकु आदि राजाओं के समय में भी उपस्थित हैं तथा दशरथ और राम के समय में भी। इसी प्रकार, परशुराम भगवान् राम के समय में उनसे धनुर्भङ्ग के कारण विवाद करते देखे जाते हैं और महाभारत काल में भीष्म, कर्ण आदि को उन्होंने विद्या पढ़ायी, ऐसा भी वर्णन प्राप्त होता है। इसका तात्पर्य यह है कि वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि नाम पारम्परिक कुल नाम के बोधक हैं। जब तक किसी विशेष कारण से – प्रवर आदि की गणना के लिए नाम का परिवर्तन नहीं होता, तब तक वही नाम चलता रहता था। अनेक वर्णन-प्रसङ्गों में पुत्रादि शब्द का अर्थ उनका वंशज है।''

इस प्रसङ्ग में वेद-व्यास का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। अब तक इस मन्वन्तर में २८ वेद-व्यास हो चुके हैं, किंतु लोग प्रायः सत्यवती नन्दन कृष्ण द्वैपायन को ही वेद व्यास समझते हैं, जो २८ वें वेद-व्यास हैं।

७. हजारों-लाखों वर्षों के अन्तराल में विभिन्न शब्दों के प्रयोग, रूप एवं अर्थ में अन्तर आना स्वाभाविक है, जो कई बार भ्रम उत्पन्न करने का कारण बन सकता है।

८. वेद-पुराणों के सम्पादन-क्रम में विस्मृति अथवा जीर्ण-शीर्ण भोज-पत्रों पर हस्तलिखित विवरण या नामों के पढ़ने में भी भ्रान्ति उत्पन्न हो सकती है।

९. मंत्र-द्रष्टा मुनियों, उपनिषद्कारों एवं पुराणों के रचयिताओं के प्रसिद्धि-पराङ्.मुख रहने की प्रवृत्ति के कारण अपने द्वारा रचित ग्रन्थों में स्वयं के नाम का उल्लेख न करने से भी पीढ़ियों की काल-गणना में कठिनाइ आती है।

१० प्रायः राजवंशों के समान ऋषियों की पीढ़ियाँ क्रमबद्ध रूप से नहीं दर्शायी गई। एक ही ऋषि-वंश की परवर्ती पीढ़ियाँ अपने वंश के आदि पुरुष के नाम का प्रयोग करती आई हैं, इससे पूर्वजों की निश्चित काल-गणना करना बहुधा सम्भव नहीं होता।

अतः वेद व्यासों का क्रम-निर्धारण उनके योगदान अथवा अन्य किसी

---

१. कल्याण - सूर्याङ्क, वर्ष ५३ (१९७९) पृ० २२४.

वरिष्ठता आदि के आधार पर किया गया प्रतीत होता है।

वेदों का आविर्भाव

वेद-मन्त्रों के द्रष्टा ऋषियों का हमें विवरण उपलब्ध है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि जहाँ अधिकांश पौर्वात्य विद्वान् वेदों को अपौरुषेय मानते हैं, वहीं पाश्चात्य विद्वान पौरुषेय। इसके साथ-साथ, वेदों के रचना-काल के विषय में भी पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वानों में सामान्यतया मतैक्य नहीं पाया जाता है।

इस सम्बन्ध में शास्त्रार्थ-पञ्चानन पं. श्री प्रेमाचार्य शास्त्री का निम्न सारगर्भित कथन विशेष रूप से उल्लेखनीय है-[१]

"वेदों का आविर्भाव कब हुआ?" इस प्रश्न की भाँति 'वेदों की रचना किसने की?' यह जिज्ञासा भी पाश्चात्य एवं पौर्वात्य सभी वेदानुसंधाताओं को अनादि-काल से आकुल किये हुए है। भारतीय दार्शनिक भी वेदों के अनिर्वचनीय माहात्म्य के सम्मुख जहाँ एक मत से नतमस्तक हैं, वहीं उनके कर्तृत्व के विषय में पर्याप्त मतभेद दिखाई पड़ते हैं। पाश्चात्य वेदज्ञों ने तो ईसा से ५ से ६ हजार वर्ष पूर्व की रचना मानकर उनकी पौरुषेयता का स्पष्ट प्रतिपादन कर दिया है। उनका अभिप्राय है कि जिस प्रकार रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि लौकिक संस्कृत-ग्रन्थ, वाल्मीकि, व्यास एवं कालिदास आदि के द्वारा प्रणीत हैं, उसी प्रकार वेदों की काठक, कौथुम, तैत्तिरीय आदि शाखाएँ भी कठ आदि ऋषियों द्वारा रचित हैं। इसलिये पुरुषकर्तृक होने के कारण वेद पौरुषेय एवं अनित्य हैं।

कुछ विद्वान वेदों का पौरुषेय होना दूसरे प्रकार से सिद्ध करते हैं। उनका कहना है कि वेदों में यत्र-तत्र विशेषकर नाराशंसी गाथाओं के अन्तर्गत ऐतिहासिक सम्राटों एवं व्यक्तियों के नाम आते हैं। जैसे -

बबरः प्रावाहणिरकामयत (तै.सं. ७/१/१०/२)
कुसुरुबिन्द औद्दालकिरकामयत (तै.सं. ७/२/२/२)

इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि बबर, कुसुरुबिन्द आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों के बाद ही वेदों का निर्माण हुआ होगा। इससे पूर्व वेदों की सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार वेदों में इतिहास स्वीकार करने वालों की दृष्टि में भी वेद पौरुषेय हैं।

इस सम्बन्ध में एक तीसरी विचारधारा और भी है। इस विचारधारा के विद्वानों का कथन है कि वेदों में कई परस्पर असम्बद्ध एवं तथ्यहीन वाक्य उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिये निम्न वाक्य देखे जा सकते हैं-

---

१. कल्याण - वेद-कथाङ्क, वर्ष ७३ (१९९९) पृ० २२४-२६.

(क) **वनस्पतयः सत्रमासत।**

(ख) **सर्पाः सत्रमासत।**

(ग) **गवां मण्डूका ददत शतानि।**

इन वाक्यों में वर्णित जड़ वनस्पतियों द्वारा एवं चेतन होते हुये भी ज्ञानहीन सर्प, मण्डूक प्रभृति जीवों द्वारा यज्ञानुष्ठान किस प्रकार सम्भव हो सकता है? इसलिये उक्त वाक्य उन्मत्त के प्रलाप की भाँति जिस-किसी के द्वारा रचे गये हैं। अतः वेद नित्य अथवा अपौरुषेय कथमपि नहीं हो सकते।

इस विषय में भारतीय दर्शनशास्त्रों ने जो विचार किया, वह बहुत ही क्रमबद्ध और सोपपत्तिक है। उन विश्लेषणों की छाया में देखें तो उपर्युक्त तर्क बहुत ही सारहीन एवं तथ्यहीन प्रतीत होते हैं।

पूर्व मीमांसा में महर्षि जैमिनि ने **'वेदांश्चैके संनिकर्षं पुरुषाख्या'** और **'अनित्यदर्शनाच्च'** (जैमिनिसूत्र १/१/२७-२८) - इन दो सूत्रों के अन्तर्गत वेदों को अनित्य तथा पौरुषेय मानने वालों के तर्क का उपस्थापन करके फिर एक-एक का युक्ति प्रमाण-पुरस्सर खण्डन किया है। रामायण, महाभारत की भाँति काठक, तैत्तिरीय आदि वेदशाखाओं को भी मनुष्यकृत मानने वालों के लिये जैमिनि ऋषि कहते हैं कि वेदों की जिन शाखाओं के साथ ऋषियों का नाम सम्बद्ध है, वह उन शाखाओं के कर्तृत्व के कारण नहीं; अपितु प्रवचन के कारण है - **'आख्या प्रवचनात्'** (जैमिनिसूत्र १/१/३०)। प्रवचन का तात्पर्य है कि उन ऋषियों ने उन मन्त्र-संहिताओं का उपदेश किया था, प्रणयन नहीं। इसलिये मन्त्रों का साक्षात्कार करने के कारण विश्वामित्र प्रभृतियों को 'ऋषि' कहा जाता है, मन्त्रों का 'निर्माता' नहीं। निरुक्तकार यास्क ने भी **'साक्षात् कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः॥' 'ऋषिर्दर्शनात्'** (निरुक्त १/६/२०; २/३/१२) - ऐसा कहकर उक्त अर्थ की उपादेयता स्वीकार की है।

वेदों में इतिहास मानने वालों के सम्बन्ध में जैमिनि का कहना है कि तैत्तिरीय संहिता में जो बबर, कुसुरुबिन्द आदि नाम उपलब्ध होते हैं, वे सब ऐतिहासिक व्यक्तियों के ही हों; यह आवश्यक नहीं है। वहाँ बबर नामक किसी पुरुष विशेष का वर्णन नहीं है, अपितु ब-ब-र ध्वनि करने वाले प्रवहणशील वायु का ही यहाँ निर्देश है। इसी प्रकार अन्य भी जो शब्द हैं, वे सब शब्द-सामान्यमात्र ही समझने चाहिये -**'परं तु श्रुतिसामान्यम्'** (जैमिनि सूत्र १/१/३१)।

परन्तु वेदों में 'इतिहास का सर्वथा अभाव है', जैमिनि की यह स्थापना यास्क आदि पुरातन वेद-व्याख्याताओं के मत के विरुद्ध है। यास्क वेदों में

इतिहास स्वीकार करते हैं। **'कुशिकस्य सूनुः'** (ऋक्. ३/३३/५) की व्याख्या करते हुए यास्क स्पष्ट कहते हैं - **'कुशिको राजा बभूव'** (नि.अ. २, खं. २५)। किन्तु वेदों में इतिहास स्वीकार करते हुए भी यास्क वेदों को पौरुषेय अथवा अनित्य नहीं मानते। उनका अभिप्राय है कि वेदों में तत्तत् ऐतिहासिक व्यक्तियों के होने के कारण वेदों को उनके बाद की वस्तु नहीं कहा जा सकता। वेदों का ज्ञान त्रिकालबाधित है। कर-बदर के समान भूत-भव्य-भविष्य- तीनों कालों के सूक्ष्म वर्णन की शक्ति है। अतः लौकिक दृष्टि से भविष्य में होने वाले व्यक्तियों के वर्णन वेदों की नित्यता अथवा अपौरुषेयता के विरुद्ध नहीं है। व्यास-सूत्रों में वेदव्यासजी ने यही पक्ष स्थापित किया है कि वेदों में आये ऐतिहासिक पुरावृत्त-सम्बन्धी पदों को भावी अर्थ का ज्ञापक समझना चाहिये- **'भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।'** **'वनस्पतयः सत्रमासत'** - इत्यादि वाक्यों को उन्मत्त-वाक्यों की भाँति अनर्थक और मनुष्यकर्तृक बतलाने वालों के लिये मीमांसा का उत्तर है कि उक्त वाक्य उन्मत्त-प्रलाप की तरह अर्थहीन नहीं हैं, अपितु उनमें अर्थवाद होने के कारण यज्ञ की प्रशंसा से तात्पर्य है। वहाँ केवल इतना ही अभीप्सित अर्थ है कि जब जड़ वनस्पति और अज्ञानी सर्प भी यज्ञ करते हैं, तब चेतन, ज्ञानवान ब्राह्मणों को तो यज्ञ करना ही चाहिये।

यज्ञप्रशंसापरक इन वाक्यों को मनुष्यकर्तृक भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि यदि ज्योतिष्टोमादि यज्ञों के विधायक वाक्यों को मनुष्यनिर्मित मान भी लिया जाय तो भी **'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत्'** - इत्यादि वाक्यों में ज्योतिष्टोम यज्ञ को स्वर्ग-साधन-स्वरूप में जो वर्णित किया है, यह विनियोग किसी मनुष्य द्वारा निर्मित नहीं हो सकता। अर्थात् तत्तत् यज्ञों से तत्तत् फल होते हैं - यह साध्य-साधन-प्रक्रिया किसी साधारण पुरुष के द्वारा ज्ञात नहीं हो सकती। इसलिये वनस्पत्यादि सत्र-वाक्य भी ज्योतिष्टोमादि-विधायक वाक्यों के समान ही हैं - **'कृते वा नियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात्'** (जैमिनि सूत्र १/१/३२)। अतः ये सभी वेद-वाक्य पुरुष कर्तृक न होने के कारण अपौरुषेय ही हैं।

उत्तरमीमांसा में व्यासजी ने भी वेदों को नित्य तथा अपौरुषेय बताया है। वस्तुतः है भी यही बात। वेदों की शाश्वत वाणी नित्य एवं अपौरुषेय है। उसके प्रणयन में साक्षात् परमेश्वर भी कारण नहीं हैं, जहाँ श्रुति **'वाचा विरूप नित्यया'** (ऋक्. ८/७५/६) कहकर अपनी नित्यता का स्वयं उद्घोष करती है, वहीं स्मृतियाँ भी **'अनादि निधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा'** कहकर वेदों के नित्यत्व का प्रतिपादन करती हैं। जिस प्रकार साधारण प्राणों को भी श्वास-प्रश्वास-क्रिया में किसी विशेष प्रयत्न का आश्रय नहीं लेना पड़ता, जैसे निद्रा के समय भी श्वास-क्रिया स्वाभाविक रूप से स्वतः सम्पन्न होती रहती है, उसी

प्रकार वेद भी उस महान् भूत के निःश्वासभूत हैं–

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः साम-वेदोऽथर्वाङ्गिरसः। (बृहदारण्यक उप. ४/५/११)

महाप्रलय के बाद तिरोभूत हुए वेदों को क्रान्तिदर्शी ऋषि अपने उदात्त तपोबल से पुनः साक्षात्कार करके प्रकट कर देते हैं –

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा॥

पूर्व पुण्य के द्वारा जब मनुष्य वेद-ग्रहण की योग्यता प्राप्त करते हैं, तब ऋषियों में प्रविष्ट उस दिव्य वेद-वाणी को वे खोज पाते हैं –

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्॥

(ऋक्. १०/७१/३)

इस मन्त्र में पहले से ही विद्यमान वेदवाणी का ऋषियों में प्रविष्ट होना तथा उसका मनुष्यों द्वारा पुनः ढूँढ़ पाना वर्णित है। अतः वेद नित्य हैं। प्रलय के समय भी उसका विनाश नहीं होता, प्रत्युत तिरोधान मात्र होता है।

वेद अपौरुषेय हैं। दृष्ट के समान अदृष्ट वस्तु में भी बुद्धिपूर्वक निर्माण होने पर ही पौरुषेयता होती है – **'यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्'** (सा. सूत्र ५/५०)

परन्तु महाभूत के निःश्वास-रूप वेद तो अदृष्टवश स्वतः आविर्भूत होते हैं, उनमें बुद्धिपूर्वकता नहीं होती। अतः वेद किसी पुरुष द्वारा रचित कदापि नहीं हो सकते।

मीमांसकों ने शब्द की नित्यता बताते हुए नित्य एवं स्वतः प्रमाण कहकर उनकी अपौरुषेयता सिद्ध की थी, परन्तु उनके शब्द-नित्यत्व को नैयायिकों ने प्रबल तर्कों से खण्डित कर दिया है। नैयायिक शब्दों को नित्य नहीं अनित्य मानते हैं। तब क्या वेद भी अनित्य हैं? नहीं, वेद तो नित्य ही हैं। नैयायिक कहतें हैं कि शब्द की नित्यता के कारण वेद तो नित्य नहीं हैं; अपितु नित्य, सर्वज्ञ परमेश्वर द्वारा प्रणीत होने के कारण नित्य हैं।

आज के वैज्ञानिकों ने न्यायविदों के शब्द की अनित्यता सम्बन्धी तर्कों को निराधार सिद्ध कर दिखाया है और मीमांसकों के मत को अर्थात् शब्द की नित्यता को प्रमाणित किया है। आज का भौतिक विज्ञान भी कहता है कि उच्चरित होने के बाद शब्द नष्ट नहीं होता, अपितु वायुमण्डल में बिंखर जाता है। वैज्ञानिक यन्त्रों के सहारे उसे पुनः प्रकट किया जा सकता है। रेडियो, टेलीफोन

आदि यन्त्रों ने उनके इस कथन को प्रत्यक्ष भी कर दिखाया है।

आज का विज्ञान तो यहाँ तक दावा करता है कि भविष्य में इस प्रकार के यन्त्रों का आविष्कार हो जाने पर वायुमण्डल में तैरते उन शब्दों को भी पकड़ना सम्भव हो सकेगा, जिन शब्दों में भगवान श्रीकृष्ण ने आज से पाँच हजार वर्ष पूर्व अर्जुन को गीता का उपदेश दिया था। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि वे शब्द विनष्ट कदापि नहीं हुये हैं, अपितु वायुमण्डल में कहीं दूर निकल गये हैं। शान्त जल में कंकड़ फेंकने पर जैसे लहरों का क्रम परिधियाँ बनाता चलता है, उसी प्रकार वायुमण्डल में भी शब्द-लहरियाँ बनती हैं। अभिप्राय यह है कि आज के विज्ञान के अनुसार भी शब्द नित्य होता है। ऐसी स्थिति में मीमांसकों का जो अभिमत है कि नित्य-शब्दों का समुदाय होने के कारण वेद भी नित्य हैं और नित्य होने के कारण अपौरुषेय भी हैं, विज्ञानमूलक होने के कारण सुतरां प्रमाण-संगत ही है।

उपर्युक्त विवेचन का मथितार्थ यही है कि सभी भारतीय दार्शनिकों ने एक मत से वेदों को स्वतः आविर्भूत होने वाला नित्य-अपौरुषेय पदार्थ माना है। नैयायिक भी नित्य-सर्वज्ञ-पुरुष-परमेश्वर द्वारा प्रणीत होने के कारण अपौरुषेय कहते हैं; किसी साधारण पुरुष द्वारा निर्मित होने के कारण नहीं। अपने तपःपूत हृदयों में क्रान्तिदर्शी महर्षियों नें अपनी विलक्षण मेधा के बल पर वेदों का दर्शन किया था। उस दिव्य शाश्वत वेद-वाणी में लोकोत्तर निनाद का श्रवण किया था। तथ्य यह है कि वेद अपौरुषेय हैं, नित्य हैं, भारतीय दर्शनों एवं वेदानुरागियों का यही अभिमत और यही शाश्वत सत्य भी है।''

काल की अवधारणा

प्राचीन भारत के मनीषियों ने ज्योतिष (नक्षत्र विज्ञान) तथा काल-गणना के क्षेत्र में अत्यधिक चिन्तन, मनन एवं शोध किया है। अतः काल के प्रति हमारे प्राचीन ऋषियों और मनीषियों का तत्व-चिंतन बहुत गहन एवं चमत्कारिक है, जो पाश्चात्य विद्वानों के मन में आज भी विस्मय के साथ-साथ शङ्का उत्पन्न करता है। इसका स्पष्ट कारण काल के प्रति उनके तात्कालिक एवं दूर दृष्टिहीन दृष्टिकोण के साथ-साथ गम्भीर चिन्तन एवं अध्ययन का भी अभाव है। एक प्रमुख कारण यह भी है कि पाश्चात्य देशों में ऋषि-परम्परा का अभाव रहा है। उनमें लोगों को ज्ञानार्जन की ओर प्रवृत्त करने, अर्जित ज्ञान को अक्षुण्ण रखने आदि बातों के बारे में कोई व्यवस्थित परम्परा नहीं रही है, जैसा कि प्राच्य भारतीय ऋषियों तथा मनीषियों द्वारा समय-समय पर किया गया है।

वैशेषिक दर्शन[१] के अनुसार कुल नो द्रव्य माने गये हैं, जिनमें छठा द्रव्य

१. हिन्दू धर्म कोश - डॉ. राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. १७९.

काल है। यह कालरूपी द्रव्य सभी क्रियाओं में गति एवं परिवर्तन को उत्पन्न करने वाली शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है और इस प्रकार दो समयों के अन्तर को प्रकट करने का आधार है।

सातवाँ द्रव्य 'दिक्' (दिशा) काल को सन्तुलित करता है।

तन्त्र-मत से काल की अवस्थिति अन्तरिक्ष में है और इस काल से ही जरा (वृद्धावस्था) की उत्पत्ति होती है। भाषा परिच्छेद के अनुसार काल के पाँच गुण हैं- १. संख्या २. परिमाण ३. पृथकत्व ४. संयोग तथा ५. विभाग।

विष्णु पुराण में काल को परब्रह्म का रूप माना गया है-

परस्य ब्रह्मणो रूपं पुरुषः प्रथमं द्विज।
व्यक्ताव्यक्ते तथैवान्ये रूपे कालस्तथा परम्॥१५॥

विष्णु पु. १/२/१५

अर्थात् हे द्विज! परब्रह्म का प्रथम रूप पुरुष है, अव्यक्त (प्रकृति) और व्यक्त(महदादि)उसके अन्य रूप हैं तथा (सबको क्षोभित करने वाला होने से) काल उसका परम रूप है।

तिथ्यादितत्त्व में काल को इस प्रकार पारिभाषित किया गया है-[1]

अनादि निधनः कालो रुद्रः संकर्षणः स्मृतः।
कलनात् सर्वभूतानां स कालः परिकीर्तितः॥

अर्थात् काल को आदि और निधन (विनाश) रहित, रुद्र एवं संकर्षण कहा गया है। समस्त भूतों की कलना (गणना) करने के कारण यह काल ऐसा प्रसिद्ध है।

हारीत ने काल के स्वरूप एवं महत्व का विस्तृत वर्णन किया है-[1]

कालस्तु त्रिविधो ज्ञेयोऽतीतोऽनागत एव च।
वर्तमानस्तृतीयस्तु वक्ष्यामि शृणु लक्षणम्॥
कालः कलयते लोकं कालः कलयते जगत्।
कालः कलयते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते॥
कालस्य वशगाः सर्वे देवर्षिसिद्धकिन्नराः।
कालो हि भगवान् देवः स साक्षात्परमेश्वरः॥

---
१. हिन्दू धर्म कोष - डॉ. राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. १७९-८०.

सर्गपालनसंहर्ता स कालः सवर्तः समः।
कालेन कल्प्यते विश्वं तेन कालोऽभिधीयते॥

येनोत्पत्तिश्च जायेत येन वै कल्प्यते कला।
सोऽन्तवच्च भवेत्कालो जगदुत्पत्तिकारकः॥

यः कर्माणि प्रपश्येत् प्रकर्षे वर्तमानके।
सोऽपि प्रवर्तको ज्ञेयः कालः स्यात् प्रतिपालकः॥

येन मृत्युवशं याति कृतं येन जयं व्रजेत्।
संहर्ता सोऽपि विज्ञेयः कालः स्यात् कलनापरः॥

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजाः।
कालः स्वपिति जागर्ति कालो हि दुरतिक्रमः॥

अर्थात् काल तीन प्रकार का जानना चाहिए; अतीत (भूत), अनागत (भविष्य) और वर्तमान। इसका लक्षण कहता हूँ, सुनो। काल लोक की गणना करता है, काल जगत की गणना करता है, काल विश्व की गणना करता है, इसलिए यह काल कहलाता है। सभी देव, ऋषि, सिद्ध और किन्नर काल के वश हैं। काल स्वयं ही भगवान् देव है; वह साक्षात् परमेश्वर है। वह सृष्टि, पालन और संहार करने वाला है। वह काल सर्वत्र समान है। काल से ही विश्व की कल्पना होती है, इसलिए वह काल कहलाता है। जिससे उत्पत्ति होती है, जिससे कला की कल्पना होती है, वही जगत् की उत्पत्ति करने वाला, काल जगत् का अन्त करने वाला भी होता है। जो सभी कर्मों को बढ़ते हुए और होते हुए देखता है, उसी काल को प्रवर्तक जानना चाहिए। वही प्रतिपालक भी होता है। जिसके द्वारा किया हुआ विनाश को प्राप्त होता है, अथवा जय को प्राप्त होता है, वही काल संहर्ता और कलना में संलग्न है। काल ही सम्पूर्ण भूतों को उत्पन्न करता है, काल ही प्रजा का संहार करता है, काल ही सोता और जागता है। काल दुरतिक्रम है अर्थात् उसका कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता।

श्रीमद्भागवतपुराण (९.९.१)में काल को मृत्यु का पर्याय माना गया है–

कालं महान्तं नाशक्नोत् ततः कालेन संस्थितः।।१ ॥ उत्त. श्लोक

मेदिनीकोश में काल को ही महाकाल कहा गया है और दीपिका में शनि।"

ऋग्वेद में काल की व्याख्या

ऋग्वेद में 'वर्ष' को बहुत ही सुन्दर ढंग से व्याख्यायित किया गया है–

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्क्वोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥४८॥

ऋग्वेद १/१६४/४८

अर्थात् हे मनुष्यो! जिस रथ में एक पहिया, जिसके बारह अर (बारह महीने), जो चलती हुई भी हैं और स्थिर भी हैं, जिसमें तीन पहियों (तीन ऋतुओं) के बीच की नाभियों में उत्तमता से ठहरने वाली धुरी स्थापित किये हो, उस (वर्ष-काल) को कौन तर्क-वितर्क से जाने।

इसी प्रथम मण्डल की अन्य अनेक ऋचाओं में वर्ष के बारे में उल्लेख है, जिसके सात सौ बीस अहोरात्र बताये गये हैं।

ऋग्वेद में संवत्सर का अर्थ एक वर्ष है-

त्रयः केशिन ऋतुथा वि चक्षते संवत्सरे वपत एक एषाम्।
विश्वमेको अभि चष्टे शचीभिर्ध्राजिरेकस्य ददृशे न रूपम्॥

ऋग्वेद १/१६४/४४

अर्थात् हे मनुष्यो! तुम वायु, सूर्य और बिजली के समान अध्ययन-अध्यापन आदि कर्मों से विद्याओं को बढ़ाओ; जैसे अपने आत्मा का रूप नेत्र से नहीं दीखता वैसे विद्वानों की गति नहीं जानी जाती। जैसे ऋतु संवत्सर को आरम्भ करते हुये समय का विभाग करते हैं, वैसे कर्म्मारम्भ विद्या-अविद्या और धर्म-अधर्म को पृथक्-पृथक् करें।

वर्षों की अवधि सूर्य, चन्द्र, बृहस्पति आदि की गति के अनुसार निर्धारित की जाती है, इस कारण वे सौर, चान्द्र एवं ब्राहस्पत्य वर्ष के रूप में जाने जाते हैं।

युग की अवधि - वर्ष की भाँति युग भी भिन्न-भिन्न अवधि की काल-मापक इकाइयों का द्योतक है। 'युग' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया जाता है, जिनमें दो, चार व बारह की संख्या, पीढ़ी, जीवन, श्लोकार्ध तथा सृष्टि का युग आदि उल्लेखनीय हैं।[१]

अतः युग सदैव किसी अवधि विशेष के लिये प्रयुक्त नहीं किया गया है, एक दिन से लेकर कृत आदि चारों युगों की पृथक्-पृथक् सुदीर्घ कालावधि भी युग मानी जाती है।

इस प्रकार 'युग' शब्द में अल्पावधि से लेकर दीर्घावधि तक का तात्पर्य समाहित है।

---

१. संस्कृत हिन्दी कोश - ले. वामन शिवराम आप्टे, पृ. ८३६.

इस सम्बन्ध में ऋग्वेद की निम्न ऋचां अवलोकन योग्य है-

अश्वो न क्रन्दञ्जनिभिः समिध्यते वैश्वानरः कुशिकेभिर्युगेयुगे।
स नो अग्निः सुवीर्य्यं स्वश्व्यं दधातु रत्नममृतेषु जागृविः॥

ऋग्वेद ३/२६/३

अर्थात् जो मनुष्य लोग अग्नि को वाहन के चालन आदि कार्यों में नित्यप्रति (युगे-युगे) संप्रयुक्त करते हैं, तो हिनहिनाते हुये अश्व के समान यह अग्नि किस धन आदि की वृद्धि न करे अर्थात् सब वस्तुओं की वृद्धि में सक्षम है। यहाँ युग एक दिन है जबकि ऋग्वेद की ही एक अन्य ऋचा में (युग) शब्द की अवधि एक वर्ष या १० वर्ष की अनुमानित होती है-

दीर्घतमा मामतेयो जुजुर्वान्दशमे युगे।
अपामर्थं यतीनां ब्रह्मा भवति सारथिः॥

ऋग्वेद १/१५८/६

भावार्थ - जो इस संसार में अत्यन्त अविद्या एवं अज्ञान से युक्त हैं, वे शीघ्र (१० युगों या वर्षों में) रोगी हो जाते हैं और जो पक्षपात रहित संन्यासियों के सकाश से हर्ष-शोक तथा निन्दा-स्तुति रहित, विज्ञान और आनन्द को प्राप्त होते हैं, वे आप दुःख के पारगामी होकर औरों को भी उस पार करते हैं।

प्रकारान्तर से यहाँ ममता-पुत्र दीर्घतमा मुनि सम्बन्धी तथ्यों की ओर इंगित है, जिसमें ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि के एक सौ दस वर्ष में वृद्धावस्था को प्राप्त होने का उल्लेख है।[१]

युग से ५ वर्ष का आशय भी धर्मशास्त्र के इतिहास में माना गया है।[२]

काल गणना की इकाइयाँ

प्राचीन काल में काल या समय की सूक्ष्मतम इकाई जहाँ 'त्रुटि' मानी गई है, जो एक क्षण का भी २७०० वाँ भाग है, वहीं वृहत्तर इकाई मन्वन्तर एवं कल्प मानी गई है। आज के कम्प्यूटर-युग में भी काल की इतनी सूक्ष्म एवं वृहत्तर इकाइयों को देखकर पौर्वात्य एवं पाश्चात्य सभी वैज्ञानिक आश्चर्य करते हैं।

---

१. श्री राम शर्मा आचार्य द्वारा सम्पादित ऋग्वेद संहिता (भाग-१) में इस ऋचा में प्रयुक्त शब्द ही 'दशमे युगे' का अर्थ ११० वर्ष किया है, पृ. २३७.

२. धर्मशास्त्र का इतिहास- चतुर्थ भाग, भारतरत्न महामहोपाध्याय डॉ. पाण्डुरङ्ग वामनकाणे, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, १९८४, पृष्ठ २४७-४८.

प्रमुख धर्मग्रन्थों एवं पुराणादि में काल–गणना की इकाइयों के सम्बन्ध में जो वर्णन है, उसका अवलोकन करना समीचीन प्रतीत होता है।

श्रीमद्भागवतानुसार मानव वर्ष

श्रीमद्भागवत महापुराण में समय या काल की सूक्ष्मतम इकाई से लेकर मानव–वर्ष के मान–दण्डों के सम्बन्ध में सविस्तार वर्णन किया गया है–

अणुर्द्वौ परमाणू स्यात्त्रसरेणुस्त्रयः स्मृतः।
जालार्करश्म्यवगतः खमेवानुपतन्नगात्॥५॥

त्रसरेणुत्रिकं भुङ्क्ते यः कालःस त्रुटिः स्मृतः।
शतभागस्तु वेधः स्यात्तैस्त्रिभिस्तु लवः स्मृतः॥६॥

निमेषस्त्रिलवो ज्ञेय आम्नातस्ते त्रयः क्षणः।
क्षणान् पञ्च विदुः काष्ठां लघु ता दश पञ्च च॥७॥

लघूनि वै समाम्नाता दश पञ्च च नाडिका।
ते द्वे मुहूर्तः प्रहरः षड्यामः सप्त वा नृणाम्॥८॥

द्वादशार्धपलोन्मानं चतुर्भिश्चतुरङ्गुलैः।
स्वर्णमाषैः कृतच्छिद्रं यावत्प्रस्थजलप्लुतम्॥९॥

यामाश्चत्वारश्चत्वारो मर्त्यानामहनी उभे।
पक्षः पञ्चदशाहानि शुक्लः कृष्णश्च मानद॥१०॥

तयोः समुच्चयो मासः पितॄणां तदहर्निशम्।
द्वौ तावृतुः षडयनं दक्षिणं चोत्तरं दिवि॥११॥

अयने चाहनी प्राहुर्वत्सरो द्वादश स्मृतः।
संवत्सरशतं नृणां परमायुर्निरूपितम्॥१२॥

श्री मद्भागवत पुराण ३/११/५–१२

अर्थात् दो परमाणु मिलकर एक 'अणु' होता है और तीन अणुओं के मिलने से एक 'त्रसरेणु' होता है, जो झरोखे में से होकर आयी हुई सूर्य की किरणों के प्रकाश में आकाश में उड़ता देखा जाता है। ऐसे तीन त्रसरेणुओं को पार करने में सूर्य को जितना समय लगता है, उसे 'त्रुटि' कहते हैं। इससे सौ गुना काल 'वेध' कहलाता है और तीन वेध का एक 'लव' होता है। तीन लव को एक 'निमेष' और तीन निमेष को एक 'क्षण' कहते हैं। पाँच क्षण की एक 'काष्ठा' होती है और पंद्रह काष्ठा का एक 'लघु'। पंद्रह लघु की एक 'नाडिका' (दण्ड) कही जाती है, दो नाडिका का एक 'मुहूर्त' होता है और दिन के घटने–बढ़ने के अनुसार (दिन एवं रात्रि की दोनों सन्धियों के दो मुहूर्तों को छोड़कर) छः या सात नाडिका

का एक 'प्रहर' होता है। यह 'याम' कहलाता है, जो मनुष्य के दिन या रात का चौथा भाग होता है। छः पल ताँबे का एक ऐसा बरतन बनाया जाय, जिसमें एक प्रस्थ जल आ सके और चार माशे सोने की चार अंगुल लंबी सलाई बनवाकर उसके द्वारा उस बरतन के पेंदे में छेद करके उस बर्तन को जल में छोड़ दिया जाय। जितने समय में एक प्रस्थ जल उस बरतन में भर जाय, और बरतन जल में डूब जाय, उतने समय को एक 'नाडिका' कहते हैं। चार-चार पहर के मनुष्य के 'दिन' और 'रात' होते हैं और पंद्रह दिन-रात का एक 'पक्ष' होता है, जो शुक्ल और कृष्ण भेद से दो प्रकार का माना गया है। इन दोनों पक्षों को मिलाकर एक 'मास' होता है, जो पितरों का एक दिन-रात है। दो मास का एक 'ऋतु' और छः मास का एक 'अयन' होता है। अयन 'दक्षिणायन' और 'उत्तरायण' भेद से दो प्रकार का है। ये दोनों अयन मिलकर देवताओं के एक दिन-रात होते हैं तथा मनुष्यलोक में ये 'वर्ष' या बारह मास कहे जाते हैं।

मानव एवं पितृ वर्ष : मत्स्यपुराण

मत्स्यपुराण अध्याय १४२ में काल-गणना के मानवीय एवं दिव्य मान-दण्डों के विषय में सम्यक् प्रकाश डाला गया है।

लौकिकेन प्रमाणेन निष्पाद्याब्दं तु मानुषम्।
तेनापीह प्रसंख्याय वक्ष्यामि तु चतुर्युगम् ॥ ३ ॥

काष्ठा निमेषा दश पञ्च चैव त्रिंशच्च काष्ठां गणयेत् कलां तु।
त्रिंशत्कलाश्चैव भवेन्मुहुर्तस्तस्त्रिशता रात्र्यहनी समेते॥ ४॥

अहोरात्रे विभजते सूर्यो मानुषलौकिके।
रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः॥ ५॥

पित्र्ये रात्र्यहनी मासः प्रविभागस्तयोः पुनः।
कृष्णपक्षस्त्वहस्तेषां शुक्लः स्वप्नाय शर्वरी।।६ ॥

त्रिंशद् ये मानुषा मासाः पैत्रो मासः स उच्यते।
शतानि त्रीणि मासानां षष्ट्या चाभ्यधिकानि तु।
पैत्रः संवत्सरो ह्येष मानुषेण विभाव्यते॥ ७ ॥

मानुषेणैव मानेन वर्षाणां यच्छतं भवेत्।
पितृणां तानि वर्षाणि संख्यातानि तु त्रीणि वै।
दश च द्व्यधिका मासाः पितृसंख्येह कीर्तिताः॥ ८॥

लौकिकेन प्रमाणेन अब्दो यो मानुषः स्मृतः।
एतद्दिव्यमहोरात्रमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।। ९॥

अर्थात् लौकिक प्रमाण के द्वारा मानवीय वर्ष का आश्रय लेकर उसी के अनुसार गणना करके चारों युगों का प्रमाण बतला रहा हूँ। पंद्रह निमेष (आँख के खोलने और मूँदने का समय) की एक काष्ठा और तीस काष्ठा की एक कला मानी जाती है। तीस कला का एक मुहूर्त होता है और तीस मुहूर्त के रात-दिन दोनों होते हैं। सूर्य मानवीय लोक में दिन-रात का विभाजन करते हैं। उनमें रात्रि जीवों के शयन करने के लिये और दिन कर्म में प्रवृत्त होने के लिये है। पितरों के रात-दिन का एक लौकिक मास होता है। उनमें रात-दिन का विभाग है। पितरों के लिये कृष्ण पक्ष दिन है और शुक्ल पक्ष शयन करने के लिये रात्रि है। मनुष्यों के तीस मास का पितरों का एक मास कहा जाता है। इस प्रकार तीन सौ साठ मानव-मासों का एक पितृ-वर्ष होता है। यह गणना मानवीय गणना के अनुसार की जाती है। मानवीय गणना के अनुसार मानव के एक सौ वर्ष पितरों के तीन वर्ष के बराबर माने गये हैं। इस प्रकार पितरों के बारहों महीनों की संख्या बतलायी जा चुकी। लौकिक प्रमाण के अनुसार जिसे एक मानव-वर्ष कहते हैं, वही देवताओं का एक दिन-रात होता है-ऐसी वैदिकी श्रुति है ॥ ३-९ ॥

दिव्य गणना-विधि : मत्स्यपुराण - मत्स्य पुराण के ही निम्न श्लोकों में दिव्य वर्ष की गणना-विधि का निम्नानुसार उल्लेख है-

दिव्ये रात्र्यहनी वर्षं प्रविभागस्तयोः पुन :।
अहस्तु यदुदक्चैव रात्रिर्या दक्षिणायनम्।
एते रात्र्यहनी दिव्ये प्रसंख्याते तयोः पुन :॥१०॥

त्रिंशद् यानि तु वर्षाणि दिव्यो मासस्तु स स्मृतः।
मानुषाणां शतं यच्च दिव्या मासास्त्रयस्तु वै।
तथैव सह संख्यातो दिव्य एष विधिः स्मृतः॥११॥

त्रीणि वर्षशतान्येवं षष्टिर्वर्षास्तथैव च।
दिव्यः संवत्सरो ह्येष मानुषेण प्रकीर्तितः॥ १२॥

त्रीणि वर्षसहस्राणि मानुषेण प्रमाणतः।
त्रिंशदन्यानि वर्षाणि स्मृतः सप्तर्षिवत्सरः॥१३॥

नव यानि सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि च।
वर्षाणि नवतिश्चैव ध्रुवसंवत्सरः स्मृतः॥ १४॥

षट्त्रिंशत् तु सहस्राणि वर्षाणां मानुषाणि च।
षष्टिश्चैव सहस्राणि संख्यातानि तु संख्यया।
दिव्यं वर्षसहस्रं तु प्राहुः संख्याविदो जनाः॥ १५॥

इत्येतद् ऋषिभिर्गीतं दिव्यया संख्यया द्विजाः।
दिव्येनैव प्रमाणेन युगसंख्या प्रकल्पिता॥ १६॥

चत्वारि भारते वर्षे युगानि ऋषयोऽब्रुवन्।
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चैवं चतुर्युगम्॥ १७॥

पूर्वं कृतयुगं नाम ततस्त्रेताभिधीयते।
द्वापरं च कलिश्चैव युगानि परिकल्पयेत्॥१८॥

चत्वार्याहुः सहस्त्राणि वर्षाणां तत्कृतं युगम्।
तस्य तावच्छती संध्या संध्यांशश्च तथाविधः॥ १९॥

इतरेषु ससंध्येषु ससंध्यांशेषु च त्रिषु।
एकपादे निवर्तन्ते सहस्त्राणि शतानि च॥ २०॥

मत्स्य पु० १४२/१०-२०

अर्थात् मानवीय वर्ष के अनुसार जो देवताओं के रात-दिन होते हैं, उनमें भी पुनः विभाग हैं। उनमें उत्तरायण को देवताओं का दिन और दक्षिणायन को रात्रि कहा जाता है। इस प्रकार दिव्य रात-दिन की गणना बतलायी जा चुकी। तीस मानवीय वर्षों का एक दिव्य मास बतलाया जाता है। इसी प्रकार सौ मानवीय वर्षों का तीन दिव्य मास (देवताओं का) माना गया है। यह दिव्य गणना विधि कही जाती है। मानुष-गणना के अनुसार तीन सौ साठ वर्षों का एक दिव्य (देव) वर्ष कहा गया है। मानुष-गणना के अनुसार तीन हजार तीस वर्षों का एक सप्तर्षि (ध्रुव) संवत्सर कहलाता है। छियानबे हजार मानुष-वर्षों का एक हजार दिव्य वर्ष होता है-ऐसा गणितज्ञ लोग कहते हैं। द्विजवरो! इस प्रकार ऋषियों द्वारा दिव्य गणना के अनुसार यह गणना बतलायी गई है। इसी दिव्य प्रमाण के अनुसार युग-संख्या की भी कल्पना की गयी है। ऋषियों ने इस भारतवर्ष में चार युग बतलाये हैं। उन चारों युगों के नाम हैं-कृत, त्रेता, द्वापर और कलि। इनमें सर्वप्रथम कृतयुग, तत्पश्चात् त्रेता, तब द्वापर और कलियुग आने की परिकल्पना की गयी है। उनमें कृतयुग चार हजार (दिव्य) वर्षों का बतलाया जाता है। इसी प्रकार चार सौ वर्षों की उसकी संध्या और चार सौ वर्षों का संध्यांश होता है। इसके अतिरिक्त संध्या और संध्यांश सहित अन्य तीनों युगों में हजारों और सैकड़ों की संख्या में एक-एक चतुर्थांश कम हो जाता है।

त्रेता त्रीणि सहस्त्राणि युगसंख्याविदो विदुः।
तस्यापि त्रिशती संध्या संध्यांशः संध्यया समः॥२१॥

द्वे सहस्त्रे द्वापरं तु संध्यांशौ तु चतुःशतम्।
सहस्त्रमेकं वर्षाणां कलिरेव प्रकीर्तितः।
द्वे शते च तथान्ये च संध्यासंध्यांशयोः स्मृते॥२२॥

एषा द्वादशसाहस्त्री युगसंख्या तु संज्ञिता।
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुष्टयम्॥२३॥

तत्र संवत्सराः सृष्टा मानुषास्तान् निबोधत।
नियुतानि दश द्वे च पञ्च चैवात्र संख्यया।
अष्टाविंशत्सहस्त्राणि कृतं युगमथोच्यते॥ २४॥

प्रयुतं तु तथा पूर्णं द्वे चान्ये नियुते पुनः।
षण्णवतिसहस्त्राणि संख्यातानि च संख्यया।
त्रेतायुगस्य संख्यैषा मानुषेण तु संज्ञिता॥२५॥

अष्टौ शतसहस्त्राणि वर्षाणां मानुषाणि तु।
चतुःषष्टिसहस्त्राणि वर्षाणां द्वापरं युगम्॥ २६ ॥

चत्वारि नियुतानि स्युर्वर्षाणि तु कलिर्युगम्।
द्वात्रिंश्च तथान्यानि सहस्त्राणि तु संख्यया।
एतत् कलियुगं प्रोक्तं मानुषेण प्रमाणतः॥ २७॥

एषा चतुर्युगावस्था मानुषेण प्रकीर्तिता।
चतुर्युगस्य संख्याता संध्या संध्यांशकैः सह ॥ २८॥

मत्स्य पु० १४२/२१-२८

अर्थात् इस प्रकार युगसंस्था ज्ञाता लोग त्रेता का प्रमाण तीन हजार वर्ष, उसकी संध्या का प्रमाण तीन सौ वर्ष और संध्या के बराबर ही संध्यांश का प्रमाण तीन सौ वर्ष बतलाते हैं। द्वापर का प्रमाण दो हजार वर्ष और उसकी संध्या तथा संध्यांश का प्रमाण दो-दो सौ, अर्थात् चार सौ वर्षों का होता है। कलियुग एक हजार वर्षों का बतलाया गया है तथा उसकी संध्या और संध्यांश मिलकर दो सौ वर्षों के होते हैं। इस प्रकार कृतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग-ये चार युग होते हैं और इनकी काल-संख्या बारह हजार दिव्य वर्षों की बतायी गयी है। मानुष वर्ष के अनुसार इन युगों में कृतयुग सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्षों का कहा जाता है। इसी मानुष गणना के अनुसार त्रेतायुग की वर्ष-संख्या बारह लाख छानबे हजार बतलायी गयी है। द्वापरयुग आठ लाख चौसठ हजार मानुष वर्षों का होता

है। मानुष गणना के अनुसार कलियुग का मान चार लाख बत्तीस हजार वर्षों का कहा गया है। चारों युगों की यह अवस्था मानव-गणना के अनुसार बतलायी गयी है। इस प्रकार संध्या और संध्यांश सहित चारों युगों की संख्या बतलायी गई है। ॥ २१-२८ ॥

मन्वन्तर : मत्स्य पुराण - निम्न श्लोकों में मानव एवं दिव्य वर्षों में मन्वन्तरादि का मान बताया गया है-

एषा चतुर्युगाख्या तु साधिका त्वेकसप्ततिः।
कृतत्रेतादियुक्ता सा मनोरन्तरमुच्यते॥ २९ ॥
मन्वन्तरस्य संख्या तु मानुषेण निबोधत।
एकत्रिंशत् तथा कोट्यः संख्याताः संख्यया द्विजैः॥ ३० ॥
तथा शतसहस्राणि दश चान्यानि भागशः।
सहस्राणि तु द्वात्रिंशच्छतान्यष्टाधिकानि च ॥ ३१ ॥
आशीतिश्चैव वर्षाणि मासाश्चैवाधिकास्तु षट्।
मन्वन्तरस्य संख्यैषा मानुषेण प्रकीर्तिता॥ ३२ ॥
दिव्येन च प्रमाणेन प्रवक्ष्याम्यन्तरं मनोः।
सहस्राणां शतान्याहुः स च वै रिसंख्यया॥३३ ॥
चत्वारिंशत् सहस्राणि मनोरन्तरमुच्यते।
मन्वन्तरस्य कालस्तु युगैः सह रिकीर्तितः॥३४ ॥
एषा चतुर्युगाख्या तु साधिका ह्येकसप्ततिः।
क्रमेण परिवृत्ता सा मनोरन्तरमुच्यते॥ ३५ ॥
एतच्चतुर्दशगुणं कल्पमाहुस्तु तद्विदः।
ततस्तु प्रलयः कृत्स्नः स तु सम्प्रलयो महान्॥३६ ॥
कल्पप्रमाणे द्विगुणो यथा भवति संख्यया।
चतुर्युगाख्या व्याख्याता कृतं त्रेतायुगं चै॥३७ ॥
त्रेतासृष्टिं प्रवक्ष्यामि द्वापरं कलिमेव च।
युगपत्समवेतौ द्वौ द्विधा वक्तुं न शक्यते॥३८ ॥

मत्स्य पु० १४२/२९-३८

अर्थात् इन कृतयुग, त्रेता आदि युगों की यह चौकड़ी जब इकहत्तर बार बीत जाती है, तब उसे एक मन्वन्तर कहते हैं। मानव-वर्ष के अनुसार एक मन्वन्तर की वर्ष-संख्या इकतीस करोड़ दस लाख बत्तीस हजार आठ सौ अस्सी

वर्ष छः महीने की बतलायी जाती है। आगे, दिव्य गणना के अनुसार मन्वन्तर का वर्णन किया जा रहा है। एक मनु का कार्य-काल एक लाख चालीस हजार दिव्य वर्षों का बतलाया जाता है। चारों युगों की यह चौकड़ी जब क्रमशः इकहत्तर बार बीत जाती है, तब उसे एक मन्वन्तर कहते हैं।

महा प्रलय : मत्स्य पुराण – मन्वन्तर के चौदह गुने काल को एक कल्प कहा जाता है। इसके बाद सारी सृष्टि का विनाश हो जाता है, जिसे महाप्रलय कहते हैं। महाप्रलय का समय कल्प के समय से दुगुना होता है। इस प्रकार कृतयुग, त्रेता ये दोनों परस्पर सम्बद्ध हैं, अतः इनका पृथक् रूप से वर्णन नहीं किया जा सकता।

विष्णु पुराणानुसार काल-गणना

विष्णुपुराण में काल-गणना के मान-दण्डों का उल्लेख निम्न प्रकार है –

काष्ठा पञ्चदशाख्याता निमेषा मुनिसत्तम।
काष्ठ त्रिंशत्कला त्रिंशत्कला मौहूर्तिको विधिः ॥८॥

तावत्संख्यैरहोरात्रं मुहूर्त्तैर्मानुषं स्मृतम्।
अहोरात्राणि तावन्ति मासः पक्षद्वयात्मकः ॥९॥

तैः षड्भिरयनं वर्षं द्वेऽयने दक्षिणोत्तरे।
अयनं दक्षिणं रात्रिर्देवानामुत्तरं दिनम्॥ १०॥

दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम्।
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे ॥११॥

चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम्।
दिव्याब्दानां सहस्राणि युगेष्वाहुः पुराविदः ॥१२॥

तत्प्रमाणैः शतैः सन्ध्या पूर्वा तत्राभिधीयते।
संध्यांशश्चैव तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि सः ॥१३॥

सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तम।
युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञितः ॥१४॥

कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिश्चैव चतुर्युगम्।
प्रोच्यते तत्सहस्रं च ब्रह्मणो दिवसं मुने ॥१५॥

ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन्मनवस्तु चतुर्दश।
भवन्ति परिमाणं च तेषां कालकृतं शृणु ॥१६॥

सप्तर्षयः सुराः शक्रो मनुस्तत्सूनवो नृपाः।
एककाले हि सृज्यन्ते संह्रियन्ते च पूर्ववत्॥१७॥

चतुर्युगाणां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः।
मन्वन्तरं मनोः कालः सुरादीनां च सत्तम॥१८॥

अष्टौ शत सहस्त्राणि दिव्यया संख्यया स्मृतम्।
द्विपञ्चाशत्तथान्यानि सहस्त्राण्यधिकानि तु॥१९॥

त्रिंशत्कोट्यस्तु सम्पूर्णाः संख्याताः संख्यया द्विज।
सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि महामुने॥२०॥

विंशतिस्तु सहस्त्राणि कालोऽयमधिकं विना।
मन्वन्तरस्य संख्येयं मानुषैर्वत्सरैर्द्विज॥२१॥

चतुर्दशगुणो ह्येष कालो ब्राह्ममहः स्मृतम्।
ब्राह्मो नैमित्तिको नाम तस्यान्ते प्रतिसञ्चरः॥२२॥

तदा हि दह्यते सर्वं त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम्।
जनं प्रयान्ति तापार्ता महर्लोकनिवासिनः॥२३॥

एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः।
भोगिशय्यां गतः शेते त्रैलोक्यग्रासबृंहितः॥२४॥

जनस्थैर्योगिभिर्देवश्चिन्त्यमानोऽब्जसम्भवः।
तत्प्रमाणां हि तां रात्रिं तदन्ते सृजते पुनः॥२५॥

एवं तु ब्रह्मणो वर्षमेवं वर्षशतं च यत्।
शतं हि तस्य वर्षाणां परमायुर्महात्मनः॥२६॥

एकमस्य व्यतीतं तु परार्द्धं ब्रह्मणोऽनघ।
तस्यान्तेऽभून्महाकल्पः पाद्म इत्यभिविश्रुतः॥२७॥

द्वितीयस्य परार्द्धस्य वर्तमानस्य वै द्विज।
वाराह इति कल्पोऽयं प्रथमः परिकीर्तितः॥२८॥

विष्णु पु० १/३/८-२८

अर्थात् पन्द्रह निमेष को काष्ठा कहते हैं, तीस काष्ठा की एक कला तथा तीस कला का एक मुहूर्त्त होता है। तीस मुहूर्त्त का मनुष्य का एक दिन-रात कहा जाता है और उतने ही दिन-रात का दो पक्षयुक्त एक मास होता है। छः महीनों का

एक अयन और दक्षिणायन व उत्तरायण दो अयन मिलकर एक वर्ष होता है। दक्षिणायन देवताओं की रात्रि है और उत्तरायण दिन। देवताओं के बारह हजार वर्षों के सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग नामक चार युग होते हैं। पुरातत्त्व के जानने वाले सतयुग आदि का परिमाण क्रमशः चार, तीन, दो और एक हजार दिव्य वर्ष बतलाते हैं। प्रत्येक युग के पूर्व उतने ही सौ वर्ष की सन्ध्या बतायी जाती है और युग के पीछे उतने ही परिमाण वाले सन्ध्यांश होते हैं (अर्थात् सतयुग आदि के पूर्व क्रमशः चार, तीन, दो और एक सौ दिव्य वर्ष की संध्याएँ और इतने ही वर्ष के सन्ध्यांश होते हैं)। इन सन्ध्या और सन्ध्यांशों के बीच का जितना काल होता है, वह सतयुग आदि नामवाले युग से जाना जाता है।

सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलि ये मिलकर चतुर्युग या महायुग कहलाते हैं; ऐसे हजार चतुर्युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है। ब्रह्मा के एक दिन में चौदह मनु होते हैं। उनका कालकृत परिमाण इस प्रकार है। सप्तर्षि, देवगण, इन्द्र, मनु और मनु के पुत्र राजालोग (पूर्वकल्पानुसार) एक ही काल में रचे जाते हैं और एक ही काल में उनका संहार किया जाता है। इकहत्तर चतुर्युग से कुछ अधिक काल का एक मन्वन्तर होता है। ७१ चतुर्युग के हिसाब से १४ मन्वन्तरों में ९९४ चतुर्युग होते हैं, जबकि ब्रह्मा के एक दिन में १००० चतुर्युग होते हैं। इसी गणना से ७१ चतुर्युगियों से कुछ अधिक अवधि आती है। यही मनु और देवता आदि का काल है। इस प्रकार दिव्य वर्ष-गणना से एक मन्वन्तर में आठ लाख बावन हजार वर्ष बताये जाते हैं। मानवी वर्ष-गणना के अनुसार मन्वन्तर का परिमाण पूरे तीस करोड़ सरसठ लाख बीस हजार वर्ष है, इससे अधिक नहीं। इस काल का चौदह गुणा ब्रह्मा का दिन होता है, इसके अनन्तर नैमित्तिक नामवाला ब्राह्म-प्रलय होता है।

उस समय भूर्लोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक तीनों जलने लगते हैं और महर्लोक में रहने वाले सिद्धगण अति सन्तप्त होकर जनलोक को चले जाते हैं। इस प्रकार त्रिलोकी के जलमय हो जाने पर जनलोकवासी योगियों द्वारा ध्यान किये जाते हुए नारायणरूप कमलयोनि ब्रह्माजी त्रिलोकी के ग्रास से तृप्त होकर दिन के बराबर ही परिमाण वाली उस रात्रि में शेषशय्या पर शयन करते हैं और उसके बीत जाने पर पुनः संसार की सृष्टि करते हैं। इसी प्रकार (पक्ष, मास आदि) गणना से ब्रह्मा का एक वर्ष और फिर सौ वर्ष होते हैं। ब्रह्मा के सौ वर्ष ही उस महात्मा (ब्रह्मा) की परमायु है। उन ब्रह्माजी का एक परार्द्ध बीत चुका है। उसके अन्त में पाद्म नाम से विख्यात महाकल्प हुआ था। हे द्विज! इस समय उनके दूसरे परार्द्ध का यह वाराह नामक पहला कल्प कहा गया है।

स्कन्दपुराणानुसार कालगणना[१] - स्कन्दपुराण में मानवीय, पितृ एवं देवताओं की काल-गणना के मान-दण्डों का उल्लेख किया गया है। स्कन्दपुराण के अनुसार इकहत्तर से कुछ अधिक महायुगों की मनु की आयु मानी गई है। इसे ही मन्वन्तर कहा जाता है। चौदह मनुओं का काल (१४ मन्वन्तर) समाप्त हो जाने पर ब्रह्मा का एक दिन होता है। एक हजार चतुर्युगियों का एक कल्प होता है। ऐसे तीस कल्प माने गये हैं, जो ब्रह्माजी के एक मास की अवधि के समान है। ऐसे सौ वर्षों को ब्रह्माजी की आयु का पूर्वार्द्ध माना जाता है, इतना ही काल उनकी आयु का उत्तरार्द्ध है।

उपर्युक्त पुराणों की काल-गणना के अनुसार सौर एवं दिव्य वर्षों का मान एक दृष्टि में निम्न प्रकार है:-[२]

दिव्य एवं मानव युग का मान

क्र. युगों का नाम	दिव्य युग				मानव युग
	नियतकाल	संध्या	संध्यांश	योग	कुल मान
1. सत्ययुग	४०००	४००	४००	४८००	१७,२८,०००
2. त्रेता युग	३०००	३००	३००	३६००	१२,९६,०००
3. द्वापर युग	२०००	२००	२००	२४००	८,६४,०००
4. कलियुग	१०००	१००	१००	१२००	४,३२,०००
एक चतुर्युगी	१००००	१०००	१०००	१२,०००	४३,२०,०००

अमरकोषः[३] में काल-मान बोधक सभी लघु एवं वृहत् इकाइयों को एक दृष्टि में निम्न प्रकार व्यक्त किया गया है-

कालमान बोधक विवरणम् : अमरकोषः

१ निमेषः*	१/२७ विपला	२/१३५ सैकेण्ड
१८ निमेषाः	१ काष्ठा (८ विपलाः)	२-१/५ सैकेण्ड
३० काष्ठाः	१ कला (४ पलाः)	१ मिनट ३६ सैकेण्ड
३० कलाः	१ मुहूर्तः (घटीद्वयम्)	४८ मिनट

१. कल्याण - स्कन्दपुराणाङ्क, वर्ष २५ (१९५१) पृ. ११८.
२. कल्याण, संक्षिप्त भविष्य पुराणाङ्क, वर्ष ६६ (१९९२) पृ. २१.
३. अमरकोषः चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, २००१, पृ. ६६.
* अक्षिपक्ष्मपरिक्षेपो 'निमेषः' परिकीर्तितः।'इत्युक्तलक्षणोऽक्षिपरिस्पन्दनकालो निमेषः।

३० मुहूर्ताः	१ अहोरात्रः (मानुषः)	२४ घण्टा
१५ अहोरात्राः	१ पक्षः (मानुषः)	१ दिनम् (पैत्र्यम्)
२ पक्षौ	१ मासः (मानुषः)	१ अहोरात्रः (पैत्र्यः)
१२ मासाः	१ वर्षम् (मानुषम्)	१ अहोरात्रः (दिव्यः)
३६० दिव्याहोरात्राः	३६० वर्षाणि (मानुषाणि)	१ वर्षम् (दिव्यम्)

दिव्यवर्षाणि	मानुषवर्षाणि	विवरणम्
४०००	१४४००००	सत्ययुगस्य मुख्यमानम्
४००	१४४०००	सत्ययुगस्य संध्यामानम्
४००	१४४०००	सत्ययुगस्य संध्यांशमानम्
४८००	**१७२८०००**	**सत्ययुगस्य पूर्णमानम्**
३०००	१०८००००	त्रेतायुगस्य मुख्यमानम्
३००	१०८०००	त्रेतायुगस्य संध्यामानम्
३००	१०८०००	त्रेतायुगस्य संध्यांशमानम्
३६००	**१२९६०००**	**त्रेतायुगस्य पूर्णमानम्**
२०००	७२००००	द्वापरयुगस्य मुख्यमानम्
२००	७२०००	द्वापरयुगस्य संध्यामानम्
२००	७२०००	द्वापरयुगस्य संध्यांशमानम्
२४००	**८६४०००**	**द्वापरयुगस्य पूर्णमानम्**
१०००	३६००००	कलियुगस्य मुख्यमानम्
१००	३६०००	कलियुगस्य संध्यामानम्
१००	३६०००	कलियुगस्य संध्यांशमानम्
१२००	**४३२०००**	**कलियुगस्य पूर्णमानम्**
१२०००	**४३२००००**	**चतुर्युगानां पूर्णमानम्**
१२००० × ७१ = ८५२०००	४३२०००० × ७१ = ३०६७२००००	१ मन्वन्तरमानम्
१२००० × १००० = १२००००००	४३२०००० × १००० = ४३२०००००००	ब्रह्मणो १ दिनमानम्
१२००००००	४३२०००००००	ब्रह्मणो १ रात्रिमानम्
२४००००००	८६४०००००००	१ अहोरात्रमानम्

विभिन्न इकाइयों की व्याख्या

वर्ष-गणना के मानदंडों में प्रयुक्त निम्न पदों के विभिन्न अर्थों पर दृष्टिपात् करने से उनके विवेचन में सहायता मिल सकेगी –

१. **दिनम्**[१] [द्युति तमः, दो (दी) + नक्, ह्रस्वः] १. दिन (रात्रि का विपरीत)– दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः –(रघुवंश ४/१),.. दिनान्ते निलयाय गन्तुम् (अर्थात् सूर्यास्त के पश्चात् घर जाने को) अतएव यहाँ दिन से तात्पर्य है सूर्योदय से सूर्यास्त होने तक की कालावधि; 2. रात्रि सहित २४ घण्टे का समय – दिने दिने सा परिवर्धमाना।[१]

२. **मासः** (१) मासः[२] १ मासम् – १ महीना (यह मास चान्द्र, सौर, सावन नाक्षत्र या बार्हस्पत्य में से कोई हो सकता है) – न मासे प्रतिपत्तासे मां चेन्मर्तासि, मैथिलि – भट्टि ० ८/९५, (२) 'बारह' की संख्या।

स्कन्दपुराण [३] में चान्द्र मास आदि का वर्णन किया गया है। चान्द्रमास चन्द्र की गति के अनुसार कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष में विभाजित २७ से लेकर ३० दिनों तक होता है। सौर मास सूर्य की एक संक्रान्ति से दूसरी संक्रान्ति-काल की अवधि को कहा जाता है, जो प्रायः ३०-३१ दिन का होता है। जितने समय में चन्द्रमा अश्विनी से लेकर रेवती नक्षत्र तक के नक्षत्रों में विचरण करता है, वह नक्षत्र मास कहलाता है।

३. **वर्षः**– वर्षम्[४] (वृष् भावे घञ् कर्तरि अच्वा) (क)वर्षा, वृष्टि की बौछार (विद्युत्स्तनित वर्षेषु– मनु/४/१०३) मेघ० ३५, (ख) छिड़कना, उत्सरण, फेंकना (ग) वीर्यपात, (घ) वर्ष, साल, (ड.)सृष्टि का प्रभाग।

४. **युगम्**[५]– (यु ज् + घञ् कुत्वम्, गुणाभावः) (क) जुआ (बैल जोतने का) (ख) जोड़ा, दम्पत्ति, युगल, (ग) श्लोकार्ध, जिसमें दो चरण होते हैं (युग्म), (घ) सृष्टि का युग, (कृत, त्रेता, द्वापर, कलि), (ङ) पीढ़ी, जीवन (च) चार की संख्या की अभिव्यक्ति, (छ) बारह की संख्या के लिये विरल प्रयोग।

युग अन्त [५] :– (१) जुये का किनारा (२) युग का अन्त, सृष्टि का अन्त (३) मध्याह्न।

---

१. संस्कृत हिन्दी कोश – वामन शिवराम आप्टे, २००१, पृष्ठ ४५७.
२. उपर्युक्त – पृष्ठ ७९९.
३. पाद टिप्पणी, कल्याण – स्कन्दपुराणाङ्क, वर्ष २५ (१९५१), पृष्ठ ११७.
४. संस्कृत हिन्दी कोश – वामन शिवराम आप्टे, २००१, पृष्ठ ९०४.
५. उपर्युक्त पृष्ठ ८३६.

बृहस्पति की गति के अनुसार युग - बृहस्पति की गति के अनुसार प्रभव आदि साठ वर्षों में बारह युग तथा प्रत्येक युग में पाँच-पाँच वत्सर होते हैं।[१]

उपर्युक्त शब्दों या पदों के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि एक ही शब्द के प्रसङ्गानुसार विभिन्न अर्थ होते हैं, जिसका शब्दार्थ एवं भावार्थ करने में समय व प्रसंग को दृष्टिगत रखा जाना चाहिए। इस प्रकार के पदों का तात्पर्य समझने के लिये यह देखा जाना चाहिये कि उनका प्रयोग किस काल-खण्ड में किया गया है तथा उस काल में लोग प्रायः उस पद से क्या अर्थ ग्रहण करते थे अथवा प्रसंगवश उसे किस अर्थ में प्रयुक्त करते थे।

दिन, मास, वर्ष एवं युग की वर्तमान में प्रचलित मानव-वर्ष की गणना की दृष्टि से विभिन्न युगों में कालावधि क्या थी, तथा विभिन्न भू-भागों में उक्त पदों की क्या भिन्न-भिन्न कालावधि मानी जाती थी, इत्यादि बातों का विवेचन पृथक् से अनुसन्धान एवं गवेषणा का विषय है। एक ही पद या शब्द (जैसे दिन-मास आदि) की भिन्न-भिन्न कालावधि का उल्लेख आने से यह विश्वांसपूर्वक कहा जा सकता है कि विभिन्न कालों एवं भू-भागों में अवश्य ही भिन्न-भिन्न मानदंड अपनाने से वे भिन्न-भिन्न कालावधि के रहे होंगे। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि भारत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति तक एक ही काल-खण्ड में क्षेत्रफल एवं दूरी आदि माप के पृथक्-पृथक् मानदण्ड रहे हैं, उनमें एकरूपता लाने की दृष्टि से दशमलव प्रणाली पर आधारित समान माप-दण्ड निर्धारित किये गये, यद्यपि उसका एक अन्य उद्देश्य गणना की दुरूहता को भी समाप्त करना रहा है।

युगों की काल-गणना के मानदण्डों के सम्बन्ध में श्री अनन्त शर्मा का निम्न विवेचन मार्ग-दर्शन में उपयोगी सिद्ध होगा-[२]

"भारत के इस प्राचीन एवं इतिहासोपयोगी काल मान को जानना चाहिये कि द्वापर के ये खण्ड, जो परिवर्त पर्याय आदि नामों से बताए जाते हैं, किस रूप में हैं तथा कितनी-कितनी अवधि के हैं। यद्यपि बृहत्पराशर स्मृति [१२.३५७-३६८] में इन युगों का एक छोटा मान दिया है तथापि द्वापर के इन विभागों में वह भी उपादेय नहीं है। वह मान इस प्रकार है-

५ वर्षों का एक युग, १२ युग का एक षष्टिक, साठ षष्टिक का एक बृहस्पति युग = ३६०० वर्ष। इन दो वाक्पति युग का एक कलि, दो कलि का

१. पाद टिप्पणी, कल्याण - स्कन्दपुराणाङ्क, वर्ष २५ (१९५१), पृष्ठ ११७.

२. राजस्थान पत्रिका, दि. २८.९.२००१ के तत्वबोधः स्तम्भ में श्री अनन्त शर्मा द्वारा लिखित, श्रीमद्वायुपुराण पीयूष, तेतीसवें अध्याय से साभार।

द्वापर, तीन कलि का त्रेता तथा चार कलि का सत्य, जो क्रमशः ७२००, १४४००, २१६००, २८८०० वर्षों के होते हैं। यहाँ चतुर्युगी का मान ७२००० वर्षों का है। इनका ६० गुणा = ४३,२०,००० वर्ष प्रजानाथ युग है, यह प्रसिद्ध चतुर्युगी का मान है।

यदि बृहस्पति युग के द्वापर १४४०० वर्षों को भी २८ में विभक्त करते हैं तो लगभग ५१४ वर्षों का एक परिवर्त होता है, यह भी दो तीन व्यासों के एक साथ अस्तित्व को बताने में अनुपयुक्त है, १०००, १५०० वर्ष की लम्बी अवधि के कारण। एक प्रश्न और भी उठता है, २५ विभाग ही क्यों मानें। अब तक के गत द्वापर २८ ही होते हैं। आने वाले व्यास के रूप में द्रौणि अर्थात् द्रोण पुत्र अश्वत्थामा को बताया जाता है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि मन्वन्तर के चतुर्युगों की संख्या को लेकर उस संख्या से एक चतुर्युगी के प्रत्येक युग का विभाजन सम्भवतः अभीष्ट हो। सन्धि आदि के काल को दृष्टि में रखकर यदि ७२ मान लिया जावे जैसा कि आर्यभट्ट ने माना है तो बृहस्पति युग के द्वापर को ७२ से विभाजित करने पर २०० की संख्या प्राप्त होती है, एक व्यास से दूसरे व्यास के काल में इतना अन्तर सम्भव है, अतः जब तक प्रत्यक्ष उल्लेख न मिले *कुशकाशावलम्बन न्याय* से यह स्वीकार किया जा सकता है। प्रत्येक व्यास के साथ एक-एक शिवयोगी चार-चार शिष्यों के साथ हुए। यहाँ भी नामों में बड़ी दुरवस्था है। इन सबको ग्रन्थों के साक्ष्य से पर्याप्त मात्रा तक ठीक किया जा सकता है। इन्हें ठीक करना भी चाहिए, इनका ऐतिहासिक महत्त्व है। न्यायशास्त्रकार गौतम का नाम महाकवि भास ने मेधातिथि बताया है, महामति न्यायभाष्य में कौटिल्य ने तथा वाचस्पति मिश्र ने "अक्षपाद" नाम बताया है। पराशर के साथ के शिव योगी सहिष्णु के विषय में उलूक, जातूकर्ण्य व्यास के साथ के सोम शर्मा के शिष्यों में अक्षपाद, कणाद, उलूक और वत्स हैं। इस प्रकार इनका काल जाना जा सकता है, ऐसे अनेक ऋषियों के काल का निकटतम बोध सम्भव है।"

कल्प

एक विश्व की रचना से उसके विनाश की आयु के नाम को कल्प कहा जाता है। हिन्दू धर्मकोश [1] में कल्प की निम्न प्रकार व्याख्या की गई है-

"विश्व की आयु के सम्बन्ध में युग के साथ समय के दो और बृहत् मापों का वर्णन आता है। वे हैं मन्वन्तर एवं कल्प। युग चार हैं - कृत, त्रेता, द्वापर एवं

---

१. हिन्दू धर्म कोश - डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ. १६८.

कलि। इन चार युगों का एक महायुग होता है। १००० महायुग मिलकर एक कल्प बनाते हैं। इस प्रकार कल्प एक विश्व की रचना से उसके नाश तक की आयु का नाम है।''

पौराणिक कोश[१] में 'कल्प' को निम्नानुसार पारिभाषित किया गया है-

''**कल्प** - काल का एक विभाग जिसे ब्रह्मा का एक दिन कहते हैं। इसमें १४ मन्वन्तर या ४३२०००००० वर्ष होते हैं। ब्रह्मा के तीस दिनों के नाम इस प्रकार है- श्वेतवाराह, नीललोहित, वामदेव, रथंतर, रौरव, प्राण, बृहत्कल्प, कंदर्प, सत्य वा सद्म, ईशान, व्यान, सारस्वत, उदान, गारुड़, कौर्म (यह ब्रह्मा की पूर्णिमा है), नारसिंह, समान, आग्नेय, सोम, मानव, पुमान्, वैकुण्ठ, लक्ष्मी, सावित्री, घोर, वाराह, वैराज, गौरी, माहेश्वर तथा पितृ (यह ब्रह्मा की अमावस्या है)।''

प्राचीन राजवंशों एवं ऋषि वंशों का पौराणिक काल-निर्धारण - कल्याण के 'सूर्य अंक[२] विशेषाङ्क में सूर्यवंशी राजाओं आदि के कार्यकाल के निर्धारण हेतु मार्ग-दर्शन किया गया है, वह इस सन्दर्भ में विशेष उपयोगी होगा-

"पुराणों में ऋषिवंश या राजवंश का जो वर्णन प्राप्त होता है, उसका आरम्भ वैवस्वत मन्वन्तर के आरम्भ से ही होता है। इतने समय में सत्ताईस चतुर्युगी व्यतीत हो चुकी हैं और अट्ठाईसवीं चतुर्युगी के भी तीन युग व्यतीत हो गये हैं। इस अवधि में चौथा युग कलियुग चल रहा है। इतने लम्बे काल के इतिहास की रूपरेखा हमारे यहाँ सुरक्षित है।

आधुनिक विद्वानों का कहना है कि यदि वैवस्वत मनु से राजाओं की वंश-परम्परा मानी गयी है तो पुराणों में इतने अल्प नाम क्यों आये हैं? नामों की संख्या तो हजारों-लाखों तक जा सकती थी। इसके अतिरिक्त वे यह भी कहते हैं कि पुराणों में कई राजाओं की हजारों वर्षों की आयु लिखी है, जो पुराण कर्ताओं की कोरी कल्पना तथा अविश्वसनीय बात है। अतः काल के तत्कालीन मानदण्ड निश्चित रूप से आधुनिक मानदंडों से भिन्न थे, यह निर्विवाद ज्ञात होता है।

उदाहरणस्वरूप, वाल्मीकीय रामायण में वर्णित महाराज दशरथ के इस कथन को लिया जा सकता है-

षष्टिर्वर्षसहस्त्राणि जातस्य मम कौशिक।।१०।। परार्द्ध
कृच्छ्रेणोत्पादितश्चायं न रामं नेतुमर्हसि ।।११।। पूर्वार्द्ध

वा० रामा० १/२०/१०-११

---

१. पौराणिक कोश - राणा प्रसाद शर्मा, पृ. ९४.
२. कल्याण - सूर्य अंक, वर्ष ५३, गीताप्रेस- गोरखपुर, पृष्ठ २२३-२५.

अर्थात् हे कौशिक! मैंने साठ हजार वर्षों की आयु बिताकर इस वृद्धावस्था में बड़ी कठिनता से राम को पाया है। अतः मैं इन्हें देने में असमर्थ हूँ।

इतना ही नहीं, 'राम' के विषय में भी कहा गया है कि 'दस हजार, दस सौ वर्ष राज्य करने के बाद राम ब्रह्मलोक को जायँगे-

दशवर्षसहस्राणि दशवर्ष शतानि च।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति॥

अतः मानव-इतिहास विषयक ऐसे प्रसङ्गों को प्राचीन-काल का या त्रेतायुगीन मानकर आज की समय-विभाजक इकाइयों के मान को प्राचीनता के मोह में 'जस का तस' मान लेना तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

इसी कारण काल-गणना की प्राचीन इकाइयों के प्राचीन मान के पुनः आकलन का प्रयास किया जाना समीचीन प्रतीत होता है। पुराणों में वर्णित इस तरह के सारे वाक्य अनर्गल प्रतीत होते हैं। पर हमारे ये विद्वान इन ग्रन्थों के रचनाकाल का ज्ञान ठीक से नहीं रखते हैं और न यह बात ही जानते हैं कि शब्दों के अर्थों में कब और कितना परिवर्तन हुआ और हो रहा हैं। प्राचीन मीमांसादर्शन में 'वर्ष' शब्द का अर्थ 'दिन' आया है। इस विषय पर मीमांसादर्शन में अनेक विचार हैं और वहाँ यह भी कहा गया है कि **'शतायुर्वै पुरुषः'** अर्थात् मनुष्य की आयु सौ वर्ष ही श्रुति में मानी गयी है। उसके विरुद्ध अधिक आयु मनुष्य की नहीं मानी जा सकती। श्रुति में ऐसे भी वाक्य मिलते हैं, जिनसे पता चलता है कि सौ वर्ष से ऊपर भी मनुष्यों का जीवन होता है। किंतु ज्योतिषशास्त्र में अधिक से अधिक एक सौ बीस या एक सौ चवालीस वर्ष की आयु निश्चित की गयी है। जहाँ वर्ष शब्द का अर्थ दिन मानने पर आयु बहुत अधिक प्रतीत होती हो, वहाँ एक हजार वर्ष का अर्थ एक वर्ष मानना चाहिये। इस प्रकार दशरथ के साठ हजार वर्ष वाले कथन में साठ हजार वर्ष शब्द का अर्थ होगा - पूरे साठ वर्ष। स्मृति या पुराणों में सत्युग, त्रेतायुग आदि में जो चार सौ या तीन सौ वर्ष की मनुष्य की आयु लिखी गयी है, उसका तात्पर्य है सत्युग, त्रेतायुग आदि का परिमाण कलियुग से चतुर्गुण या त्रिगुण माना जाता है। इसलिये कलियुग के सौ वर्ष ही उन युगों के चार सौ या तीन सौ वर्ष कहे जाते हैं। इससे उन वाक्यों का श्रुति से विरोध नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार बहुत-बहुत काल के अन्तर पर होने वाले राजाओं के समय में भी किसी एक ऋषि के ही अस्तित्व का वर्णन पुराणों में पाया जाता है। उदाहरण के लिये वसिष्ठ और विश्वामित्र के अस्तित्व को लिया जा सकता है, जो हरिश्चन्द्र और उनके पिता त्रिशंकु आदि राजाओं के समय में भी उपस्थित हैं तथा दशरथ और राम के समय में भी। इसी प्रकार, परशुराम,

भगवान् राम के समय में उनसे धनुर्भङ्ग के कारण विवाद करते देखे जाते हैं और महाभारत काल में भी भीष्म, कर्ण आदि को उन्होंने विद्या पढ़ायी, ऐसा भी ज्ञात होता है। इसका तात्पर्य है कि वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि नाम कुल के पारम्परिक नाम के बोधक हैं। जब तक किसी विशेष कारण से – प्रवर आदि की गणना के लिये नाम का परिवर्तन नहीं होता, तब तक वही नाम चलता रहता था। किंतु भगवान् राम के राज्य का समय इतना लम्बा किसी प्रकार नहीं हो सकता, अतः समय का संकोच करना आवश्यक होगा। इसलिये दस सहस्र वर्ष का अर्थ है – सौ वर्ष और दशशत् वर्ष का अर्थ है – दस वर्ष; अर्थात् राम ने एक सौ दस वर्षों तक राज्य करके ब्रह्मसायुज्य प्राप्त किया था। जहाँ तक वंश–परम्परा में अत्यल्प नामों की चर्चा है उसके सम्बन्ध में यही कहना है कि पुराणों की वंश–परम्परा में क्रमबद्ध सभी राजाओं के नाम नहीं दिये गये हैं, अपितु जिस वंश में जो अत्यन्त प्रधान राजा हुए, उनके ही नाम पुराणों में वर्णित हैं। अनेक वर्णन–प्रसंग में पुत्रादि शब्द का अर्थ उनका वंशज है। उदाहरण – राम के लिये 'रघुनन्दन' शब्द का व्यवहार आनुवांशिक है, न कि रघु का पुत्र। इस बात की पुष्टि निम्नलिखित वाक्य से भी होती है–

अपत्यं पितुरेव स्यात् ततः प्राचामपीति च।

अर्थात् 'पिता तो अपत्य होता ही है, उसके पूर्व पुरुषों का भी वह अपत्य कहा जाता है।' इसके अतिरिक्त श्रीमद्भावत में परीक्षित के द्वारा राजाओं के वंश पूछने पर श्री शुकदेवजी का उत्तर है –

श्रूयतां मानवो वंशः प्राचुर्येण परन्तप।
न शक्यते विस्तरतो वक्तुं वर्षशतैरपि ॥

श्रीमद्भागवत ९/१/७

अर्थात् वैवस्वत मनु का मैं प्रधान रूप से वंश सुनाता हूँ। इसका विस्तार तो सैकड़ों वर्षों में भी नहीं किया जा सकता।' इससे सिद्ध है कि वंशजों के नाम बहुत अधिक हैं। 'लिंग पुराण' तथा 'वायु पुराण' (उत्त०, अ० २६, श्लोक २१२) में भी राजाओं के वंश–कीर्त्तन के अन्त में लिखा गया है –

एते इक्ष्वाकुदायादा राजानः प्रायशः स्मृताः।
वंशे प्रधाना एतस्मिन् प्राधान्येन प्रकीर्तिताः॥

अर्थात् इक्ष्वाकु–वंश के प्रायः प्रधान–प्रधान राजाओं के ही नाम कहे गये हैं। यही कारण है कि जिनका विवाह आदि सम्बन्ध पुराणों में लिखा है, उनकी पीढ़ियों में बहुत भेद पड़ता है। उदाहरण के तौर पर इक्ष्वाकु के तीन पुत्र विकुक्षि,

निमि और दण्डक कहे गये हैं। उनमें विकुक्षि के वंश में प्रायः ५५ पुरुषों के अनन्तर राम का अवतार वर्णित है और निमि के वंश में प्रायः इक्कीस पीढ़ी के अनन्तर ही सीता के पिता सीरध्वज जनक का नाम आता है। इस तरह दोनों की पीढ़ियों में लगभग एक हजार वर्षों का अन्तर असम्भव-सा लगता है। इससे स्पष्ट है कि दोनों वंशों के प्रधान-प्रधान राजाओं के ही नाम पुराणों में गिनाये गये हैं। अतः जिस राजवंश में प्रधान और प्रतापी राजा अधिक हुए, उस वंश के अधिक नाम आ गये हैं और जिस वंश में प्रधान राजा न्यून हुए, वहाँ न्यून नामों की ही गणना हुई है। राजाओं के वंश-वर्णन में ऐसा भी भेद देखा जाता है कि किसी एक पुराण में एक वंश के राजाओं के जो नाम मिलते हैं, वे दूसरे पुराणों में नहीं मिलते। इसका कारण यह है कि जिस पुराणकार की दृष्टि में जो राजा प्रतापवान् और उल्लेखनीय माने गये हैं, उन्हीं के नाम उस पुराणकार ने गिनाये। कुछ पुराणकारों द्वारा तो संक्षिप्तीकरण के विचार से भी ऐसा किया गया प्रतीत होता है। पुराणों में वंश आदि के वक्ता पृथक्-पृथक् ऋषि आदि हैं, जो पुराणवाचकों को स्पष्ट ही प्रतीत हो जाता है। इस प्रकार यह सिद्ध है कि पुराणों में पीढ़ियों के प्रधान-प्रधान राजाओं के ही नाम गिनाये गये हैं और उनमें भेद भी मिल जाते हैं। लोकश्रुति में सम्पूर्ण राजवंश के प्रत्येक राजा का नाम आना असम्भव था, लोकश्रुति तो प्रधान और अवतारी पुरुषों का ही स्मरण रखती है, अन्य लोगों को छाँटकर किनारे कर देती है। किंतु यदि सभी राजाओं के वंशानुगत नाम और समय उपलब्ध हो जाते तो ठीक-ठीक काल-गणना का आधार प्राप्त हो जाता। परंतु ऐसा नहीं है, अतः पुराणों में काल-गणना को जो विस्तार वैज्ञानिक रीति से दिया गया है, उसे न मानकर अपनी प्रज्ञा से उसका संकोच करना उपयुक्त नहीं है।

संक्षिप्त रूप से काल के निरूपण और अनुपपत्तियों के समाधान के निमित्त कुछ अन्य बातों के साथ राजवंशों का विवेचन आरम्भ किया जाता है। ऋषियों के वर्णन का क्रम पुराणों में प्रायः नहीं मिलता। किसी-किसी पुराण में ऋषियों के वंश का कुछ अंश कहा गया है, पर राजवंशों की तरह ऋषि-वंशानुगत क्रम नहीं मिलता। इन पुराणों में भारतीय राजाओं के तीन वंश माने गये हैं - सूर्यवंश, चन्द्रवंश तथा अग्निवंश। इन तीन दीप्त पदार्थों के नाम पर क्षत्रिय-वंश की कल्पना का रहस्य यह है कि सृष्टि में तेज तीन प्रकार का ही प्रसिद्ध है - सूर्य का प्रखर तेज, चन्द्र का शीतल तेज और अग्नि का अल्प स्थान में व्याप्त दाहक तेज। इनमें भी मुख्य रूप से सूर्य ही तेज के धनी हैं। चन्द्रमा का तेज केवल प्रकाश-रूप है। उसमें उष्णता नहीं है। वह प्रकाश भी सूर्य से ही प्राप्त है। अग्नि में भी तेज सूर्य के सम्बन्ध से ही प्राप्त होता है। विष्णुपुराण का कहना है कि सूर्य जब अस्ताचल को जाते हैं, तब अपना तेज अग्नि में अर्पित कर जाते हैं। इसीलिये अग्नि की ज्वाला

रात्रि में दूर से दिखायी देती है-

प्रभा विवस्वतो रात्रावस्तं गच्छति भास्करे।
विशत्यग्निमतो रात्रौ वह्निर्दूरात्प्रकाशते॥
विष्णपुराण २/८/२१

दिन में जब सूर्य अग्नि से अपना तेज ले लेते हैं, तब अग्नि का केवल धूम ही दिखायी देता है - दूर से ज्वाला नहीं दीख पड़ती। यही कारण है कि पुराणों में सूर्यवंश ही मुख्य माना गया है। चन्द्रवंश और अग्निवंश को उसी के शाखा-रूप में प्रतिपादित किया गया है। इनमें भी अग्निवंश का वर्णन पुराणों में अल्प मात्रा में ही प्राप्त होता है। महाभारत-युद्ध के अनन्तर ही चौहान आदि अग्निवंशियों का प्रभाव इतिहास में दीख पड़ता है। महाभारत-युद्ध तक सूर्यवंश और चन्द्रवंश का ही विस्तार मिलता है।"

सुदीर्घ काल-मापक इकाइयों की व्यावहारिकता

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि सृष्टि-रचना एवं उसके विकास की अति दीर्घ कालीन अवस्थाओं को दर्शाने वाले युग, मन्वन्तर एवं कल्प की मान्य कालावधि पर शंका करने का कोई कारण दिखाई नहीं देता। परन्तु, विभिन्न राजवंशों के काल-क्रम को उपर्युक्त काल-गणना के साँचे में बैठाने से कतिपय विसंगतियाँ दिखाई देती हैं। जैसा कि उल्लेख किया गया है, पुराण के रचयिता ऋषियों ने किसी विषय एवं घटना आदि के विवरण में बिम्बों, प्रतीकों एवं लाक्षणिकता का आश्रय लेकर उनमें विचित्रता एवं विस्मय-भाव लाने एवं स्थान-स्थान पर प्रज्ञा चमत्कार दिखाने का प्रयास किया गया लगता है। इसी प्रकार शरीर के परिमाण को कई योजन तथा दूरी व समय की इकाइयों का सर्वमान्य अर्थ से भिन्न शास्त्र-सम्मत अप्रचलित अर्थ निकाल कर उन्हें भी अधिकतम दिखाने का कार्य किया गया है। इस प्रकार बहुधा जन-सामान्य के लिए पुराणों के वचनों का गूढ़ार्थ समझना कठिन हो जाता है और शब्दों का प्रचलित अर्थ ही उनके लिये मान्य हो जाता है। शुक नाम के पक्षी-शावक के बारह वर्ष गर्भ में रहने के निहितार्थ के दर्शन से पुराणों को सही परिप्रेक्ष्य में समझना सम्भव है। द्विज, ब्राह्मण या ऋषि का पर्याय है, द्विज पुत्र का १२ वर्ष की आयु में उपनयन संस्कार होने पर उसका द्विज के रूप में जन्म कहा जायेगा। इससे पूर्व का काल उसकी गर्भावस्था समझी जानी चाहिये, जैसा कि शुकदेव के अध्याय में विस्तारपूर्वक बताया गया है। अतएव पुराणों के वास्तविक व्यक्त अर्थ को समझने के लिये उक्त अर्थ विपर्यय की सम्भावना को भी दृष्टिगत किया जाना चाहिये, यद्यपि हर कहीं ऐसा होना आवश्यक भी नहीं है।

यही बात मानव इतिहास के सन्दर्भ में काल-गणना के बारे में भी समझी जा सकती है। सृष्टि के उद्भव एवं विकास के सन्दर्भ में सृष्टि-युग काल-गणना की सुदीर्घ मापक-इकाइयों (युग, मन्वन्तर व कल्प) का मानव-इतिहास एवं राजवंश आदि के वर्णन में निश्चय ही समानान्तर रूप से संकुचित माप-दण्डों के हिसाब से अर्थ लगाना पड़ेगा।

इस सम्बन्ध में श्री अनन्त शर्मा का निम्न मत विशेष रूप से उल्लेखनीय है-[१]

"**मन्वन्तर** - मन्वन्तर के ऋषि, देव, इन्द्र तथा मनु पुत्र प्रमुख तथा सामान्यत: हरि का अंशावतार (भागवत के अनुसार) घटक तत्व हैं। मन्वन्तर का दूसरा स्वरूप काल से सम्बद्ध है, जो ७१ चतुर्युग के तुल्य है। मन्वन्तर का तीसरा स्वरूप ऐतिहासिक है। इस तीसरे स्वरूप की कालावधि निश्चित ही अन्वेषणीय है। मन्वन्तर का स्वरूप सृष्टि से सम्बद्ध है, इस मानव-इतिहास से इसका सम्बन्ध नहीं है। उन मन्वन्तरों के पुत्र-पौत्रादि का नाम ही इतिहास के मनु के हैं। ऐतिहासिक मनु की कालावधि ७१ मन्वन्तर की सम्भव ही नहीं हो सकती है। वस्तुत: प्रारम्भिक ६ मनु सृष्टि की विंभिन्न विकास-अवस्थाओं को बताते हैं। ७वें वैवस्वत मन्वन्तर से मानव-सृष्टि का अभ्युदय है। इन्द्र अपने अन्य अर्थों के साथ एक अर्थ जीवात्मा भी देता है। इसी भाँति मनु भी इन्द्र के सर्वाधिक निकट मनस्तत्त्व को बताता है।

सप्तर्षि सप्त प्राणों को कहते हैं। देव शब्द का अर्थ इन्द्रियाँ हैं। यही सब समस्त विषयों में भले ही वह स्थावर हो अथवा जंगम हो, समान रूप से अनुस्यूत हैं। मन्वन्तर का अर्थ इस रूप में सृष्टि में उपयुक्त विभिन्न मनुभावों को बताता है। ये विभिन्न मनुभाव कल्प पर्यन्त अर्थात् सृष्टि की विद्यमानता तक रहते हैं।

काल से सम्बद्ध मन्वन्तर का अर्थ काल मापक बड़ी इकाई मात्र है। इस रूप में कल्प को १४ भागों में विभक्त किया गया है, जबकि रात्रि अथवा प्रलय रूप कल्प में कोई मनु नहीं है। क्रिया का अभाव होने से वहाँ कालावयव भी नहीं है। इस प्रकार युग, मन्वन्तर एवं कल्प सृष्टिकाल की गणना की इकाइयाँ हैं। इन्हें मानव इतिहास के साथ जोड़ कर चलने से इतिहास सम्बन्धी अनेक विप्रतिपतियाँ हुई हैं। वैवस्वत मनुवंश की पीढ़ियाँ प्राय: सभी पुराणों में हैं, यद्यपि यह ठीक है कि वहाँ केवल प्रमुख-प्रमुख नाम हैं तथापि इतना तो अवश्य है कि एक-एक नाम भी ले लिया जाए तो भी बारह करोड़ पाँच लाख

---

१. श्रीमद्वायुपुराण पीयूष: तत्व बोध : ६७७ - अनन्त शर्मा, दैनिक राजस्थान पत्रिका दिनांक ७ नवम्बर, २००२.

तैंतीस हजार वर्षों का मानव इतिहास सम्पूर्ण कड़ियों के जोड़ के साथ प्राप्य नहीं है।

किन्तु सृष्टि को लेते हैं तो एक अरब सत्तानवे करोड़ वर्ष सर्वथा ठीक लगते हैं। यह समय खगोल तथा भूगोल की घटनाओं के आधार पर होने से वैज्ञानिक है, यादृच्छिक नहीं है।

पुराणेतिहास के अध्ययन में इस तथ्य को स्मरण रख कर इनके पार्थक्य को ध्यान में रखते हुए चलने पर हम अपने इतिहास के साथ न्याय कर सकेंगे। स्वायंभुव मनु के पुत्र ध्रुव का ध्रुवतारा बन जाना तथा सप्तर्षियों द्वारा उसका परिक्रमण करना ऐतिह्य के अनुकूल नहीं है। ध्रुव का ध्रुवतारे के साथ यशोरूप में तादात्म्य भगवद्भक्ति के प्रभाव से आकल्प स्थाई हो गया है, यही इसका भाव है।

इस शैली से मन्वन्तरों तथा मानव इतिहास में सामन्जस्य सम्भव है।"

चंद्रवंशी-क्षत्रियों की वंशावली[१]

स्वयंभू
अत्रि ऋषि
सोम [चन्द्रमा]
बुध
पुरूरवा=उर्वशी
आयु

नहुष, क्षत्रवृद्ध, रंभ, रजि, अनेना

नहुष → ययाति

ययाति → यदुवंश, पुरुवंश

क्षत्रवृद्ध → काशी नरेशों का वंश

यदुवंश

(१) यद्
(२) क्रोष्टु
(३) ध्वजिनीवान्
(४) स्वाति
(५) रुशंकु
(६) चित्ररथ
(७) शशिविंदु
(८) पृथुश्रवा
(९) पृथुतम
(१०) उशना
(११) शितपु
(१२) रुक्मकवच
(१३) परावृत्
(१४) ज्यामघ
(१५) विदर्भ
(१६) क्रथ
(१७) कुंति
(१८) धृष्टि
(१९) निधृति
(२०) दशार्ह
(२१) व्योम
(२२) जीमूत
(२३) विकृति
(२४) भीमरथ
(२५) नवरथ
(२६) दशरथ
(२७) शकुनि
(२९) देवरात
(३०) देवक्षत्र
(३१) मधु
(३२) कुमारवंश
(३३) अनु
(३४) पुरुमित्र
(३५) अंशु
(३६) सत्वत
(३७) अंधक
(३८) भजमान
(३९) विदूरथ
(४०) शूर
(४१) शमी
(४२) प्रतिक्षत्र
(४३) स्वयंभोज
(४४) हृदिक
(४५) देवगर्भ
(४६) शूर
(४७) वसुदेव
(४८) बलराम, कृष्ण

पुरुवंश

(१) पुरु
(२) जनमेजय
(३) प्रचिन्वान्
(४) प्रवीर
(५) मनस्यु
(६) अभयद
(७) सुद्यु
(८) बहुगत
(९) संयाति
(१०) अहंयाति
(११) रौद्राश्व
(१२) ऋतेपु
(१३) अंतिनार
(१४) अप्रतिरथ
(१५) ऐलीन
(१६) दुष्यंत
(१७) भरत
(१८) भरद्वाज वा वितथ (गोद)
(१९) मन्यु
(२०) बृहत्क्षत्र
(२१) सुहोत्र
(२२) हस्ती
(२३) अजमीढ़
(२४) ऋक्ष
(२५) संवरण
(२६) कुरु
(२७) जह्नु
(२८) सुरथ
(२९) विदूरथ
(३०) सार्वभौम
(३१) जयत्सेन
(३२) आराधित
(३३) अयुतायु
(३४) अक्रोधन
(३५) देवातिथि
(३६) ऋक्ष- II
(३७) भीमसेन
(३८) दिलीप
(३९) प्रतीप
(४०) शांतनु
(४१) विचित्रवीर्य
(४२) पांडु
(४३) अर्जुन
(४४) अभिमन्यु
(४५) परीक्षित्
(४६) जनमेजय
(४७) शतानीक
(४८) अश्वमेधदत्त
(४९) अधिसीमकृष्ण
(५०) निचक्रु
(५१) उष्ण
(५२) विचित्ररथ
(५३) शुचिरथ
(५४) वृष्णिमान्
(५५) सुषेण
(५६) सुनीथ
(५७) नृपचक्षु
(५८) सुखिबल
(५९) पारिप्लव
(६०) सुनय
(६१) मेधावी
(६२) रिपुंजय
(६३) वस्त
(६४) तिग्म
(६५) बृहद्रथ
(६६) वसुदास
(६७) शतानीक
(६८) उदयन
(७९) अहीनर
(७०) दंडपाणि
(७१) निरमित्र
(७२) क्षेमक

काशी नरेशों का वंश

(१) क्षत्रवृद्ध
(२) सुहोत्र
(३) काश्य
(४) काशीराज
(५) राष्ट्र
(६) दीर्घतपा
(७) धन्वन्तरि
(८) केतुमान्
(९) भीमरथ
(१०) दिवोदास
(११) प्रतर्दन, शत्रुजित्, वत्स, ऋतुध्वजया कुवलयाश्व
(१२) अलर्क
(१३) संनति
(१४) सुनीथ
(१५) सुकेतु
(१६) धर्मकेतु
(१७) सत्यकेतु
(१८) विभु
(१९) सुविभु
(२०) सुकुमार
(२१) दृष्टकेतु
(२२) वीतिहोत्र
(२३) भार्ग
(२४) भार्गभूमि

१. पौराणिक कोश- राणाप्रसाद शर्मा, परिशिष्ट (छ) पृ. ५६७.

सूर्यवंशी क्षत्रियों की वंशावली [१]

इक्ष्वाकु [सूर्य का पौत्र]

अयोध्या का राजवंश

(१) विकुक्षि (शशाद)
(२) पुरञ्जय (ककुत्स्थ)
(३) अनेना
(४) पृथु
(५) विष्टराश्व
(६) युवनाश्व
(७) शावस्त
(८) बृहदश्व
(९) कुवलयाश्व
(१०) दृढाश्व
(११) हर्यश्व
(१२) निकुम्भ
(१३) संहताश्व
(१४) कृशाश्व
(१५) प्रसेनजित्
(१६) युवनाश्व
(१७) मांधाता
(१८) पुरुकुत्स
(१९) त्रसद्दस्यु
(२०) अनरण्य
(२१) पृषदश्व
(२२) हर्यश्व
(२३) हस्त
(२४) सुमना
(२५) त्रिधन्वा
(२६) त्रय्यारुणि
(२७) सत्यव्रत = त्रिशंकु
(२८) हरिश्चन्द्र
(२९) रोहिताश्व

(३०) हरित
(३१) चञ्चु
(३२) विजय
(३३) रुरुक
(३४) वृक
(३५) बाहु
(३६) सगर
(३७) असमंजस
(३८) अंशुमान्
(३९) दिलीप
(४०) भगीरथ
(४१) सुहोत्र
(४२) श्रुत
(४४) अंबरीष (अमिताश्व)
(४५) सिंधुद्वीप
(४६) अयुतायु
(४७) ऋतुपर्ण
(४८) सर्वकाम
(४९) सुदास
(५०) मित्रसह= सौदास=कल्माषपाद
(५१) अश्मक
(५२) मूलक= नारीकवच
(५३) दशरथ
(५४) इलिविल
(५५) विश्वसह
(५६) खट्वांग
(५७) दीर्घबाहु
(५८) रघु
(५९) अज
(६०) दशरथ

(६१) रामचन्द्र
(६२) कुश
(६३) अतिथि
(६४) निषध
(६५) अनल
(६६) नभा
(६७) पुंडरीक
(६८) क्षेमधन्वा
(६९) देवानीक
(७०) अहीनक
(७१) रुरु
(७२) पारियात्रक
(७३) देवल
(७४) वच्चल
(७५) उत्क
(४३) सुवर्चा
(७६) वज्रनाभ
(७७) शंखण
(७८) व्युषिताश्व
(७९) विश्वसह
(८०) हिरण्यनाभ
(८१) पुष्य
(८२) ध्रुवसंधि
(८३) सुदर्शन
(८४) अग्निवर्ण (प्रथम)
(८५) शीघ्रग
(८६) मरु
(८७) प्रशुश्रुक
(८८) सुसंधि
(८९) अमर्ष
(९०) सहस्वान्
(९१) विश्वभव
(९२) बृहद्बल

मिथिला का राजवंश

(१) निमि
(२) जनक
(३) उदावसु
(४) नन्दिवर्धन
(५) सुकेतु
(६) देवरात
(७) बृहदुक्थ
(८) महावीर्य
(९) सुधृति
(१०) धृष्टकेतु
(११) हर्यश्व
(१२) मनु
(१३) प्रतिक
(१४) कृतरथ
(१५) देवमीढ़
(१६) विबुध
(१७) महाधृति
(१८) कृतरात
(१९) महारोमा
(२०) सुवर्णरोमा
(२१) ह्रस्वरोमा
(२२) सीरध्वज (सीता के पिता)
(२३) भानुमान
(२४) शतद्युम्न
(२५) शुचि
(२६) ऊर्जनामा
(२७) शतध्वज
(२८) कृति (प्रथम)
(२९) अंजन
(३०) कुरुजित्

(३१) अरिष्टनेमि
(३२) श्रुतायु
(३३) सुपार्श्व
(३४) सृंजय
(३५) क्षेमावी
(३६) अनेना
(३७) भौमरथ
(३८) सत्यरथ
(३९) उपगु
(४०) उपगुप्त
(४१) स्वागत
(४२) स्वानन्द
(४३) सुवर्चा
(४४) सुपार्श्व
(४५) सुभाष
(४६) सुश्रुत
(४७) जय
(४८) विजय
(४९) ऋत
(५०) सुनय
(५१) वीतहव्य
(५२) धृति
(५३) बहुलाश्व
(५४) कृति (द्वितीय)

❑❑❑

१ पौराणिक कोश – राणाप्रसाद शर्मा, परिशिष्ट (ज), पृ. ५६८.

२

पराशर-पितामह : वसिष्ठ

एक ही ऋषि-वंश की अनेक पीढ़ियों में उत्तरोत्तर श्रेष्ठ महापुरुषों का जन्म सामान्यतया कम ही देखने को मिलता है। महर्षि वसिष्ठ के वंश को ऐसे उज्ज्वल यश एवं मानवीय उच्चादर्शों से सम्पन्न वंश होने का गौरव प्राप्त है, जिसमें श्रेष्ठ ऋषि-मुनियों का क्रमशः आविर्भाव हुआ है। मैत्रावरुणि वसिष्ठ उनके पुत्र शक्ति एवं पौत्र पराशर ऐसे ही मन्त्र-द्रष्टा ऋषि हुये हैं।

सप्त ऋषियों की मान्यता

इकहत्तर से कुछ अधिक चतुर्युगियों को एक मन्वन्तर कहा जाता है। इस अवधि अथवा प्रत्येक मन्वन्तर का एक मनु होता है। इसी प्रकार, हर मन्वन्तर में सप्त-ऋषि होते हैं।

सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सञ्चालन एवं सन्तुलन में गगन-मण्डल में स्थित सप्त ज्योतिष्पिण्डों का अपरिहार्य स्थान माना गया है। वैदिक मान्यता के अनुसार सप्तर्षि तारक-मण्डल समस्त भूतों के रचयिता, नियन्ता एवं प्रेरक हैं।

वसिष्ठ का सप्तर्षियों में स्थान

हरिवंश पुराण एवं अन्य पुराणों के अनुसार महर्षि वसिष्ठ नाम के ऋषि को विभिन्न मन्वन्तरों के सप्तर्षियों में स्थान प्राप्त है। इस समय सप्तम् वैवस्वत् मन्वन्तर चल रहा है।

स्वायम्भुव मन्वन्तर – प्रथम स्वायम्भुव मनु के काल अथवा मन्वन्तर में मरीचि, भगवान अत्रि, अङ्गिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य तथा वसिष्ठ ये ब्रह्माजी के सात पुत्र होकर उत्तर दिशा में रहते थे –

मरीचिरत्रिर्भगवानङ्गिराः पुलहः क्रतुः।
पुलस्त्यश्च वसिष्ठश्च सप्तैते ब्रह्मणः सुताः॥

हरि.पु. हरिवंश पर्व ७/८

स्वारोचिष मन्वन्तर – स्वारोचिष मन्वन्तर में वसिष्ठ के पुत्रगण – और्व,

स्तम्ब, काश्यप, प्राण, बृहस्पति, दत्त और निश्च्यवन – ये सात महाव्रतधारी ऋषि बताये गये हैं –

और्वो व्रसिष्ठपुत्रश्च स्तम्बः काश्यप एव च।
प्राणा बृहस्पतिश्चैव दत्तो निश्च्यवनस्तथा ॥१२॥

हरि.पु. हरिवंश पर्व ७/१२

उत्तम मन्वन्तर – उत्तम नाम के तृतीय मन्वन्तर में भी वसिष्ठ के ऊर्जा नाम के सात पुत्र सप्तर्षि हुये –

इदं तृतीयं वक्ष्यामि तन्निबोध नराधिप॥ १६ ॥अर्द्धांश॥
वसिष्ठ पुत्राः सप्तासन् वासिष्ठा इति विश्रुताः।
हिरण्यगर्भस्य सुता ऊर्ज्जा नाम सुतेजसः ॥१७॥

हरि.पु. हरिवंश पर्व ७/१६-१७

वैवस्वत मन्वन्तर – चौथे, पाँचवें एवं छठे मन्वन्तर में वसिष्ठ नाम के कोई ऋषि अथवा उनके पुत्रगण का सप्तर्षियों में उल्लेख नहीं मिलता है। वर्तमान में चल रहे सप्तम् मन्वन्तर के सप्तर्षियों में महर्षि वसिष्ठ का मूर्धन्य स्थान है।

अत्रिश्चैव वसिष्ठश्च कश्यपो गौतमस्तथा।
भरद्वाजस्तथा योगी विश्वामित्रः प्रतापवान् ॥२७॥
जमदग्निश्च सप्तैते साम्प्रतं ये महर्षयः।
कृत्वा धर्मव्यवस्थानं प्रयान्ति परमं पदम्।। २८॥

मत्स्य पु. ९/२७-२८

अर्थात् वसिष्ठ, कश्यप, अत्रि, जमदग्नि, गौतम, विश्वामित्र एवं भरद्वाज, जो इस समय भी विद्यमान हैं, ये सप्तर्षि धर्म को भली-भाँति व्यवस्थित करके परम पद को प्राप्त होते हैं।

ऋषिः तात्पर्य – 'ऋषि' शब्द प्राणवाची है–

प्राणा वै ऋषयः।

ये ऋषिगण मानव-शरीर की विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों में प्राणों का संचार करने वाले हैं। शतपथ ब्राह्मण में मानव के मन-प्राण व इन्द्रियों की ऊर्जा और शक्ति का स्रोत इन्हीं सप्त ऋषियों को कहा गया है–

प्राणो वै वसिष्ठः ऋषिः। मनो वै भरद्वाजः ऋषिः॥

श.ब्रा. ८/१/१६[1]

---

१. अखिल भारतवर्षीय पारीक समाज आश्रम्स, पुष्कर (स्मारिका- १९८९) 'पराशर परम्परा' गोपाल नारायण बहुरा, पृष्ठ ५.

इस प्रकार वसिष्ठ एवं भरद्वाज ऋषि क्रमशः प्राण और मन के अधिष्ठाता हैं, जबकि शेष पाँचों ऋषि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के उत्प्रेरक एवं ऊर्जा के स्रोत हैं, जैसे जमदग्नि ऋषि चक्षुओं के, विश्वामित्र श्रवणेन्द्रिय के आदि।

इन सप्तर्षियों में भी वसिष्ठ मानव तन-मन में प्राण के अधिष्ठाता, उत्प्रेरक एवं शक्ति के अजस्र स्रोत के रूप में मान्य हैं। वसिष्ठ सभी सप्तर्षियों में श्रेष्ठ और वरिष्ठ माने गये हैं -[१]

वरिष्ठोऽस्मि वसिष्ठोऽस्मि वसे वासगृहेष्वपि।
वरिष्ठत्वाच्च वासाच्च वसिष्ठ इति विद्धि माम्॥

निरुक्त

वसिष्ठ : ब्रह्मा के मानस पुत्र

वेदाभ्यास में निरत रहने वाले ब्रह्मा ने पुत्र उत्पन्न करने की कामना से युक्त होकर पूर्व निर्धारित जिन दस मानस-पुत्रों को उत्पन्न किया, वे हैं - मरीचि, अत्रि,अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेता, वसिष्ठ, भृगु एवं नारद। मानसिक संकल्प से उत्पन्न होने के कारण ही ये मानस पुत्र कहलाये। ब्रह्मा के मानस-पुत्रों की संख्या विभिन्न पुराणों में भिन्न-भिन्न बताई गई है। कूर्म पुराण में पाँच वैराग्य मानस-पुत्र (कू.पु. ७/१९-२०) तथा नौ गृहस्थ मानस पुत्र (कू.पु. २/२१-२२) बताये हैं। विष्णु पुराण में नौ मानस पुत्र बताये गये हैं (विष्णु पु. १/७/४-६)। अन्यत्र चौदह मानस पुत्र बताये गये हैं, जिसके अनुसार लोकपिता ब्रह्मा ने सृष्टि की रचना के प्रयोजन से तपस्या की। उनके तप से प्रसन्न होकर विश्वाधार प्रभु ने 'तप' अर्थ वाले सात पुत्र उत्पन्न किये - सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, स्कन्द, नारद और रुद्र। वैराग्यवान होने के कारण जन्म लेते ही उन्होंने वैराग्य धारण कर लिया तब ब्रह्मा ने मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वसिष्ठ नामक अन्य मानस पुत्रों को उत्पन्न किया, जो सभी गृहस्थ हैं तथा सृष्टि के विस्तार में प्रवृत्त होने में सक्षम हुंये। इस दृष्टि से १४ मानस-पुत्रों की मान्यता अधिक उचित प्रतीत होती है।

मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ब्रह्मा के १० मानस-पुत्रों में से एक हैं -

वेदाभ्यासरतस्यास्य प्रजाकामस्य मानसाः।
मनसः पूर्वसृष्टा वै जाता यत् तेन मानसाः॥५॥

---

१. अखिल भारतवर्षीय पारीक समाज आश्रम्स, पुष्कर (स्मारिका- १९८९) 'पराशर परम्परा' गोपाल नारायण बहुरा, पृष्ठ ५.

मरीचिरभवत् पूर्वं ततोऽत्रिर्भगवानृषिः।
अङ्गिराश्चाभवत् पश्चात् पुलस्त्यस्तदनन्तरम्॥६॥
ततः पुलहनामा वै ततः क्रतुरजायत।
प्रचेताश्च ततः पुत्रो वसिष्ठश्चाभवत् पुनः॥७॥
पुत्रो भृगुरभूत् तद्वन्नारदोऽप्यचिरादभूत्।
दशेमान् मानसान् ब्रह्मा मुनीन् पुत्रानजीजनत्॥८॥

मत्स्य पु. ३/५-८

महर्षि पराशर के पितामह : वसिष्ठ

प्राचीन आर्ष-ग्रन्थों एवं वाङ्मय में विभिन्न काल-खण्डों में आये वसिष्ठ के प्रसङ्ग से यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि महर्षि पराशर के पितामह वसिष्ठ कौन-से हैं। इक्ष्वाकु कुल में भगवान राम से अनेक पीढ़ियों पूर्व राजा निमि के पुरोहित के रूप में महर्षि वसिष्ठ का उल्लेख आता है। कालान्तर में इक्ष्वाकु वंश में ही वे श्री राम से लगभग ११ पीढ़ी पूर्व सौदास कल्माषपाद के समकालीन दिखाई देते हैं।

अनेक पुराणों में भी वसिष्ठ एवं शक्ति-पुत्र पराशर का वर्णन आया है। कूर्म पुराण के निम्न श्लोक में यह बताया गया है कि अरुन्धती ने वसिष्ठ से शक्ति नामक पुत्र उत्पन्न किया। शक्ति के पराशर हुये, जो श्री सम्पन्न, सर्वज्ञ तथा तपस्वियों में श्रेष्ठ थे -

अरुन्धत्यां वसिष्ठस्तु शक्तिमुत्पादयत् सुतम्।
शक्तेः पराशरः श्रीमान् सर्वज्ञस्तपतां वरः॥

कूर्म पुराण पूर्व वि० १८/२३

वैदिक ऋचायें/मंत्र प्राचीनकालीन इतिहास के घटनाक्रम, तत्कालीन प्रसिद्ध राजवंशों एवं ऋषि परम्परा की जानकारी का सर्वाधिक प्रामाणिक एवं विश्वसनीय स्रोत हैं। ऋग्वेद की निम्न ऋचा में वसिष्ठ की माता उर्वशी का भी नाम आया है, जिसमें वसिष्ठ को मित्र-वरुण तथा उर्वशी का मानस-पुत्र कहा गया है-

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन्मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाऽददन्त॥

ऋग्वेद ७/३३/११

चूँकि सुदास पुत्र सौदास (जो कल्माषपाद के नाम से प्रसिद्ध हुये), महर्षि वसिष्ठ के समकालीन थे तथा उन्होंने ही वसिष्ठ के १०० पुत्रों का वध किया था।

अतएव विश्वामित्र के पक्ष के दस राजाओं के संघ (दाशराज) एवं सुदास जैसे प्रतापी राजाओं का नाम ऋग्वेद में न आना कैसे सम्भव था। इस दृष्टि से ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ३३ वें सूक्त की तीसरी ऋचा द्रष्टव्य है -

एवेन्नु कं सिन्धुमेभिस्ततारेवेन्नु कं भेदमेभिर्जघान।
एवेन्नु कं दाशराज्ञे सुदासं प्रावदिन्द्रो ब्रह्मणा वो वसिष्ठाः ॥

(ऋग्वेद ७/३३/३)

मित्र-वरुण

इस प्रकार महर्षि वसिष्ठ के पिता मित्र और वरुण हैं तथा ये वसिष्ठ ही शक्ति के पिता एवं पराशर के पितामह हैं। इसी कारण सातवाँ मण्डल (जिसे वासिष्ठ मण्डल भी कहा जाता है), में मित्र-वरुण के नाम की प्रायः अधिकांश मन्त्रों में आवृत्ति हुई है।

ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के ५२ वें सूक्त की प्रथम ऋचा में वसिष्ठ जी के पिता मित्र-वरुण का उल्लेख आया है -

आदित्यासो अदितयः स्याम पूर्देवत्रा वसवो मर्त्यत्रा।
सनेम मित्रावरुणा सनन्तो भवेम द्यावापृथिवी भवन्तः ॥१ ॥

ऋग्वेद ७/५२/१

अर्थात् हे मनुष्यो! तुम आप्त विद्वान के सदृश वर्त कर धार्मिक विद्वानों में निरन्तर बस कर सत्य और असत्य का विभाजन कर सूर्य और भूमि के समान परोपकार कर विश्व के सुख के लिये मित्र और वरुण अथवा प्राण एवं उदान के समान सबकी उन्नति के लिये होओ।

इसके अतिरिक्त, उक्त मण्डल एवं सूक्त के अगले मंत्र, ५९ वें सूक्त के प्रथम, ६० वें सूक्त के प्रथम से तृतीय, छठे, आठवें तथा बारहवें मन्त्र में वसिष्ठ के पिता मित्र-वरुण का नामोल्लेख हुआ है। इसी प्रकार सातवें मण्डल के ६१ वें सूक्त से लेकर ६६ वें सूक्त तक अधिकांश ऋचाओं में मित्र-वरुण का नाम आया है। इसके अतिरिक्त भी इस मण्डल एवं अन्य कतिपय मण्डलों की अनेक ऋचाओं में वसिष्ठ के पिता मित्र-वरुण का प्रसंग आया है।

इससे यह प्रकट होता है कि महर्षि वसिष्ठ द्वारा अपने पिता के बारम्बार नामोल्लेख से उनके प्रति श्रद्धा-सुमन अर्पित किये गये हैं।

वसिष्ठ द्वारा ऋग्वेद के दृष्ट निम्न मन्त्र में वसिष्ठ एवं अगस्त्य के जन्म एवं पिता के सम्बन्ध में सार रूप में वर्णन किया गया है-

विद्युतो ज्योतिः परि संजिहानं मित्रावरुणा यदपश्यतां त्वा।
तत्ते जन्मोतैकं वसिष्ठागस्त्यो यत्त्वा विश आजभार॥

ऋक्. ७/३३/१०

अर्थात् हे वसिष्ठ! देह धारण करने के लिये विद्युत् के समान अपनी ज्योति का त्याग करते हुए तुम्हें मित्र और वरुण ने देखा था, उस समय तुम्हारा एक जन्म हुआ। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अगस्त्य का जन्म भी वसिष्ठ के साथ हुआ था, उन्हें भी मित्र-वरुण का ही पुत्र मानते हैं। अनेकानेक पुराणों व ग्रन्थों में वसिष्ठ एवं अगस्त्य ऋषि के जन्म के सम्बन्ध में निम्न विवरण उपलब्ध होता है-

यज्ञस्थल में उर्वशी को देखकर मित्र और वरुण नामक दोनों आदित्य-(अदिति-पुत्रों) का रेतः स्खलित हुआ। वह रेत या वीर्य वसतीवर नामक यज्ञीय कुम्भ में गिरा। उससे क्षण भर में अगस्त्य और वसिष्ठ नामक दो वीर्यवान् तपस्वी आविर्भूत हुये। वह रेत या वीर्य कुम्भ या कलश के अतिरिक्त जल और थल में भी गिरा था। ऋषियों में श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनि स्थल से, अगस्त्य कुम्भ से और महाद्युति मत्स्य जल से उत्पन्न हुये थे।[१]

ऋग्वेद के सातवें मण्डल के निम्न मन्त्र में वसिष्ठ के जन्म सम्बन्धी उपर्युक्त तथ्य की पुष्टि होती है-

सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्।
ततो ह मान उदियाय मध्यात्ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥

ऋक्. ७/३३/१३

अर्थात् यज्ञ में दीक्षित मित्र और वरुण ने स्तुति द्वारा प्रार्थित होकर कुम्भ (वसतीवर कलश) में एक साथ ही शक्तिपात् किया था। उसी कुम्भ से वसिष्ठ और अगस्त्य का प्रादुर्भाव हुआ।

चूँकि मैत्रावरुणि वसिष्ठ स्वयं ऋग्वेद के सातवें मण्डल के अधिकांश मन्त्रों के द्रष्टा हैं, इस कारण अधिकांश ऋचाओं में उनका नाम आया है।

ऋग्वेद के सातवें मण्डल के तेतीसवें सूक्त की प्रथम ऋचा द्रष्टव्य है -

श्वित्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा धियंजिन्वासो अभि हि प्रमन्दुः।
उत्तिष्ठन्वोचे परि बर्हिषो नॄन्न मे दूरादवितवे वसिष्ठाः॥ १॥

ऋग्वेद ७/३३/१

---

१. कल्याण - संक्षिप्त देवी भागवत अंक, वर्ष ३४ (१९६०) पृ. ३१३ : श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण, उत्तरकाण्ड, अध्याय ५६.

अर्थात् हे मनुष्यो! जो विद्याओं में प्रवीण, मनुष्यों की सत्य आचार में बुद्धि बढ़ाने वाले, पढ़ाने-पढ़ने और उपदेश करने वाले हों, उनको विद्या और धर्म के प्रचार के लिये निरन्तर शिक्षा, उत्साह और सत्कारयुक्त करें

मैत्रावरुणि वसिष्ठ का कार्यकाल मुख्यतः रामायण-काल के आस-पास का रहा है। अतः वाल्मीकि रामायण में विश्वामित्र के वैमनस्य एवं वसिष्ठ जी की क्षमाशीलता सम्बन्धी अनेक आख्यान आये हैं। बालकाण्ड का निम्न श्लोक उदाहरण स्वरूप दृष्टव्य है-

ततः प्रसादितो देवैर्वसिष्ठो जपतां वरः।
सख्यं चकार ब्रह्मर्षिरेवमस्त्विति चाब्रवीत्॥

वा.रामा. बालकाण्ड ६५/२५

अर्थात् तब देवताओं ने मन्त्र-जप करने वालों में श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनि को प्रसन्न किया। इसके बाद ब्रह्मर्षि वसिष्ठ ने 'एवमस्तु' कह कर विश्वामित्र का ब्रह्मर्षि होना स्वीकार कर लिया और उनके साथ मित्रता स्थापित कर ली।

अयोध्या काण्ड में भगवान श्री राम को वसिष्ठ जी द्वारा उपवास-व्रत की दीक्षा देने जाने का प्रसंग निम्न श्लोक में अवलोकनीय है -

तथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदां वरः।
स्वयं वसिष्ठो भगवान् ययौ राम निवेशनम्॥३॥

वा.रामा. अयोध्या का. ५/३

अर्थात् तब राजा से तथास्तु कह कर वेदवेत्ता विद्वानों में श्रेष्ठ तथा उत्तम व्रत-धारी स्वयं भगवान् वसिष्ठ मन्त्र-वेत्ता वीर श्री राम को उपवास-व्रत की दीक्षा देने हेतु श्री राम के महल की ओर गये।

वाल्मीकि रामायण में इसी प्रकार प्रसंगानुसार अनेक स्थानों पर महर्षि वसिष्ठ का उल्लेख आया है, क्योंकि वे इक्ष्वाकु वंश के राज-गुरु भी हैं।

वेद-मन्त्रों से यह सुविज्ञात है कि महर्षि वसिष्ठ का ''देवताओं से नित्य साहचर्य रहा है। ये अश्विनीकुमारों के सदा कृपापात्र बने रहे (ऋक्० १/११२/९)। भगवान अग्निदेव की स्तुति से इन्हें बहुत आनन्द प्राप्त होता रहा (ऋक्० - ७/७/७)। ऋग्वेद में बताया गया है कि महर्षि वसिष्ठ हजार गायों के अधिपति तथा कर्म में महान् थे -

इदं वचः शतसाः संसहस्त्रमुदग्नये जनिषीष्ट द्विबर्हाः।

ऋक्. - ७/८/६

इस मन्त्र भाग के सायण भाष्य में लिखा है -

'शतसाः गवां शतस्य संभक्ता संसहस्त्रं गवां सहस्त्रेण च संयुतः द्विबर्हां द्वाभ्यां विद्याकर्मभ्यां बृहन् वसिष्ठाः द्वयोः स्थानयोर्द्युलोकयोः महान् वा।'

अग्निदेव के साथ ही इन्होंने इन्द्रदेव की भी स्तुतियाँ की हैं। ऋग्वेद (७/३३/३) में बताया गया है कि भगवान् इन्द्र की कृपा से वसिष्ठ-पुत्रों ने अनायास ही सिन्धु नदी को पार किया था। वसिष्ठ और पराशर के प्राणों के शत्रु अनेक राक्षस थे, किन्तु इन्द्र की उपासना के कारण इनकी कोई हानि नहीं हो सकी थी (ऋक्० ७/१८/१२)। इन्हीं के मन्त्र बल से दाशराज-युद्ध में इन्द्र ने सुदास राजा की रक्षा की थी। तृत्सुनरेश राजा सुदास के पुरोहित महर्षि वसिष्ठ थे और दूसरे दल के नेता महर्षि विश्वामित्र थे, जिसमें दस राजाओं का संघ था। दस राजाओं की सेना, जो महर्षि विश्वामित्र की शक्ति से सम्पन्न थी, इस युद्ध में पराजित हो गयी। दस राजा होने के कारण ही यह युद्ध 'दाशराज-युद्ध' कहलाता है। इसमें राजा सुदास को विजय प्राप्त हुई, जिसके अधिपति महर्षि वसिष्ठ थे। इस विजयगाथा का वर्णन ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के तीन सूक्तों (१८,३३,८३) में बड़े ही ओजपूर्ण शब्दों में किया गया है। इस प्रकार जहाँ महर्षि वसिष्ठ अपरिग्रह, त्याग व वैराग्य के उपासक रहे हैं, वहीं वे अस्त्र-शस्त्र विद्या-विशारद तथा युद्ध-नीति के महान् आचार्य भी रहे हैं।''[१]

मैत्रावरुणि वसिष्ठ का पूर्व जन्म

वसिष्ठजी ब्रह्मा के पुत्र होते हुए भी निमि के शाप से पुनर्जन्म लेने के लिये विवश हो गये और उन महान् तेजस्वी मुनि को यह शरीर त्याग देना पड़ा। तत्पश्चात् मित्र और वरुण के यहाँ उनका जन्म हुआ। इसी से वे इस जगत् में सर्वत्र 'मैत्रावरुणि' के नाम से विख्यात हुए।

देवी भागवत[२] में एक कथानक आया है, जिसमें वसिष्ठ जी को अपनी देह का त्याग क्यों करना पड़ा तथा राजा निमि प्राणी मात्र की पलकों पर किस प्रकार आकर रहने लगे, इसका वर्णन है-

"इक्ष्वाकु के कुल में उत्पन्न एक राजा थे, उनका नाम निमि था। वे बड़े सुन्दर, गुणी, धर्मज्ञ और प्रजा के प्रेमी थे। कभी झूठ नहीं बोलते थे। दान करना उनका नित्य-नियम था। यज्ञ करने में उनकी विशेष रुचि थी। वे बड़े दानी और पुण्यात्मा थे। उन बुद्धिमान निमि को इक्ष्वाकु का बारहवाँ पुत्र माना जाता है। वे सदा प्रजा की रक्षा में तत्पर रहते थे। गौतम मुनि के आश्रम के पास जयन्तपुर नामक एक नगर था। उसी में उन्होंने अपने निवास की व्यवस्था की थी, क्योंकि वे ब्राह्मणों के

१. कल्याण - वेद कथाङ्क, वर्ष ७३ (१९९९) पृ. २२-२३.
२. कल्याण - संक्षिप्त देवी भागवताङ्क , वर्ष ३४ (१९६०) पृ. ३११.

बड़े शुभचिन्तक थे। जिसमें प्रचुर दक्षिणाएँ बाँटी जाती हैं तथा जो बहुत समय तक पूरा होता है, ऐसा राजसी यज्ञ करने का उनके मन में विचार उत्पन्न हो गया। तब निमि ने अपने पिता इक्ष्वाकु से आज्ञा लेकर महात्माओं के कथनानुसार यज्ञ की सारी सामग्री तैयार करवा ली। भृगु, अङ्गिरा, वामदेव, गौतम, वसिष्ठ, पुलस्त्य, ऋचीक, पुलह और क्रतु आदि जितने विशेषज्ञ, वेद के पारगामी, यज्ञ कराने में कुशल तपस्वी मुनि थे, उन सबके यहाँ निमन्त्रण भेज दिया। जब सम्पूर्ण उपयोगी सामग्री एकत्रित हो गई, तब धर्मज्ञ राजा निमि ने अपने गुरु वसिष्ठजी की पूजा की और बड़ी नम्रता के साथ कहा – 'मुनिवर! कृपासिन्धो! मैं यज्ञ करना चाहता हूँ। आप इसके आचार्य हो जाइये। आप सर्वज्ञानी पुरुष मेरे गुरु हैं। अत: अब यह मेरा कार्य आपके ऊपर निर्भर है। यज्ञ-सम्बन्धी वस्तुओं का संग्रह कराकर मैंने इनकी शुद्धि करा ली है। मेरे मन में ऐसा विचार है कि मैं यज्ञ में दीक्षित हो जाऊँ। मैं विधिपूर्वक यह यज्ञ करना चाहता हूँ, जिसमें भगवती जगदम्बा की विशेष रूप से आराधना की जाय, क्योंकि उनकी प्रसन्नता ही मेरे यज्ञ का उद्‌देश्य है।'

राजा निमि की उपर्युक्त बातें सुनकर वसिष्ठजी ने उनसे कहा – "राजेन्द्र! तुमसे पहले ही मुझको इन्द्र ने यज्ञ कराने के लिए वरण कर लिया है। पराशक्ति नामक यज्ञ करने के लिये वे तैयार हैं। उन्होंने पाँच सौ वर्ष तक यज्ञ करने की दीक्षा ले ली है। अतएव राजन्! जब तक मैं इन्द्र का यज्ञ पूर्ण कराऊँ, तब तक तुम इन सामग्रियों को सुरक्षित रखो। इन्द्र का यज्ञ समाप्त होने पर उस कार्य से निवृत्त होकर मैं तुरन्त तुम्हारे यहाँ आ जाऊँगा। उस समय तक तुम्हें सब सामग्री सुरक्षित रखनी चाहिए।

निमि ने कहा – 'ब्रह्मन्! यज्ञ के निमित्त मैं बहुत से अन्य मुनियों को भी आमन्त्रित कर चुका हूँ। यज्ञ की सारी वस्तुएँ जुट गई हैं। फिर लम्बे समय तक मैं कैसे उन्हें सँभाले रहूँगा। गुरुदेव! आप इस इक्ष्वाकु वंश के नित्य आचार्य हैं। वेदों का कोई भी अंश आपसे अविदित नहीं है, आप अन्यत्र न जावें।'

राजा निमि के इस प्रकार रोकने पर भी वे इन्द्र के यज्ञ में चले गये। इससे राजा का मन बिल्कुल उदास हो गया। तत्पश्चात् उन्होंने गौतम मुनि को अपना आचार्य बनाया और हिमालय पर्वत के सन्निकट समुद्र के किनारे जाकर वे यज्ञ में दीक्षित हो गये। महाराज निमि ने उस यज्ञ में ब्राह्मणों को प्रचुर दक्षिणाएँ बाँटीं। उन्होंने बहुत-सा धन और गौएँ देकर ऋत्विजों की पूजा की। प्रायः सभी बड़े प्रसन्न थे। इधर, पाँच सौ वर्ष वाला इन्द्र का यज्ञ जब समाप्त हो गया, तब वसिष्ठजी राजा निमि का यज्ञ सम्पन्न कराने के विचार से वहाँ आये। राजा से भेंट के उद्‌देश्य से कुछ देर तक वे वहाँ रुके रहे। उस समय राजा निमि सोये हुए

थे। उन्हें गहरी नींद आ गयी थी। सेवकों ने राजा को जगाया नहीं, जिससे वे मुनि के पास नहीं आ सके। इससे वसिष्ठजी ने सोचा कि राजा मेरा अपमान कर रहा है। अतः उनके मन में क्रोध उत्पन्न हो गया। निमि का सेवा में उपस्थित न होना ही मुनि के रोष का कारण बन गया था। क्रोध के वशीभूत होकर उन्होंने राजा को शाप दे दिया। कहा- 'तुमने अपने गुरु को छोड़कर दूसरे को गुरु बना लिया। मेरे मना करने पर भी तुम रुक न सके, अतः आज से तुम विदेह हो जाओगे। राजन्! तुम्हारा यह शरीर नष्ट हो जाय - विदेह हो जाओ।'

मुनि का यह शाप सुनकर सेवकों ने तुरन्त महाराज निमि को जगाया और कहा, वसिष्ठजी बड़े कुपित हो गये हैं। राजा के अन्तःकरण में कोई दुर्भावना नहीं थी। वे मुनि के पास आ गये। उन्होंने मीठे शब्दों में युक्तिपूर्वक सारगर्भित बातें आरम्भ कीं। कहा- धर्म के पूर्ण ज्ञाता गुरुदेव! मेरा कोई अपराध नहीं है। मैं आपका यजमान हूँ। मेरे बारम्बार प्रार्थना करने पर भी आपने मेरी प्रार्थना स्वीकार नहीं की। आप साक्षात् ब्रह्माजी के पुत्र हैं। वेद और वेदाङ्ग का सर्वोत्कृष्ट ज्ञान आपको प्राप्त है। ब्राह्मण के धर्म की गति बड़ी गहन है। मुझे निर्दोष होते हुए भी क्रोध के वश होकर आप अपना अपराधी जानकर व्यर्थ शाप दे रहे हैं। इस क्रोध का ही परिणाम है कि आपने अकारण मुझे शाप दे दिया। अतः मैं भी आपको यह शाप दे रहा हूँ कि आपका भी यह क्रोध भाजन शरीर शीघ्र नष्ट हो जाय। इस प्रकार मुनिवर वसिष्ठ और राजा निमि - दोनों परस्पर शाप के भागी बन गये। शाप लग जाने पर उन दोनों के चित्त चिन्तित हो उठे। वसिष्ठजी चिन्तित मन से ब्रह्मा जी की शरण में गये और राजा ने जो कठिन शाप दे दिया था, वह उनसे प्रार्थनापूर्वक कह सुनाया।

वसिष्ठजी ने ब्रह्माजी से कहा- पिताजी! राजा निमि ने मुझे शाप दे दिया है कि तुम्हारा यह शरीर नष्ट हो जाय। शरीर के शान्त होने में कष्ट होना स्वाभाविक है, किन्तु यह विषम परिस्थिति मेरे सामने आ ही गयी। अतः अब मुझे क्या करना चाहिये? मैं पुनः शरीर धारण करूँगा, तो उस समय मेरे पिता कौन होंगे- यह बताने की कृपा करें। मैं चाहता हूँ दूसरे शरीर से सम्बन्ध होने पर भी मेरी स्थिति पूर्ववत् ही रहे। मेरे इस शरीर में जैसा ज्ञान सुलभ है, वैसा ही दूसरा शरीर पाने पर भी मुझे प्राप्त रहे। महाराज! आप बड़े शक्तिशाली हैं। अतः मेरी प्रसन्नता के लिये आप ऐसी ही व्यवस्था करने की कृपा करें।

वसिष्ठजी की बात सुनकर ब्रह्माजी ने अपने मानसपुत्र वसिष्ठ से कहा- 'तुम मित्र-वरुण के तेज में प्रविष्ट होकर शान्त पड़े रहो। समय आने पर उन्हीं के द्वारा तुम प्रकट हो जाओगे। तुम अयोनिज पुत्र होओगे-इसमें कुछ भी संशय नहीं है एवं नवीन देह पाने पर भी तुम्हें ऐसी ही धार्मिक बुद्धि प्राप्त होगी। तुम

प्राणियों के सुहृद, वेदवेत्ता, सर्वज्ञानी और सबसे सम्मान प्राप्त करने के अधिकारी होओगे।'

लोक पितामह ब्रह्माजी के श्रीमुख से इस प्रकार की बातें स्पष्ट हो जाने पर वसिष्ठजी ने प्रसन्नतापूर्वक उनके चरणों में मस्तक झुकाया और प्रदक्षिणा करके वरुण के आश्रम पर चले गये। सदा एक साथ रहने वाले मित्र और वरुण-दोनों ऋषि वहाँ विराजमान थे। वसिष्ठजी अपने श्रेष्ठ स्थूल शरीर का परित्याग करके केवल सूक्ष्म शरीर से मित्र-वरुण के शरीर में प्रवेश कर गये।

एक समय की बात है - उर्वशी नामक परम सुन्दरी अप्सरा अपनी सखियों के साथ स्वेच्छापूर्वक मित्र-वरुण के आश्रम पर आयी। उसे देखकर मित्र-वरुण का चित्त चलायमान हो गया। वे उससे कहने लगे- 'सुन्दरी! तुम्हारा रूप बड़ा ही आकर्षक है। तुम देवकन्या हो, अतः तुम हमें वरण कर लो। वरवर्णिनी! इस आश्रम पर स्वच्छन्दतापूर्वक आनन्द का अनुभव करो।' इस प्रकार कहने पर वह उर्वशी अप्सरा कुछ समय तक वहाँ ठहर गयी। उस सुन्दरी अप्सरा से मुनिद्वय का अभिप्राय अविदित न रहा। उनके प्रति प्रेम प्रकट करते हुए उसने वहाँ रहना स्वीकार कर लिया। संयोगवश, वहीं एक खुले मुख का घड़ा पड़ा हुआ था। उर्वशी से बातचीत हो रही थी, इतने में ही मित्र-वरुण का वीर्य स्खलित होकर उस घड़े में गिर पड़ा। उसी से अत्यन्त मनोहर दो मुनिकुमार प्रकट हो गये। प्रथम बालक का नाम अगस्ति (अगस्त्य) पड़ा और दूसरे का वसिष्ठ।

मित्र-वरुण के वीर्य से उत्पन्न ये दोनों मुनि महान् तपस्वी एवं ऋषियों में प्रधान हुए। अगस्ति के मन में तपस्या के लिये अटूट श्रद्धा थी। अतः बचपन में ही वे वन में चले गये। दूसरे बालक वसिष्ठ का इक्ष्वाकु ने पुरोहित के रूप में वरण कर लिया। इस प्रकार शाप लग जाने के कारण वसिष्ठजी को मित्र-वरुण के कुल में दूसरा शरीर धारण करना पड़ा।

जैसे वसिष्ठजी को पुनः शरीर प्राप्त हो गया, वैसे ही शाप लगने के पश्चात् राजा निमि पुनः शरीरधारी नहीं हुए। जिस समय मुनि ने शाप दिया, उस समय राजा यज्ञ में दीक्षित थे। उन्होंने जितने ब्राह्मणों का ऋत्विज के रूप में वरण किया था, वे सभी आपस में विचार करने लगे- ' अहो! ये धर्मात्मा नरेश यज्ञ में दीक्षित हैं। अभी यज्ञ का काम अधूरा ही है। इसी बीच ये मुनि के शाप से जले जा रहे हैं। ऐसी विषम स्थिति में अब हमें क्या करना चाहिए।' तदनन्तर उन ऋत्विजों ने अनेक प्रकार के मन्त्रों का प्रयोग करके महामना निमि के शरीर को सुरक्षित रखा। उनके श्वास की गति समाप्त नहीं हो सकी। मन्त्र की शक्ति से निर्विकार आत्मा शरीर में प्रतिष्ठित रही। ब्राह्मणों ने भाँति-भाँति की पुष्पमालाओं

और चन्दनों से उस आत्मा को सुपूजित कर रखा था।

यज्ञ समाप्त हो जाने पर इन्द्रादि समस्त देवता वहाँ पधारे। ऋत्विजों ने आये हुए उन सम्पूर्ण देवताओं की समुचित स्तुति की। इससे वे परम प्रसन्न हो गये। तब उन ब्राह्मणों ने प्रार्थनापूर्वक राजा की स्थिति देवताओं के सामने प्रस्तुत कर दी। अतः दुखी नरेश के प्रति देवताओं ने कहा- 'उत्तम व्रत का पालन करने वाले राजन! हम प्रसन्न हैं, तुम वर माँग लो। राजर्षे! तुम्हारे इस यज्ञ के प्रभाव से तुम्हें सर्वोत्तम जन्म मिल सकता है। देवशरीर अथवा मानवशरीर जो भी तुम्हें अभीष्ट हो-प्राप्त कर सकते हो, जैसे तुम्हारे पुरोहित वसिष्ठ अपने सुख एवं सुविधा के अनुसार मर्त्यलोक में शरीर धारण किये हुए हैं।' देवताओं के यों कहने पर निमि की आत्मा परम सन्तुष्ट होकर बोल उठी-' महाभाग देवताओ! मैं सदा जन्मने और मरने वाले इस शरीर में रहना बिल्कुल पसन्द नहीं करता। मैं चाहता हूँ, सम्पूर्ण प्राणी जिसके द्वारा देखते हैं, उसी वस्तु में रहने का सुअवसर मुझे प्राप्त हो। अखिल प्राणियों के नेत्रों में वायु बनकर मैं विचरा करूँ।' राजन्! जब निमि की आत्मा ने देवताओं के सामने यों अपनी अभिलाषा प्रकट की, तब वे उससे कहने लगे-' महाराज! इसके लिये तुम सब पर शासन करने वाली कल्याणस्वरूपिणी भगवती जगदम्बा की प्रार्थना करो। तुम्हारे इस यज्ञ से वे परम प्रसन्न हैं। उन्हीं की कृपा से तुम्हारा यह मनोरथ पूर्ण होगा।' देवताओं के यों कहने पर निमि ने अनेक प्रकार के दिव्य स्तोत्रों के द्वारा भक्तिपूर्वक गद्गद् वाणी में देवी से प्रार्थना की। इससे प्रसन्न होकर देवी ने राजा निमि को साक्षात् दर्शन दिये। उनके विग्रह से ऐसा प्रकाश फैल रहा था, मानों करोड़ों सूर्य एक साथ चमक रहे हों। प्रत्येक अङ्ग से सुकुमारता प्रकट हो रही थी। देवी की ऐसी अपूर्व झाँकी पाकर सब-के सब आनन्द में निमग्न हो गये। सभी अपने को सफल-मनोरथ समझने लगे। देवी को प्रसन्न जानकर निमि ने उनसे वर माँगा- 'माता! आप मुझे ऐसा निर्मल ज्ञान देने की कृपा कीजिये, जिससे मैं मुक्त हो सकूँ और मेरी यह अभिलाषा है कि सम्पूर्ण प्राणियों के नेत्रों में ठहरने का सुयोग मुझे प्राप्त हो।' भगवती जगदम्बिका निमि पर प्रसन्न तो थीं ही। उन्होंने उनसे कहा- तुम्हें शुद्ध ज्ञान अवश्य प्राप्त होगा। अभी तुम्हारा प्रारब्ध-भोग समाप्त नहीं हुआ है। अतः समस्त चराचर प्राणियों के नेत्रों में तुम्हें रहना होगा। तुम्हारे प्रभाव से ही प्राणियों की आँखों में पलक गिरने की शक्ति रहेगी। अतएव मनुष्य, पशु और पक्षी-ये पलक गिराने वाले प्राणी कहलायेंगे। देवता इस स्थिति से पृथक् हैं- पलकें न गिरने से उनकी 'अनिमिष' संज्ञा होगी।' वर देने के लिये पधारी हुई भगवती जगदम्बा यों निमि का मनोरथ पूर्ण करके मुनियों से मिलने के पश्चात् वहीं अन्तर्धान हो गयीं।"

वसिष्ठ : इक्ष्वाकु वंश के पुरोहित [१]

जब वसिष्ठजी के पिता ब्रह्माजी ने इन्हें सृष्टि करने की और भूमण्डल में आकर सूर्यवंशी राजाओं का पौरोहित्य करने की आज्ञा दी, तब इन्होंने उस कार्य में हिचकिचाहट प्रकट की। फिर ब्रह्माजी ने समझाया कि इसी वंश में आगे चलकर पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम का पूर्णावतार होने वाला है, तब महर्षि वशिष्ठ ने इस कार्य को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

लोकोपकारक वसिष्ठ –[१] प्राचीन काल में दक्ष के शाप के कारण जब देवताओं और असुरों में विख्यात तारकामय संग्राम छिड़ा था, अनावृष्टि के कारण समस्त लोक ध्वस्त हो गये थे और देवताओं सहित देवराज इन्द्र व्याकुल हो गये थे, उस समय परम बुद्धिमान् वसिष्ठ ने अपने तपोबल से प्रजाओं की रक्षा की थी। उन्होंने उस समय अन्न, औषधि, मूल-फल आदि की रचना की और अति करुणावश उन्हीं औषधियों द्वारा प्रजा वर्ग को जीवित रखा था –

पुरा देवासुरे तस्मिन्संग्रामे तारकामये।
अनावृष्ट्या हते लोके व्यग्रे शक्रे सुरैः सह।
वसिष्ठस्तपसा धीमान्धारयामास वै प्रजाः ॥८१॥
अन्नौषधं मूलफलमोषधीश्च प्रवर्तयन्।
तास्तेन जीवयामास कारुण्यादौषधेन तु ॥८२॥

वायु पु० ७०/८१-८२

इसके बाद इन्होंने सर्वदा अपने को सर्वभूतहित में लगाये रखा। जब कभी अनावृष्टि हुई, दुर्भिक्ष पड़ा, तब इन्होंने अपने तपोबल से वर्षा करायी और जीवों की अकाल मृत्यु से रक्षा की। इक्ष्वाकु, निमि आदि चक्रवर्ती सम्राटों से अनेक यज्ञ करवाये। जब अपने पूर्वजों के असफल हो जाने के कारण गङ्गा को लाने में राजा भगीरथ को निराशा हुई, तब इन्हीं की कृपा से राजा भगीरथ पतित पावनी गङ्गा को पृथ्वी पर लाने में सफल हुए और तभी से गङ्गा का नाम 'भागीरथी' पड़ गया। राजा दिलीप संतान न होने से दुःखी थे। इन्हीं के उपदेश से नन्दिनी की सेवा के फलस्वरूप उन्हें महाराजा रघु जैसा प्रतापी पुत्र प्राप्त हुआ। राजा दशरथ से पुत्रेष्टि यज्ञ करवाकर इन्होंने भगवान श्री राम को इस धराधाम पर अवतीर्ण कराया और श्रीराम को अपने शिष्य के रूप में प्राप्त कर इन्होंने अपना पुरोहित-जीवन सफल किया। भगवान श्री राम के ये गुरु रहे हैं, अतः इनकी विद्या-बुद्धि, योग-ज्ञान, सर्वज्ञता तथा आचारनिष्ठा

---

१. कल्याण - वेदकथाङ्क वर्ष ७३ (१९९९) पृ. २१-२४.

की कोई सीमा नहीं है। इन्होंने भगवान श्री राम को जो उपदेश दिया था, वह 'योगवासिष्ठ' ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध हो गया।

दीर्घजीवी – कल्माषपाद से दशरथ तक १०-११ पीढ़ियों का अन्तराल है। ऋषि-मुनियों के सुदीर्घ जीवी होने के कारण महर्षि मैत्रावरुणि वसिष्ठ की इस काल खण्ड में निरन्तर विद्यमानता असम्भव नहीं है। यद्यपि मैत्रावरुणि वसिष्ठ का कल्माषपाद से लेकर दशरथ तक की पीढ़ियों का अविच्छिन्न रूप से पौरोहित्य करना प्रथमदृष्ट्या अविश्वसनीय प्रतीत होता है, तथापि आज अनेक उदाहरण देखते हैं तो प्राचीनकाल में अधिक आयु प्राप्तकर स्वस्थ जीवन-यापन करना विशेषतया ऋषि-मुनियों के सन्दर्भ में बड़ी सहज बात समझी जानी चाहिये। आज भी १३०-१४० वर्ष के दीर्घजीवी लोगों के सामान्य उदाहरण देखने में आते हैं, ऐसी स्थिति में प्राण-वायु पर विजय प्राप्त करने वाले महर्षि वसिष्ठ का दीर्घजीवी होना सर्वथा संभव है।

महर्षि वसिष्ठ का कृतित्व

वेदों के मंत्र-द्रष्टा

"अध्यात्म-ज्ञान तथा योग, वैराग्य, शम-दम, तितिक्षा, अपरिग्रह, शौच, तप, स्वाध्याय एवं संतोष और क्षमा की प्रतिमूर्ति महर्षि वसिष्ठ को अपनी दीर्घकालीन समाधिरूप साधना में भगवद्विग्रहरूप वैदिक ऋचाओं का साक्षात् दर्शन हुआ था, इसीलिये आप 'मन्त्रद्रष्टा' ऋषि कहलाते हैं। आपकी सदाचार तथा कर्मयोग परायणता न केवल निवृत्तिमार्ग के साधकों के लिये ही, अपितु प्रवृत्तिमार्गावलम्बियों के लिये भी सदा से अनुकरणीय रही है। आपका जीवन-दर्शन आदर्श की पराकाष्ठा का भी अतिक्रमण कर जाता है, इसी कारण वेद-मन्त्रों के द्रष्टा महर्षि वसिष्ठ का सभी मन्त्रद्रष्टा आचार्यों में अन्यतम स्थान है।"[१]

मैत्रावरुणि वसिष्ठ लगभग सभी वेदों के मंत्र-द्रष्टा ऋषि रहे हैं। अथर्ववेद के अनेक काण्डों के मन्त्र-द्रष्टा होने के कारण तो उन्हें 'आथर्वण' नाम से भी अभिहित किया जाता है।

ऋग्वेद

सम्पूर्ण ऋग्वेद दस मण्डलों में विभक्त हैं। मण्डलों के अन्तर्गत सूक्त हैं और सूक्तों के अन्तर्गत अनेक ऋचाएँ समाहित हैं। वसिष्ठ ऋग्वेद के सातवें मण्डल के सभी तथा नवें मण्डल के अधिकांश सूक्तों के मन्त्रद्रष्टा रहे हैं। अन्य

---

१. कल्याण - वेद कथाङ्क, वर्ष ७३ (१९९९) पृ. २१-२४.

मण्डलों में अनेक सूक्तों के विभिन्न मन्त्रों के भी वे द्रष्टा हैं। सप्तम् मण्डल में 104 सूक्त हैं, जिनमें देव स्तुतियाँ तथा अनेक कल्याणकारी बातों का संनिवेश हुआ है। मुख्य-रूप से अग्नि, इन्द्र, वरुण, अश्विनी, मित्र-वरुण, द्यावापृथिवी, आदित्य, विश्वेदेव, वास्तोष्पति, सविता, भग तथा ऊषा आदि देवताओं की स्तुतियाँ की गयी हैं। इन सभी मन्त्रों के द्रष्टा महर्षि वसिष्ठ ही हैं। दस मण्डलों में विभक्त ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के द्रष्टा होने के कारण ऋग्वेद का सप्तम् मण्डल 'वासिष्ठमण्डल' भी कहलाता है।

ऋग्वेद के विशेषतया सप्तम मण्डल के अध्ययन से कुछ विशेष बातें ज्ञात होती हैं, जिनसे महर्षि वसिष्ठजी के लोकोपकारी भाव का परिज्ञान होता है। यहाँ कुछ उद्धरण दिये जा रहे हैं-

प्राणियों के कल्याण की भावना- महर्षि वसिष्ठ अत्यन्त उदारचेता मनीषी रहे हैं। उन्होंने अपने अभ्युदय की प्रार्थना देवताओं से नहीं की, बल्कि वे सदा समष्टि के हितचिन्तन, समष्टि के कल्याण की कामना करते रहे। गीता का **'सर्वभूतहित रताः'** सिद्धान्त उनके जीवन-दर्शन में परिव्याप्त रहा। महर्षि वसिष्ठ द्वारा दृष्ट सप्तम् मण्डल के अधिकांश सूक्तों के मन्त्रों में एक पद की बार-बार आवृत्ति हुई है, जो इस प्रकार है-

'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः' ॥

अर्थात् ' हे देवताओ! आप हम लोगों का सदा कल्याण करते रहें।' आचार्य सायण ने 'स्वस्ति' शब्द का अर्थ शाश्वत कल्याण किया है-**'अविनाशि मङ्गलम्।'** ऐसा मङ्गल जो अविनाशी हो, कभी नष्ट न होने वाला हो, क्षणिक न हो। अविनाशी कल्याण तो केवल पारमार्थिक अभ्युदय से ही हो सकता है। इसमें लौकिक कल्याण को क्षीण मानते हुए भगवत्सान्निध्य की ही अभिलाषा रखी गयी है, इसी कारण महर्षि वसिष्ठ देवताओं से प्रार्थना करते हैं कि संसार के चराचर सभी प्राणी परमार्थ के पथिक बनें।

ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के प्रथम सूक्त में 25 मन्त्र हैं, जिनमें मैत्रावरुणि वसिष्ठ द्वारा अग्निदेव से शुद्ध-बुद्धि की कामना, वाणी में परिष्कार, योगक्षेम, सुख-शान्ति और दीर्घ आयु की प्रार्थना की गयी है। सप्तम् मण्डल में प्रथम सूक्त से ही **'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः'** यह पद प्रायः सभी मंत्रों में प्रयुक्त है। एक मंत्र इस प्रकार है -

नू मे ब्रह्माण्यग्न उच्छशाधि त्वं[१] देव मघवद्भ्यः सुषूदः।
रातौ स्यामोभयास आ ते यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

ऋग्वेद ७/१/२५ [१]

---

१. स्वामी दयानन्द कृत 'ऋग्वेद भाष्य' के मन्त्र-पाठ में 'त्वं ' शब्द नहीं है।

इस मन्त्र में अग्निदेव से अखण्ड धन प्राप्ति हेतु शिक्षा देने की अभिलाषा की गयी है, ताकि उस धन से हम देवपूजा, यज्ञ तथा लोकोपकारक कार्य कर सकें तथा सुपात्रों को दान दे सकें।

इसी प्रकार सप्तम् मण्डल में **'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः'** यह ऋचांश लगभग सौ से भी अधिक बार आया है, इससे महर्षि वसिष्ठ का सर्वभूत-हित-चिन्तन स्पष्ट होता है।

शान्ति-सूक्त (कल्याण-सूक्त) -[१] ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल का 35 वाँ सूक्त 'शान्ति-सूक्त' कहलाता है। इन वैश्वदेवी ऋचाओं का महानाम्नीव्रत में पाठ होता है। इस सूक्त के पाठ से शान्ति, कल्याण-मङ्गल तथा सब प्रकार से देवताओं का अनुग्रह प्राप्त होता है। इस सूक्त में 15 ऋचाएँ हैं, जिनमें महर्षि वसिष्ठ ने इन्द्र, अग्नि, वरुण, भग, अर्यमा, धाता, अश्विनी, द्यावा, पृथिवी, वसु, रुद्र, सोम, सूर्य, अदिति, मरुत्, विष्णु, पर्जन्य, विश्वेदेव, सरस्वती, गौ, ऋभु, पितर, अजैकपात् तथा अहिर्बुध्न्य आदि देवताओं से शान्ति की प्रार्थना की है। सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है -

शन्न इन्द्राग्नी भवतामवोभिः शं न इन्द्रावरुणा रातहव्या।
शमिन्द्रासोमा सुविताय शं योः शं न इन्द्रापूषणा वाजसातौ॥

ऋक्. ७/३५/१

इसका भाव यह है कि संग्राम में रक्षा के साथ इन्द्राग्नि (विद्युत और अग्नि), इन्द्रावरुण (विद्युत और जल), इन्द्रासोम (औषधियाँ) तथा इन्द्रापूषा (वायु) आदि देवता हमारे लिये शान्तिकारक, मङ्गलकारक होवें, सब प्रकार से हमारी रक्षा करें, हमें सुख-कल्याण प्रदान करें। इस सूक्त की अन्तिम ऋचा (१५) - में भी **'यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः'** पद आया है।

रोग-निवारक भग-सूक्त-[१] सप्तम् मण्डल का ४१ वाँ सूक्त 'भग-सूक्त' कहलाता है। इस सूक्त में ७ ऋचाएँ हैं, जिनमें महर्षि वसिष्ठ ने भग देवता से सभी प्रकार के रोगों से मुक्ति पाने की प्रार्थना की है। 'ऋग्विधान' (२/२५) में बतलाया गया है कि इस सूक्त का श्रद्धापूर्वक पाठ करने से असाध्य से असाध्य रोगों से मुक्ति हो जाती है और दीर्घायुष्य प्राप्त होता है। महर्षियों की उक्ति है -

'निवेष्टकामो रोगार्तो भगसूक्तं जपेत् सदा।
निवेशं विशति क्षिप्रं रोगैश्च परिमुच्यते॥

१. कल्याण - वेद कथाङ्क, वर्ष ७३ (१९९९) पृ. २४-२५.

उक्त भग-सूक्त का प्रथम मन्त्र इस प्रकार है -

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हुवेम॥

ऋक्. ७/४१/१

अर्थात् हे मनुष्यो! हम रात्रि के अंतिम पहर (प्रातःकाल) में उठकर आवश्यक कार्य कर शरीरस्थ या ब्रह्माण्डस्थ विद्युत या सूर्य अथवा प्राण-उदान, चन्द्रमा एवं औषधिगण तथा जीव, जो विचार से जानने योग्य हैं, का ध्यान करें। तत्पश्चात् अग्निहोत्रादि कार्यों से सब जगत का उपकार कर कृतकृत्य होना चाहिये।

वास्तोष्पतिः सूक्त - वास, निवास-स्थान, गृह आदि के अधिष्ठाता देव वास्तु देवता अथवा वास्तोष्पति हैं। जिस भूमि पर मनुष्यादि प्राणी वास करते हैं, उसे 'वास्तु' कहा जाता है। शुभ वास्तु में रहने से शुभ होता है, सौभाग्य एवं समृद्धि की अभिवृद्धि होती है और अशुभ वास्तु में रहने से इसके विपरीत फल होता है। जिस स्थान पर गृह, प्रासाद, यज्ञमण्डप, ग्राम, नगर, आदि की स्थापना करनी हो, उसके नैर्ऋत्य कोण में वास्तुदेव का निर्माण करना चाहिये। वास्तुपुरुष की प्रतिमा स्थापित कर पूजन - हवन किया जाता है। ऋग्वेद के अनुसार वास्तोष्पति साक्षात् परमात्मा का नाम है, क्योंकि वे विश्वब्रह्माण्डरूपी वास्तु के स्वामी हैं। ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल का ५३ वें सूक्त का तृतीय मन्त्र तथा ५४ वें सूक्त का प्रथम मन्त्र वास्तुदेवतापरक है। वास्तुदेवता का मुख्य मन्त्र इस प्रकार है-

वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः।
यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे॥

ऋक्. ७/५४/१

इस ऋचा के द्रष्टा महर्षि वसिष्ठ हैं, जिसका भावार्थ है - हे निवास करने वाले गृहस्वामी! हम आपके सच्चे उपासक हैं, हम पर आप पूर्ण विश्वास करें। तदनन्तर हमारी स्तुति-प्रार्थनाओं को सुनकर आप हम सभी उपासकों को आधि-व्याधि से मुक्त कर दें और सब प्रकार का सुख प्रदान करें। साथ ही यह वास्तुक्षेत्र या गृह, इसमें निवास करने वाले हमारे स्त्री-पुत्रादि परिवारजनों के लिये कल्याणकारक हों तथा हमारे अधीनस्थ गौ, अश्वादि सभी चतुष्पद प्राणियों का भी आप कल्याण करें।

मृत्यु-निवारक त्र्यम्बक-मन्त्र - मृत्यु-निवारक त्र्यम्बक मन्त्र, जो मृत्युंजय मन्त्र भी कहलाता है, उसे महर्षि वसिष्ठ ने ही हमें प्रदान किया है। मन्त्र इस

प्रकार है-

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

ऋक्. ७/५९/१२

अर्थात् हे मनुष्यो! हम सब लोगों का उपास्य जगदीश्वर ही है, जिसकी उपासना से पुष्टि, वृद्धि, उत्तम यश और मोक्ष प्राप्त होता है। मृत्यु सम्बन्धी भय नष्ट होता है, उसका त्याग करके अन्य की उपासना हम लोग कभी न करें।

आचार्य शौनक ने ऋग्विधान में इस मन्त्र के विषय में बतलाया है कि नियमपूर्वक व्रत तथा इस मन्त्र द्वारा पायस के हवन से दीर्घ आयु प्राप्त होती है, मृत्यु दूर हो जाती है तथा सब प्रकार का सुख प्राप्त होता है। इस मन्त्र के अधिष्ठाता देव भगवान् शंकर हैं।

अनावृष्टि दूर करने का उपाय- ऋग्वेद के सप्तम मण्डल का 101 वाँ सूक्त 'पर्जन्य-सूक्त' है। इसमें 6 ऋचाएँ हैं। आचार्य शौनक ने बताया है कि सूर्याभिमुख होकर इन सभी 6 ऋचाओं के पाठ से शीघ्र अनावृष्टि दूर हो जाती है और यथेष्ट वर्षा होती है, जिससे सभी वनस्पतियों तथा औषधियों का प्रादुर्भाव होता है, सब प्रकार दुर्भिक्ष दूर हो जाता है तथा सुख-शान्ति प्राप्त होती है। इनमें एक मन्त्र द्रष्टव्य है-

इदं वचः पर्जन्याय स्वराजे हृदो अस्त्वन्तरं तज्जुजोषत।
मयोभुवो वृष्टयः सन्त्वस्मे सुपिप्पला ओषधीर्देवगोपाः॥

(ऋग्वेद ७/१०१/५)

रक्षोघ्न सूक्त - ऋग्वेद के सप्तम मण्डल का अन्तिम १०४ वाँ सूक्त 'रक्षोघ्न-सूक्त' है, जिसमें महर्षि वसिष्ठ ने इन्द्र देवता से सब प्रकार से रक्षा करने की प्रार्थना की है, न केवल दुष्टों से अपितु काम, क्रोध, लोभ आदि जो बुराइयाँ हैं, उनसे भी दूर रहने की प्रार्थना की है। निम्न मंत्र द्रष्टव्य है-

उलूकयातुं शुशुलूकयातुं जहि श्वयातुमुत कोकयातुम्।
सुपर्णयातुमुत गृध्रयातुं दृषदेव प्र मृण रक्ष इन्द्र॥

ऋक्० ७/१०४/२२

अर्थात् जो बड़े समुदाय बनाकर तथा छोटे समुदाय बनाकर न्यायकारियों पर आघात करते हैं, निरपराधों को सताते हैं और चक्रवर्ती बनने की इच्छा से न्यायकारियों का दमन करते हैं, उनका हे इन्द्र (ऐश्वर्यशालिन् परमात्मन्) नाश करो तथा शिला के समान शस्त्रों से उनका वध करो।

ऋत की महिमा – इसके साथ ही महर्षि वसिष्ठजी ने सत्य, अहिंसा, मैत्री, सदाचार, लोककल्याण, विवेक-ज्ञान, पवित्रता, उदारता, शौच, संतोष, तप तथा देवताओं, पितरों, माता-पिता और गोभक्ति का उपदेश अनेक मन्त्रों में दिया है। ऋत (नैतिकता और सत्य) की महिमा को महर्षि ने विशेष महत्व दिया है, उन्होंने देवताओं को ऋत को जाने वाला कहा है–

ये देवानां यज्ञिया यज्ञियानां मनोर्यजत्रा अमृता ऋतज्ञाः।
ते नो रासन्तामुरुगायमद्य यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

ऋक्. ७/३५/१५

अर्थात् निम्न मंत्र में अनृत से सदा द्वेष करने वाले सत्य रूप यज्ञ की वृद्धि करने वाले अथवा सत्य से प्रेम करने वाले लोगों के सत्संग की प्रेरणा दी गई है–

'ऋतावान ऋतजाता ऋतावृधो घोरासो अनृतद्विषः'

ऋक्. ७/६६/१३

दीर्घायुष्य की कामना – साथ ही उस सर्वद्रष्टा, विद्वानों के हितैषी और सर्व शक्तिमान (शुक्रं), परमात्मा की कृपा से महर्षि ने इसी सूक्त के निम्न मंत्र के माध्यम से अभिलाषा की है कि हम लोग सौ वर्ष (दीर्घ समय) तक जीवित रहें और सौ वर्ष तक कल्याण-ही-कल्याण देखें–

तच्चक्षुर्देवहितं शुक्रमुच्चरत्।
पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतम्॥

ऋक्. ७/६६/१६

ऋग्वेद के अन्य मण्डलों तथा **यजुर्वेद, सामवेद** एवं **अथर्ववेद** में भी उनके द्वारा दृष्ट मन्त्र प्राप्त होते हैं। उन्होंने न केवल वैदिक ऋचाओं का ही दर्शन किया अपितु धर्माधर्म तथा कर्त्तव्यपालन के लिए धर्मशास्त्रीय सदाचार की मर्यादाएँ भी नियत की हैं।

महर्षि वसिष्ठ नवें मण्डल के विभिन्न सूक्तों के अनेक मन्त्रों के द्रष्टा हैं। १० वें मण्डल के ६७, ९० तथा ९७ वें सूक्त के अनेक मन्त्रों के भी वे द्रष्टा रहे हैं।

शुभ बल की कामना –निचृद् गायत्री छन्द में निबद्ध निम्न छन्द के द्रष्टा ऋषि वसिष्ठ ने परमेश्वर से शुभ बल की कामना की है –

ग्राव्णा तुन्नो अभिष्टुतः पवित्रं सोम गच्छसि। दधत्स्तोत्रे सुवीर्यम्॥

ऋग्वेद ९/६७/१९

अर्थात् जिज्ञासुओं से आविर्भाव को प्राप्त हुये तथा सब प्रकार से स्तुति

किये हुये हे परमात्मन्! आप उनके पवित्र अन्तःकरणों को प्राप्त होते हैं और उक्त स्तोता लोगों के लिये आप शुभ बल को उत्पन्न करते हैं।

९० वें सूक्त के सभी मन्त्रों के द्रष्टा वसिष्ठ ऋषि हैं। निम्न मन्त्र में परमात्मा के रुद्र धर्म का निरूपण किया गया है–

शूरग्रामः सर्ववीरः सहावाञ्जेता पवस्व सनिता धनानि।
तिग्मायुधः क्षिप्रधन्वा समत्स्वषाळ्हः साह्वान् पृतनासु शत्रून्॥

ऋ. ९/९०/३

अर्थात् जो शूर वीरों के समुदाय वाले हैं और स्वयं भी सब प्रकार से वीर और धैर्यवान हैं तथा सबको जीतने वाले हैं; जो ऐश्वर्योपार्जन में लगे हैं, तीक्ष्ण तथा तीव्र गति के शस्त्रों वाले हैं और संग्राम में दूसरों की शक्ति को सहन नहीं करने वाले हैं तथा पर-सेना में धुरन्धर वीरों को भी जीतने वाले हैं, उनको आप पवित्र करें।

यजुर्वेद

यजुर्वेद के विस्तार में भी वसिष्ठ का योगदान उल्लेखनीय है। तृतीय अध्याय के निम्न मन्त्र में लोगों का आह्वान किया गया है कि वे शत्रुओं से रहित होकर राजा को निष्कण्टक करके तथा शस्त्रास्त्रों का सम्पादन करके दुष्टों का नाश और श्रेष्ठजन की रक्षा करें, जिससे दुष्ट शत्रु सुखी और सज्जन लोग कदापि दुःखी न होवें –

एतत्ते रुद्रावसं तेन परो मूजवतोऽतीहि।
अवततधन्वा पिनाकावसः कृत्तिवासाऽअहि सन्नः शिवोऽतीहि।

यजुर्वेद ३/६१

पञ्चम अध्याय के निम्न मन्त्र में मनुष्यों को विद्वानों के समान दिव्य गुणों को जानने, उनसे श्रवण किये हुये प्राण-अपान वायु के घोषित शब्दों को प्राप्त करने, सामर्थ्यवाली प्रकाश भूमि, उत्तम गुणयुक्त विज्ञान या शिल्पमय यज्ञ को जानने, कुटिल गति वाला न होकर सद्‌गृहस्थ बनने तथा आयु तथा सृष्टि को नष्ट न करते हुये आकाश के मध्य इस सेवन योग्य जगत में रमण करने की शिक्षा दी गई है–

देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतं प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्तीऽऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिह्वरतम्।
स्वं गोष्ठमावदतं देवी दुर्य्येऽआयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टमत्र रमेथां वर्ष्मन् पृथिव्याः।।

यजुर्वेद ५/१७

सामवेद

सामवेद के अध्यायों में विभाजन का क्रम विशिष्ट है। 'पूर्वार्चिक' नाम के प्रथम भाग में ६ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय 'दशति' में विभक्त है, जिनके अन्तर्गत ६४० मन्त्र हैं। दूसरे भाग 'महानाम्न्यार्चिक' में केवल १० मंत्र आते हैं। इसके पश्चात् अन्तिम तीसरे भाग उत्तरार्चिक में २२ अध्याय ४०२ सूक्त तथा कुल १२२३ मन्त्र हैं। इस प्रकार सामवेद में कुल १८७३ मन्त्र हैं। परन्तु सायणाचार्य के मतानुसार सामवेद के अध्याय के कलेवर एवं मंत्र-संख्या में भिन्नता भी पाई जाती है।

महर्षि वसिष्ठ (मैत्रावरुणि) द्वारा दृष्ट मंत्र प्रथम आर्चिक के सभी पाँचों अध्यायों में ३५, प्रथम/द्वितीय आर्चिक के छठे अध्याय में १, तृतीय आर्चिक (उत्तरार्चि) के लगभग सभी अध्यायों में ४३ से अधिक इस प्रकार इनके द्वारा दृष्ट सामवेद में लगभग ८० मंत्र है।

सामवेद के प्रथम खण्ड 'पूर्वार्चिक' के तीसरे अध्याय की ग्यारहवीं दशति के निम्न मन्त्र का महत्व आज के सन्दर्भ में भी सर्वथा प्रासङ्गिक ज्ञात होता है-

उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ।
आ यो विश्वानि श्रवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि॥

सामवेद १/३/११/८ (मन्त्र क्र. ३३०)

अर्थात् हे अति श्रेष्ठ मनुष्य (वसिष्ठ)! तू मुझ सर्वव्यापी परमेश्वर के वेदोक्त धन-धान्यादि के लिये हितकारी वचनों को श्रद्धा से सुन तथा जो धन-धान्यादि से सब जगतों को विस्तृत करता है, उस राजा (इन्द्र) को (दुष्टों के साथ) संग्राम के निमित्त उच्च प्रभावशाली बना (अर्थात् सहायता कर) एवं उसका सत्कार कर।

अथर्ववेद

वसिष्ठ अथर्ववेद के अनेकानेक मन्त्रों के भी द्रष्टा ऋषि हैं, इसी कारण उन्हें 'आथर्वण' नाम से भी पुकारा जाता है।

अथर्ववेद को काण्ड, अनुवाक् एवं सूक्त में विभक्त किया गया है। सूक्त के अन्तर्गत मन्त्रों का समुच्चय है, जिनकी संख्या पृथक्-पृथक् सूक्तों में न्यूनाधिक प्राप्त होती है।

यह उल्लेखनीय है कि अथर्ववेद के मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों का सम्यक् निर्धारण न होने से इस सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं। अथर्ववेद संहिता के भाष्य की भूमिका में श्री राम शर्मा आचार्य ने यह मत प्रकट किया है कि

अथर्ववेद के ऋषियों में बहुत-से ऐसे नाम हैं, जो व्यक्तिवाचक नहीं, भावंवाचक अशरीरी लगते हैं।[1] जहाँ तक अथर्ववेद के मन्त्र-द्रष्टा के रूप में महर्षि वसिष्ठ की भूमिका का प्रश्न है, उसका स्वयं उनके 'आथर्वण' नामकरण से सहज अनुमान लगाया जा सकता है। विभिन्न सूक्तों में मित्र-वरुण, वसिष्ठ एवं अन्य समकालीन ऋषियों-राजाओं के नामोल्लेख से अथर्ववेद के मन्त्रों के द्रष्टा के रूप में उनके योगदान का अनुमान लगाया जा सकता है।

१८ वें काण्ड के तीसरे सूक्त का निम्न मन्त्र अवलोकनीय है-

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अनूजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः।
तेभिर्यमः संरराणो हवींष्युशन्नुशद्भिः प्रतिकाममत्तु॥

अथर्ववेद १८/३/४६

उक्त मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार है - "जैसे पूर्वज वृद्धों ने धार्मिक आचरणों से ऐश्वर्यमान् होकर सन्तानों से प्रीति की है, वैसे ही सब सन्तान जितेन्द्रिय होकर उत्तम व्यवहारों से उनकी सेवा करते रहें।"

योग वासिष्ठ[2]

योगवासिष्ठ महर्षि वसिष्ठ का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। योग वासिष्ठ एक मात्र सच्चिदानन्दघन रूप ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें एक ही तत्त्व की श्रेष्ठता विविध सुन्दर कथाओं तथा सुन्दर रोचक युक्तियों के द्वारा सफल रूप से स्थापित की गई है। इस ग्रन्थ में योग साधना, सदाचार, शास्त्र-विधि पालन आदि महत्त्वपूर्ण विषयों पर बहुत प्रभावशाली विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ को वसिष्ठ जी की कृति नहीं माना जाता। इसे वाल्मिकि-कृत भी कहा जाता है, परन्तु यह भी सन्देहास्पद है।

अन्य ग्रन्थ[3]

वसिष्ठ जी द्वारा अन्य अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का भी प्रणयन बताया जाता है, जिनमें निम्न विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :-

१. वसिष्ठ संहिता - पांचरात्र शास्त्र
२. वसिष्ठ संहिता - ज्योतिष
३. धनुर्वेद संहिता - युद्धशास्त्र
४. वसिष्ठ स्मृति
५. वसिष्ठ तन्त्र
६. वसिष्ठ कल्प
७. वृहद् वासिष्ठ सिद्धान्त।

---

१. अथर्ववेद संहिता, भाग १, सम्पादक श्री राम शर्मा आचार्य, भूमिका, पृष्ठ ११.
२. कल्याण - योगवासिष्ठ - अंक, वर्ष ३५ (१९६१) (नम्र निवेदन)।
३. श्री रामानन्द सम्प्रदाय का इतिहास, पृ. ३०५/४१.

इसके अतिरिक्त इनके द्वारा श्री रामानन्द सम्प्रदाय[1] के इतिहास में निम्न ग्रन्थों का भी प्रणयन किया गया बताया है –

१. श्री सीताराम स्तव
२. आश्रम धर्म निरूपणम्
३. परात्पर श्रीराम धाम वर्णनम्
४. सन्ध्योपासन विधि
५. वसिष्ठ हवन पद्धति
६. श्री सीताराम नमस्कार स्तवाष्टकम्
७. श्रीराम परात्पर स्त्रोत्रम्
८. वसिष्ठ कल्प (मानस के महर्षि)।

विश्वामित्र के क्षात्र बल पर वसिष्ठ के ब्रह्मतेज की विजय

महाभारत के आदि पर्व के चैत्ररथ पर्व में वसिष्ठजी एवं विश्वामित्रजी का कथानक आता है कि वसिष्ठजी जहाँ क्षमा की अद्‌भुत मूर्ति थे, वहीं विश्वामित्रजी इसके सर्वथा विपरीत। क्रोधाग्नि के कारण ही विश्वामित्रजी की पराजय हुई। महाभारत में यह प्रसङ्ग अर्जुन एवं गन्धर्व के संवाद के रूप में आता है, जिसके अनुसार वसिष्ठजी के आश्रम में विश्वामित्रजी के आगमन एवं नन्दिनी नाम्ना कामधेनु को लेकर विवाद आदि की घटनायें उल्लेखनीय हैं–

कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवो भरतर्षभ।
गाधीति विश्रुतो लोके कुशिकस्यात्मसम्भवः॥३॥

तस्य धर्मात्मनः पुत्रः समृद्धबलवाहनः।
विश्वामित्र इति ख्यातो बभूव रिपुमर्दनः॥४॥

महा. आदि प० १७४/३-४

अर्थात् कान्यकुब्ज देश में एक बहुत बड़े राजा थे, जो इस लोक में गाधि के नाम से विख्यात थे। वे कुशिक के औरस पुत्र बताये जाते हैं। उन्हीं धर्मात्मा नरेश के पुत्र विश्वामित्र के नाम से प्रसिद्ध हुये, जो सेना और वाहनों से सम्पन्न होकर शत्रुओं का मानमर्दन करने वाले के रूप में विख्यात हुये।

एक बार विश्वामित्र अपने मन्त्री के साथ मरुधन्व देश में शिकार खेलते-खेलते थककर वसिष्ठ के आश्रम पर आये। वसिष्ठ ने विधिपूर्वक उनका स्वागत-सत्कार किया और अपनी कामधेनु-नन्दिनी के प्रताप से अनेकों प्रकार के भक्ष्य, भोज्य, लेह्य, चोष्य आदि खाद्य पदार्थों द्वारा उन्हें तृप्त किया। इस आतिथ्य से

---

१. श्री रामानन्द सम्प्रदाय का इतिहास, पृ. ३०५/४१.

विश्वामित्र को बड़ा हर्ष हुआ। उन्होंने महर्षि वसिष्ठ से कहा- 'ब्रह्मन्! आप मुझसे एक अर्बुद गौएँ या मेरा राज्य ही ले लीजिये, परंतु अपनी कामधेनु नन्दिनी मुझे दे दीजिये।' वसिष्ठ बोले- 'मैंने यह दुधारू गाय देवता, अतिथि, पितरों और यक्षों के लिए रख छोड़ी है। आपके राज्य के बदले में भी यह देने योग्य नहीं है।' विश्वामित्र बोले- 'मैं क्षत्रिय हूँ और आप ब्राह्मण। आप शान्त महात्मा हैं, तपस्या-स्वाध्याय में लगे रहते हैं, आप इसकी रक्षा कैसे करेंगे? आप एक अर्बुद गाय के बदले में भी इसे नहीं दे रहे हैं तो मैं बलपूर्वक ले जाऊँगा, कदापि न छोड़ूँगा।' वसिष्ठजी बोले-' आप बलवान् क्षत्रिय हैं, जो चाहें तुरन्त कर सकते हैं। फिर सोच-विचार क्या ?' जब विश्वामित्र बलपूर्वक नन्दिनी को हँकवाकर ले जाने लगे, तब वह डकराती हुई वसिष्ठजी के पास आकर खड़ी हो गयीं। वसिष्ठ ने कहा- ' कल्याणि! मैं तुम्हारा क्रन्दन सुन रहा हूँ। विश्वामित्र तुम्हें बलपूर्वक छीनकर ले जा रहे हैं। मैं क्षमाशील ब्राह्मण हूँ। क्या करूँ, लाचारी है।' नन्दिनी बोली- ' भगवन्! ये सब मुझे चाबुक और डण्डों से पीट रहे हैं, मैं अनाथ की तरह डकरा रही हूँ। आप मेरी उपेक्षा क्यों कर रहे हैं?' वसिष्ठ उसका करुण-क्रन्दन सुनकर भी न क्षुब्ध हुए और न धैर्य से विचलित। वे बोले-' क्षत्रियों का बल है तेज और ब्राह्मणों का क्षमा। मेरा प्रधान बल क्षमा मेरे पास है। तुम्हारी मौज हो तो जाओ।' नन्दिनी ने कहा- ' आपने मुझे छोड़ा तो नहीं है? यदि नहीं तो बलपूर्वक मुझे कोई नहीं ले जा सकता।' वसिष्ठजी बोले- 'कल्याणि! मैंने तुझे नहीं छोड़ा। यदि तुझमें शक्ति है तो रह जा, देख, तेरे बच्चे को ये लोग मजबूत रस्सी से बाँधकर लिये जा रहे हैं।'[१]

वसिष्ठ की बात सुनकर नन्दिनी का सिर ऊपर उठ गया। आँखें लाल हो गयीं। वह वज्रकर्कश ध्वनि करने लगी। उसकी भीषण मूर्ति देखकर सैनिक भाग चले। जब लोगों ने उसको फिर ले जाने की चेष्टा की, तब वह सूर्य के समान चमकने लगी। उसके रोम-रोम से मानों अङ्गारों की वर्षा होने लगी। उसके एक-एक अङ्ग से पह्लव, द्रविण, शक, यवन, शबर, पौण्ड्र, किरात, चीन, हूण, सिंहली, बर्बर, खस, यूनानी और म्लेच्छ प्रकट हो गये तथा हथियार उठाकर विश्वामित्र के एक-एक सैनिक पर पाँच-पाँच, सात-सात करके टूट पड़े। भगदड़ मच गयी। आश्चर्य तो यह था कि नन्दिनी-पक्ष का कोई भी सैनिक विश्वामित्र के सैनिकों पर प्राणान्तक प्रहार नहीं करता था। जब उनकी सेना बारह कोस भाग गयी और उसे कोई रक्षक नहीं मिला, तब विश्वामित्र यह ब्रह्मतेज देखकर आश्चर्यचकित हो गये। अपने क्षत्रियभाव से उन्हें बड़ी ग्लानि हुई। वे

---

१. संक्षिप्त महाभारत - गीताप्रेस गोरखपुर पृ. ९६.

उदांस होकर कहने लगे- 'क्षत्रियबल को धिक्कार है। वास्तव में ब्रह्मतेज का बल ही सच्चा बल है। सच पूछो तो इसका प्रधान कारण तपोबल ही है।' यह विचार कर उन्होंने अपना विशाल राज्य, सौभाग्यलक्ष्मी तथा सांसारिक सुखभोग छोड़ दिये और तपस्या करने लगे। तपस्या से सिद्धि प्राप्त करके उन्होंने सारे लोकों को अपने तेज से भर दिया और ब्राह्मणत्व को प्राप्त किया।'

सत्संग बड़ा या तपस्या [१]

एक बार बात-ही-बात में विश्वामित्रजी से वसिष्ठ का विवाद छिड़ गया कि तपस्या बड़ी है या सत्संग। वसिष्ठजी का कहना था कि सत्संग बड़ा है और विश्वामित्रजी का आग्रह था कि तपस्या बड़ी है। इस विवाद का निर्णय कराने के लिये अन्त में दोनों शेष भगवान के पास पहुँचे। सब बातें सुनकर शेष भगवान ने कहा- ' भाई, अभी तो मेरे सिर पर पृथ्वी का भार है। आप दोनों में से कोई थोड़ी देर के लिये इसे ले लो तो मैं निर्णय कर सकता हूँ।' विश्वामित्र अपनी तपस्या के घमंड में फूले हुए थे, उन्होंने दस हजार वर्ष की तपस्या के फल का संकल्प किया और पृथ्वी को अपने सिर पर धारण करने की चेष्टा की। पृथ्वी काँपने लगी, सारे संसार में तहलका मच गया। तब वसिष्ठजी ने अपने सत्संग के आधे क्षण के फल का संकल्प करके पृथ्वी को धारण कर लिया और बहुत देर तक धारण किये रहे। अन्त में जब शेष भगवान फिर पृथ्वी को लेने लगे, तब विश्वामित्र बोले- ' अभी आपने निर्णय सुनाया नहीं।' शेष भगवान हँस पड़े। उन्होंने कहा- 'निर्णय तो अपने-आप हो गया। आधे क्षण के सत्संग की बराबरी हजारों वर्षों की तपस्या नहीं कर सकी।' इस प्रकार महर्षि वसिष्ठजी का माहात्म्य सब प्रकार से निखर उठने पर भी उनमें लेशमात्र अभिमान प्रविष्ट नहीं हो पाया था।

वसिष्ठ की क्षमाशीलता

एक बार एक रास्ते से शक्ति मुनि एवं राजा सुदास आमने-सामने हो गए। उस रास्ते से एक समय में केवल एक ही व्यक्ति आ-जा सकता था। शक्ति मुनि ब्राह्मण होने के कारण जहाँ पहले जाना चाहते थे, वहीं राजा सुदास राजा होने एवं थका होने के कारण पहले जाना चाहते थे। होनी अटल थी। राजा सुदास ने अपने राजा होने के गर्व में जहाँ शक्ति मुनि पर कोड़ों की मार की, वहीं शक्ति मुनि ने राजा द्वारा राक्षस का-सा व्यवहार करने के कारण उसे राक्षस होने का शाप दे दिया कि तुम मनुष्यों का भक्षण करोगे। शक्ति मुनि के पिता वसिष्ठजी से राजर्षि विश्वामित्र वैर रखते ही थे। अपने योगबल से विश्वामित्र ने शक्ति मुनि एवं

---

१. कल्याण - वेद कथाङ्क , वर्ष ७३ (१९९९) पृ. २२.

राजा सुदास का वृत्तान्त जान लिया। उपयुक्त समय जानकर विश्वामित्र ने अपने सेवित किंकर राक्षस को राजा सुदास के पुत्र मित्रसह के शरीर में प्रवेश करा दिया एवं वसिष्ठजी के सौ पुत्रों को मारने का आदेश दिया। किंकर राक्षस के राजा के शरीर में प्रवेश करते ही वह राक्षस हो गया, और शक्ति मुनि के शाप की यह कहते हुए पालना की कि सर्वप्रथम मैं तुम्हारा ही भक्षण करता हूँ। राक्षस कल्माष्पाद (राजा सौदास का नाम राक्षस योनि में कल्माष्पाद रहा) ने शक्ति मुनि के पश्चात् उनके अन्य सभी भाइयों का भी भक्षण कर लिया। यहाँ भक्षण का अर्थ प्रकारान्तर से वध ही समझा जाना चाहिये क्योंकि ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के ३२ वें सूक्त के २६ वें मन्त्र के पूर्वार्द्ध का उच्चारण करते हुये शक्ति को (जीवित) अग्नि में फेंक कर जला देना बताते हैं। मन्त्र के उत्तरार्द्ध भाग के द्रष्टा महर्षि वसिष्ठ माने जाते हैं।

एक दिन महर्षि वसिष्ठजी जब अपने आश्रम को लौट रहे थे, शक्ति मुनि की पत्नी अदृश्यन्ती उनके पीछे-पीछे जा रही थी। उस समय अचानक ही कल्माष्पाद अदृश्यन्ती की ओर बढ़ा, किन्तु वसिष्ठजी ने अपने तपोबल से मंत्रों से अभिमंत्रित जल के छींटे देकर राक्षस योनि से उसे मुक्ति दिलाते हुए निर्देश दिया कि भविष्य में किसी को अकारण ही मत सताना। यह है ब्रह्मर्षि का क्षमादान - सौ पुत्रों का भक्षण करने वाले को। अभिमंत्रित जल के छींटे ज्यों ही उसके पैरों पर पड़े, उसके पैर काले हो गये और तभी से राजा सुदास का नाम कल्माष्पाद हो गया।

वसिष्ठ के ब्रह्मतेज के प्रभाव से विश्वामित्र द्वारा क्षत्रियत्व का त्याग[१]

'ब्रह्मबल ही श्रेष्ठ है। क्षत्रिय-शक्ति तपस्वी ब्राह्मण का कुछ नहीं सकती। अत: मैं इसी जन्म में ब्राह्मणत्व प्राप्त करूँगा।' विश्वामित्र ने यह निश्चय किया और वे अत्यन्त कठोर तप में लग गये। सैकड़ों वर्षों की क़ठिन तपस्या के पश्चात् ब्रह्माजी प्रसन्न हुए और प्रकट हुए। उन्होंने वरदान दिया- 'वसिष्ठ के स्वीकार करते ही तुम ब्रह्मर्षि हो जाओगे।'

महर्षि वसिष्ठ से प्रार्थना करना विश्वामित्र के लिये बहुत अपमानजनक था। संयोगवश जब महर्षि वसिष्ठ मिलते तो इन्हें 'राजर्षि' ही कहते। अतः विश्वामित्र वसिष्ठ के घोर शत्रु हो गये थे। जैसा कि पूर्व में वर्णन आया है, एक राक्षस को प्रेरित करके उन्होंने वसिष्ठ के सौ पुत्रों को मरवा दिया। स्वयं भी वसिष्ठ को अपमानित करने, नीचा दिखाने का अवसर ढूँढ़ने लगे। उनका हृदय वैर तथा हिंसा की प्रबल भावना से पूर्ण था। यह थी 'राजर्षि' कहे जाने वाले

---

१. कल्याण - सदाचार अंक वर्ष ५२ (१९७८) पृ. २८३-८४.

विश्वामित्र की वसिष्ठ के प्रति नृशंसता! यह ब्राह्मणत्व नहीं था।

कौशिक ने अपनी ओर से कोई कोर-कसर उठा नहीं रखी। बड़ा दृढ़ निश्चय, प्रबल संकल्प था उनका, दूसरी सृष्टि का सृजन तक करने में लग गये। अनेक प्राणियों तक का सृजन कर दिया। विभिन्न अन्नादि बना डाले। ब्रह्माजी ने ही रोका उन्हें। अन्त में स्वयं शस्त्र-सज्जित होकर सुनसान रात्रि में छिपकर वसिष्ठ को मारने के लिये निकल पड़े। दिन में प्रत्यक्ष आक्रमण करके तो वे अनेक बार पराजित हो चुके थे।

चाँदनी रात्रि थी। कुटिया के बाहर वेदी पर एकान्त में पत्नी के साथ महर्षि बैठे थे। अरुन्धतीजी ने कहा- 'कैसी निर्मल ज्योत्स्ना है!'

वसिष्ठजी बोले-'ऐसा ही निर्मल तेज आजकल विश्वामित्र के तप का है।' वसिष्ठ का निर्मल मन अहिंसा तथा क्षमा से पूर्ण था।

विश्वामित्र छिपे खड़े थे। उन्होंने सुना और उनका हृदय उन्हें धिक्कार उठा- 'एकान्त में पत्नी के साथ बैठा जो अपने सौ पुत्रों के हत्यारे की प्रशंसा करता है, उस महापुरुष को मारने आया है तू! शस्त्र नीचे फेंके विश्वामित्र ने, दौड़कर महर्षि के चरणों पर गिर पड़े। योगाचार्य पतंजलि ने सत्य ही कहा है[१] -

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्संनिधौ वैरत्यागः।

विश्वामित्र के ब्राह्मण होने में उनका दर्प, उनका द्वेष, उनकी असहिष्णुता ही तो बाधक थी। आज दूर हुई। महर्षि वसिष्ठजी ने उन्हें झुककर उठाते हुए कहा- 'उठिये ब्रह्मर्षि!' वसिष्ठ जी द्वारा मान्यता प्राप्त होते ही लोक में वे अब 'ब्रह्मर्षि' के रूप में विख्यात हुये। विश्वामित्र अब सही अर्थों में ब्राह्मणत्व के गुण-तेज से प्रभायमान हो रहे थे।

वसिष्ठ-धर्मपत्नी : अरुन्धती

महर्षि वसिष्ठ की धर्मपत्नी का नाम अरुन्धती है, जो सप्तर्षि-मण्डल में भी वसिष्ठ के साथ सदैव देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में अधीष्ठित हैं। अरुन्धती का शाब्दिक अर्थ है - जो किसी का रोध नहीं करती (न कमपि रुन्धति)। कभी भी धर्म का रोध न करने के विशिष्ट गुण के कारण ही ऋषि पत्नी का अरुन्धती नाम पड़ा।

अरुन्धती जी के जन्म एवं पितृत्व के सम्बन्ध में विभिन्न पौराणिक ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न कथन प्राप्त होते हैं। अरुन्धती अपने पूर्व जन्म में ब्रह्मा की मानस-

---

१. कल्याण - सदाचार अंक, वर्ष ५२ (१९७८) पृ. २८३-८४.

पुत्री बताई गई हैं, जिनका नाम सन्ध्या था। सन्ध्या भगवान विष्णु के वरदान से पुरोडांश (हव्य-सामग्री) के रूप में परिणित होकर मन्त्र-द्रष्टा महर्षि मेधातिथि के हवन-कुण्ड से प्रकट हुईं, जिनका नाम अरुन्धती रखा गया। महर्षि मेधातिथि ने ही इनका पालन-पोषण किया था।

श्रीमद्भागवद् महापुराण [१] के अनुसार अरुन्धती के पिता महर्षि कर्दम तथा माता देवहूति थी। महर्षि कर्दम ने अपनी ९ कन्याओं में से कला का महर्षि मरीचि, अनुसूया का अत्रि, श्रद्धा का अङ्गिरा, हविर्भू का पुलस्त्य, गति का पुलह, क्रिया का क्रतु, ख्याति का भृगु, शान्ति का अथर्वा एवं अरुन्धती का महर्षि वसिष्ठ के साथ विवाह किया था।

पूर्व जन्म में सन्ध्या[२]

सन्ध्या ब्रह्मा की मानस पुत्री थी। वह तपस्या करने के लिये चन्द्रभाग पर्वत के वृहल्लोहित नामक सरोवर के पास घूम रही थी और इस बात के लिए बड़ी उत्सुक थी कि कोई संत सद्गुरु प्राप्त हो एवं मुझे तपस्या का मार्ग बतावे। भगवान् के प्रिय भक्त सर्वदा लोगों के हित-साधन में तत्पर रहते हुए इस बात की प्रतीक्षा किया करते हैं कि कोई सच्चा जिज्ञासु मिले और उसे कल्याण की ओर अग्रसर करे। सन्ध्या की जिज्ञासा देखकर महर्षि वसिष्ठ वहीं प्रकट हुए और सन्ध्या से पूछा-' कल्याणि! तुम इस घोर जङ्गल में कैसे विचर रही हो, तुम किसकी कन्या हो और क्या करना चाहती हो? यदि कोई गोपनीय बात न हो तो यह भी बताओ तुम्हारा यह सुन्दर मुखमण्डल उदास क्यों हो रहा है?' सन्ध्या उनके चरणों में नमस्कार करके उन मूर्तिमान ब्रह्मचर्य महर्षि वसिष्ठ से बड़ी नम्रता के साथ कहने लगी-'भगवन! मैं तपस्या करने के लिए इस सूने जंगल में आयी हूँ। अब तक मैं बहुत उद्विग्न हो रही थी कि कैसे तपस्या करूँ, मुझे तपस्या का मार्ग मालूम नहीं है। परन्तु अब आपको देखकर मुझे बड़ी शान्ति मिली है और मैं आश्वस्त हो गई हूँ कि मेरी अभिलाषा पूर्ण हो जायेगी।' सर्वज्ञ वसिष्ठ ने उसकी बात सुनकर उसके मन के सारे भाव जान लिए और कुछ नहीं पूछा। फिर जैसे एक कारुणिक गुरु अपने शिष्य को उपदेश करता है, वैसे ही बड़े स्नेह से बोले-'कल्याणि! तुम एकमात्र परम ज्योतिस्वरूप, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष के दाता भगवान विष्णु की आराधना करके अपना अभीष्ट प्राप्त कर सकती हो। सूर्यमण्डल में शंख-चक्र-गदाधारी चतुर्भुज वनमाली भगवान् विष्णु का ध्यान करके बताये मन्त्र का जप करो और मौन रहकर तपस्या करो। स्नान, पूजा और सब कुछ मौन होकर ही करो। पहले छः दिन तक कुछ भी भोजन मत करना,

---

१. श्रीमद्भागवत महापुराण ३/२४/२१-२३.

२. कल्याण, संत अंक, वर्ष १२ (१९३७) पृ. ३३५-३७.

केवल तीसरे दिन रात्रि में एवं छठे दिन रात्रि में कुछ पत्ते खाकर जल पी लेना। उसके पश्चात् तीन दिन तक निर्जल उपवास करना और फिर रात्रि में भी पानी मत पीना। इस तरह तपस्या समाप्त होने पर हर तीसरे दिन रात्रि में कुछ भोजन कर सकती हो। वृक्षों का वल्कल पहनना और जमीन पर सोना। इस मौनि-तपस्या को करती हुई भगवान का चिन्तन करो। भगवान तुम पर प्रसन्न होंगे और शीघ्र ही तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करेंगे।' इस प्रकार उपदेश करके महर्षि वसिष्ठ अन्तर्धान हो गये और वह भी तपस्या की पद्धति जानकर बड़े आनन्द के साथ भगवान की पूजा करने लगी। इस प्रकार निरन्तर चार युग तक उसकी तपस्या चलती रही। उसके व्रत को देखकर सभी आश्चर्यचकित और विस्मित थे।

अब भगवान विष्णु भी उसकी भावना के अनुसार रूप धारण करके उसके समक्ष प्रकट हुए। गरुड़ पर सवार अपने प्रभु की मनोहर छवि को देखकर वह सम्भ्रम उठ खड़ी हुई और 'क्या कहूँ? क्या करूँ?' इस चिन्ता में पड़ गयी। उसकी स्तुति करने की इच्छा जानकर भगवान ने उसे दिव्य ज्ञान, दिव्य दृष्टि एवं दिव्य वाणी प्रदान की। अब वह भगवान की स्तुति करने लगी। बड़े प्रेम से ज्ञानपूर्ण स्तुति करते-करते वह भगवान के चरणों पर गिर पड़ी। उसके तपःकृश शरीर को देखकर भगवान को बड़ी दया आयी और उन्होंने अमृतवर्षिणी दृष्टि से उसे हृष्ट-पुष्ट कर दिया तथा वर माँगने को कहा। सन्ध्या ने कहा- 'भगवन! यदि आप मुझ पर प्रसन्न हैं तो कृपा करके पहला वर तो यह दें कि संसार में पैदा होते ही किसी प्राणी के मन में काम के विकार का उदय न हो, और दूसरा वर यह दीजिये कि मेरा पातिव्रत्य अखण्ड रहे, और तीसरा यह कि मेरे भगवत्स्वरूप पति के अतिरिक्त और कहीं भी मेरी सकाम दृष्टि न हो। जो पुरुष मुझे सकाम दृष्टि से देखे, वह पुरुषत्वहीन अर्थात् नपुंसक हो जाय।' भगवान ने कहा कि 'चार अवस्थाएँ होती हैं-बाल्य, कौमार, यौवन और बुढ़ापा। इनमें तीसरी अवस्था अथवा दूसरी अवस्था के अन्त में लोगों में काम उत्पन्न होगा। तुम्हारी तपस्या के प्रभाव से आज मैंने यह मर्यादा बना दी कि पैदा होते ही कोई प्राणी कामयुक्त नहीं होगा। त्रिलोकी में तुम्हारे सतीत्व की ख्याति होगी और तुम्हारे पति के अतिरिक्त जो भी तुम्हें सकाम दृष्टि से देखेगा, वह तुरन्त नपुंसक हो जायेगा। तुम्हारे पति बड़े भाग्यवान्, तपस्वी, सुन्दर और तुम्हारे साथ ही सात कल्प तक जीवित रहने वाले होंगे। तुमने मुझसे जो वर माँगे थे, वे दे दिये। तुमने पहले आग में जलकर शरीर त्याग करने की प्रतिज्ञा की थी, सो यहीं चन्द्रभागा नदी के किनारे महर्षि मेधातिथि बारह वर्ष का यज्ञ कर रहे हैं, उसी में जाकर शीघ्र ही अपनी प्रतिज्ञा पूरी करो, वहाँ ऐसे वेश में जाओ कि मुनि लोग तुम्हें देख न सकें।

मेरी कृपा से तुम अग्निदेव की पुत्री हो जाओगी, जिसे तुम पति बनाना चाहती हो, मन से उसका चिन्तन करते-करते अपना शरीर त्याग करो।' यह कहकर भगवान ने अपने कर-कमलों से सन्ध्या के शरीर का स्पर्श किया और तुरन्त ही उसका शरीर पुरोडाश (यज्ञ का हविष्य) बन गया। उन महामुनि के सकल विश्वहितकारी यज्ञ में अग्नि माँसभोजी न हो जाय, इसलिए प्रभु ने ऐसा किया। इसके बाद सन्ध्या भी अदृश्य होकर उस यज्ञमण्डप में गयी। भगवान की कृपा से उस समय उसने अपने मन में मूर्तिमान् ब्रह्मचर्य और तपश्चर्या के उपदेशक वसिष्ठ का पति के रूप में वरण किया, और उन्हीं का चिन्तन करते-करते अपने पुरोडाशमय शरीर को पुरोडाश के रूप में अग्निदेव को समर्पित कर दिया। अग्निदेव ने भगवान् की आज्ञा से उसके शरीर को जलाकर सूर्यमण्डल में प्रविष्ट कर दिया। सूर्य ने उसके शरीर के दो भाग करके अपने रथ पर देवता और पितरों की प्रसन्नता के लिये स्थापित कर लिया। उसके शरीर का ऊपरी भाग, जो दिन का प्रारम्भ यानि प्रातःकाल है, उसका नाम 'प्रातःसन्ध्या' और शेष भाग दिन का अन्त 'सायं सन्ध्या' हुआ।

अरुन्धती का जन्म

भगवान ने उसके प्राण को दिव्य शरीर और अन्तःकरण को शरीरी बनाकर मेधातिथि की यज्ञीय अग्नि में स्थापित कर दिया।

मेधातिथि ने यज्ञ के अन्त में उस स्वर्ण के समान सुन्दरी सन्ध्या को पुत्री के रूप में प्राप्त किया। उस समय यज्ञीय अर्घ्यजल में स्नान कराकर वात्सल्य-स्नेह से परिपूर्ण और आनन्दित होकर उसे गोद में उठा लिया और उसका नाम अरुन्धती रक्खा। किसी भी कारण से वह धर्म का रोध नहीं करती थी, इसी से उसका 'अरुन्धती' नाम सार्थक हुआ। यज्ञ समाप्त होने के बाद कृतकृत्य होकर मेधातिथि शिष्यों के साथ अपने आश्रम पर रहते हुए आनन्दित होकर अपनी कन्या अरुन्धती का लालन-पालन करने लगे।

अब कुमारी अरुन्धती मेधातिथि के उस चन्द्रभागा तट पर स्थित तापसारण्य नामक आश्रम में शुक्लपक्ष की चन्द्रकला की भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगी। पाँचवें वर्ष में पदार्पण करने पर ही उसके सद्गुणों से सम्पूर्ण तापसारण्य पवित्र हो गया। आज भी लोग उस अरुन्धती के क्रीड़ा-क्षेत्र तापसारण्य और चन्द्रभागा के जल में जा-जाकर कर स्नान करते हैं और विष्णुपाद लाभ करते हैं। उनकी सांसारिक अभिलाषाएँ भी पूर्ण होती हैं।

एक दिन जब अरुन्धती चन्द्रभागा के जल में स्नान करके अपने पिता

मेधातिथि के पास ही खेल रही थी, स्वयं ब्रह्माजी पधारे और उसके पिता से कहा कि 'अब अरुन्धती को शिक्षा देने का समय आ गया है, इसलिये इसे अब सती साध्वी स्त्रियों के पास रखकर शिक्षा दिलवानी चाहिये, क्योंकि कन्या की शिक्षा पुरुषों द्वारा नहीं होनी चाहिये। स्त्री ही स्त्रियों को समुचित शिक्षा दे सकती है, किन्तु तुम्हारे पास तो कोई स्त्री नहीं है, अतएव तुम अपनी कन्या को बहुला और सावित्री के पास रख दो। तुम्हारी कन्या उनके पास रहकर शीघ्र ही गुणवती हो जायेगी।' मेधातिथि ने उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और उनके जाने पर अरुन्धती को लेकर सूर्य लोक में गये। वहाँ उन्होंने सूर्यमण्डल में स्थित पद्मासनासीन सावित्री देवी का दर्शन किया। उस समय बहुला मानस पर्वत पर जा रही थीं, इसलिये सावित्री देवी भी सूर्यमण्डल से निकल कर वहीं के लिये चल पड़ीं। बात यह थी कि प्रतिदिन वहाँ सावित्री, गायत्री, बहुला, सरस्वती एवं द्रुपदा एकत्रित होकर धर्म- चर्चा करती थीं और लोक-कल्याण की कामना किया करती थीं। महर्षि मेधातिथि ने उन माताओं को पृथक्-पृथक् प्रणाम किया और सबको सम्बोधन करके कहा कि 'यह मेरी यशस्विनी कन्या है। यही इसके उपदेश का समय है। इसी से मैं इसे लेकर यहाँ आया हूँ। ब्रह्मा ने ऐसी ही आज्ञा की है। अब यह आपके पास ही रहेगी। माता सावित्री और देवी बहुला! आप दोनों इसे ऐसी शिक्षा दें कि यह सच्चरित्र हो।' उन दोनों ने कहा-'महर्षे! भगवान् विष्णु की कृपा से तुम्हारी कन्या पहले से ही सच्चरित्र है, किन्तु ब्रह्मा की आज्ञा के कारण हम इसे अपने पास शिक्षा देने के लिए रख लेती हैं। यह पूर्वजन्म में ब्रह्मा की कन्या थी। तुम्हारे तपोबल से और भगवान् की कृपा से यह तुम्हारी पुत्री हुई है। यह सती न केवल तुम्हारा या तुम्हारे कुल का बल्कि सारे संसार का कल्याण करेगी।

मेधातिथि वहाँ से विदा हुए और अरुन्धती उनकी सेवा करने लगी। उन जगन्माताओं की सेवा में रहकर अरुन्धती का समय बड़े आनन्द से बीतने लगा। अरुन्धती कभी सावित्री के साथ सूर्य के घर जाती तो कभी बहुला के साथ इन्द्र के घर जाती। इस प्रकार सात वर्ष और बीत गये और स्त्री धर्म की शिक्षा प्राप्त करके वह अपनी शिक्षिका सावित्री और बहुला से भी श्रेष्ठ हो गयी। एक दिन मानस पर्वत पर विचरण करते-करते अरुन्धती ने मूर्तिमान् ब्रह्मचर्यव्रती महर्षि वसिष्ठ को देखा। इन्हें देखते ही उसका मन क्षुब्ध हो गया और वह काम के विकार से काँप उठी। किसी प्रकार धैर्य धारण करके पश्चाताप करती हुई वह बहुला और सावित्री के निकट उपस्थित हुई। अरुन्धती को उदास देखकर सावित्री ने ध्यान योग से सारी बात जान ली और उसके मस्तक पर हाथ

रखकर वात्सल्यपूर्ण शब्दों में पूछा। उनका प्रश्न सुनकर अरुन्धती संकोच के मारे जमीन में गड़ गयी, उससे बोला नहीं गया। अन्ततः सावित्री ने सारी बात ताड़कर समझाया– "वे परम तेजस्वी ऋषि कोई दूसरे नहीं हैं, वे तुम्हारे भावी पति हैं और यह पहले से ही निश्चित हो चुका है। उनके दर्शन के कारण क्षोभ होने से तुम्हारा सतीत्व नष्ट नहीं हुआ। तुमने उन्हें पति के रूप में पूर्व जन्म में ही वरण कर लिया है और वे भी तुमसे प्रेम करते हैं, तुम्हें हृदय से चाहते हैं।"

इसके बाद सावित्री ने अरुन्धती को उसके पूर्व जन्म की कथा कह सुनायी, जिससे अरुन्धती को बड़ा सन्तोष मिला और उसे पूर्व जन्म की बातें याद आ गयीं। इसके बाद सावित्री ब्रह्मा के पास गयीं और उनसे सब बातें कहकर अरुन्धती के विवाह के लिए यही उपयुक्त समय बतलाया। ब्रह्मा भी निश्चय करके मानस पर्वत पर आ गये और शंकर तथा विष्णु को भी वहीं प्रार्थना करके बुलाया। मेधातिथि को बुलाने के लिए नारद को भेजा और नारदजी जाकर उनको बुला लाये। ब्रह्मा आदि के कहने पर मेधातिथि ने उनके साथ ही अपनी कन्या को लेकर मानस पर्वत के लिए प्रस्थान किया और जाकर देखा कि महर्षि वसिष्ठ मानस पर्वत की कन्दरा में समाधि लगाये बैठे हैं और उनके मुखमण्डल से सूर्य की भाँति प्रकाश की किरणें निकल रही हैं। उनकी समाधि टूटने पर अपनी कन्या को आगे करके मेधातिथि ने निवेदन किया–'भगवन्! यह मेरी ब्रह्मचारिणी पुत्री है, आप इसे ब्राह्मविधि से स्वीकार करें। आप जैसा चाहेंगे, जिस रूप में रहेंगे, यह आपकी सेवा करेगी और छाया की भाँति पीछे-पीछे चलेगी।' मेधातिथि की प्रार्थना सुनकर तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवताओं को आये हुए देखकर और तपस्या के बल से भावी बात को जानकर महर्षि वसिष्ठ ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। अरुन्धती की आँखें उनके चरणों में लग गयीं। अब ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र एवं इन्द्रादि देवताओं ने विवाहोत्सव सम्पन्न किया। उनके वल्कल आदि वस्त्र, मृगचर्म और जटा को खोलकर बड़े सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य वस्त्राभूषण पहनाये। विधिपूर्वक स्वर्णकलश के जल से अभिषेक-स्नान कराया, वैदिक मन्त्रों का पाठ हुआ। ब्रह्मा ने सूर्य के समान प्रकाशमान, त्रिलोकी में बिना रुकावट के उड़ने वाला बड़ा सुन्दर विमान दिया। विष्णु ने सबसे ऊँचा स्थान दिया और रुद्र ने सात कल्प तक की आयु दी। अदिति ने ब्रह्मा के बनाये हुए अपने दोनों कानों के कुण्डल उतारकर दे दिये। सावित्री ने पातिव्रत्य व बहुला ने बहुपुत्रत्व का वरदान, देवेन्द्र ने बहुत से रत्न और कुबेर ने समता दी। इसी प्रकार सभी ऋषि-मुनियों ने अपनी ओर से उपहार दिये।

ऐसा माना जाता है कि विवाह के अवसर पर ब्रह्मा, विष्णु आदि के द्वारा स्नान कराते समय जो जलधाराएँ गिरी थीं, वे ही गोमती, सरयू, क्षिप्रा, महानदी आदि सात नदियों के रूप में विभक्त हो गयीं, जिनके दर्शन, स्पर्श, स्नान और पान से सारे संसार का कल्याण होता है। विवाह के पश्चात् वसिष्ठजी महाराज अपनी धर्मपत्नी के साथ विमान पर सवार होकर देवताओं के बतलाये स्थान पर चले गये। तत्पश्चात् हिमालय पर्वत की तलहटी में आश्रम बनाकर ऋषि दम्पत्ति दीर्घकाल तक तपस्या करते रहे। इसी आश्रम पर महाराज दिलीप ने अपनी रानी सुदक्षिणा के साथ रहकर कामधेनु-पुत्री नन्दिनी की सेवा की थी।"[१] वसिष्ठ जहाँ जिस रूप में तपस्या करते हुए संसार के कल्याण में संलग्न रहते हैं, तब तहाँ उन्हीं के अनुरूप वेश में रहकर अरुन्धती उनकी सेवा किया करती हैं। आज भी सप्तर्षि मण्डल में स्थित वसिष्ठ के पास ही देवी अरुन्धती का स्थान प्रकाशमान नक्षत्र के रूप में विद्यमान है और अनन्तकाल तक विद्यमान रहेगा।

अरुन्धती का गुण वैशिष्ट्य[१] - "पतिव्रता-शिरोमणि अरुन्धती के अनुपम पातिव्रत्य की कहीं भी तुलना नहीं हो सकती। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य-ये छः दोष जो प्राणिमात्र के स्वाभाविक शत्रु हैं, अरुन्धती देवी की ओर आँख उठाकर भी नहीं देख पाते। इनमें क्षमा, दया, करुणा, शान्ति, अहङ्कारशून्यता, लज्जा, विनय, विद्या, विवेक, ज्ञान-विज्ञान आदि सद्गुणों का सहज विकास है। इनका मन राग-द्वेष तथा शत्रु-मित्र आदि की भावना से रहित है। इनका जीवन नारी-जगत् के लिये आदर्श है। इनका स्मरण तन, मन और प्राणों को पवित्र करने वाला है।

अरुन्धतीजी अजर-अमर हैं। रूप, गुण एवं तपस्या में इनकी समानता करने वाली तीनों लोकों में दूसरी कोई स्त्री नहीं है। इनकी आयु जैसा कि पूर्व में वर्णित है, सात कल्पों तक की मानी गयी है। यह सदा और सर्वत्र अपने पति के ही साथ रहती हैं। सप्तर्षि-मण्डल में देवी अरुन्धती के अतिरिक्त दूसरी किसी ऋषि-पत्नी ने स्थान नहीं पाया है। विवाह के अवसर पर वर और वधू को अरुन्धती का दर्शन कराया जाता है, इसलिये कि वधू में अरुन्धती के गुणों का विकास हो, उसका अखण्ड सौभाग्य बना रहे। अरुन्धती की उत्पत्ति के विषय में पुराणों में अन्य भी प्रसंग मिलते हैं, उन्हें कहीं दक्ष प्रजापति की कन्या भी बतलाया गया है।

---

१. कल्याण - नारी अंक, वर्ष २२ (१९४८) पृ. ३५३-५४.

एक बार अग्निदेव की पत्नी स्वाहा अरुन्धती का रूप धारण करने लगी, तो उसे सफलता न मिली। उसने लाख चेष्टा की, किन्तु उनका रूप धारण करना उसके लिये असम्भव हो गया। यह देख स्वाहा अरुन्धती के पास गयी और हाथ जोड़कर सब बातें कह सुनायीं। फिर क्षमा माँगते हुए उसने कहा-'सती शिरोमणि अरुन्धती! आप धन्य हैं। एकमात्र आप ही पातिव्रत्य धर्म का ठीक-ठीक पालन करने वाली हैं। आप जैसी दूसरी सती अब तक मेरे देखने में नहीं आयी। जो कन्याएँ विवाह के समय पूर्णतया एकाग्रचित्त हो, ब्राह्मण और अग्नि के समक्ष पति का हाथ पकड़ते समय आपका स्मरण करेंगी, उन्हें सुख, धन, अखण्ड सौभाग्य तथा पुत्र की प्राप्ति होगी। मैंने आपके रूप को धारण करने का जो असफल दुःसाहस किया है, उसके लिये आप क्षमा करें।'

कहा जाता है कि एक बार स्त्रियों के पातिव्रत्य धर्म की जिज्ञासा से सूर्य, इन्द्र और अग्नि तीनों देवता अरुन्धती के पास गये। उस समय वे घड़े में जल लाने के लिए जा रही थीं। देवताओं को देखकर अरुन्धती ने अपना घड़ा एक किनारे शुद्ध भूमि पर रख दिया और तीनों देवताओं की परिक्रमा करके उन्हें प्रणाम किया, फिर पूछा, 'आप लोग किस कार्य से यहाँ पधारे हैं, कृपा करके बतलावें।' देवता बोले - 'हमारे मन में एक प्रश्न उठा है, जिसका निर्णय कराने के लिये हम आपके पास आये हैं।' अरुन्धती बोलीं - 'आप थोड़ी देर यहाँ आश्रम पर विश्राम करें, तब तक मैं यह घड़ा भरके लाती हूँ। उसके बाद आपका प्रश्न सुनूँगी और यथाशक्ति उत्तर भी देने का प्रयास करूँगी।' तब सूर्य आदि देवताओं ने कहा, 'देवि! हम अपने प्रभाव से इस घड़े को भर देते हैं।' सूर्यदेव ने सारी शक्ति लगा दी, किन्तु वे घड़े को एक-चौथाई से अधिक न भर सके। इन्द्र और अग्नि ने भी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर केवल एक-एक चौथाई भाग भरा। इस प्रकार घड़े का तीन भाग भर गया। बाकी चतुर्थ भाग वे तीनों मिलकर भी न भर सके। तब अरुन्धती ने सती धर्म का वर्णन किया और उसकी महिमा से घड़े का चौथा भाग स्वयं भर दिया। देवताओं को अपने प्रश्न का उत्तर मिल गया और वे अरुन्धती के चरणों में मस्तक झुकाकर अपने-अपने लोक को चले गये।"

कहते हैं कि जिन लोगों की आयु शेष नहीं रहती, उन्हें न तो बुझते हुये दीपक की गन्ध अनुभव होती है, न मित्रों के (हितकारी) वचन सुनाई देते हैं और न सप्तर्षि-मण्डल में ऋषि वसिष्ठ से अभिन्न रूप में विद्यमान अरुन्धती दिखाई देती हैं-[१]

---

१. हिन्दू धर्मकोश, डॉ० राजवली पाण्डे, पृ. ४८.

दीपनिर्वाणगन्धञ्च सुहृद्वाक्यमरुन्धतीम्।
न जिघ्रन्ति न शृण्वन्ति न पश्यन्ति गतायुषः॥

वसिष्ठजी की पत्नी का एक अन्य नाम अक्षमाला का भी उल्लेख मिलता है,[१] जैसा कि हिन्दू धर्मकोश में उद्धृत किया गया है।

वायु पुराण में महर्षि वसिष्ठ की एक पत्नी का नाम घृताची भी बताया गया है, जिनका दूसरा नाम कपिञ्जली भी है-

अत ऊर्ध्वं निबोधध्वमिन्द्रप्रतिमसंभवम्।
वसिष्ठस्य कपिञ्जल्यां घृताच्यां समपद्यत।
कुशीतिया समाख्यात इन्द्रप्रतिम उच्यते॥८८॥

वायु पु० ७०/८८

अर्थात् अब इसके उपरान्त इन्द्रप्रतिम के पुत्रों का विवरण सुनिये-कपिञ्जली-घृताची में वसिष्ठ के कुशीति (क्रणति) नामक पुत्र हुआ, जो इन्द्रप्रतिम नाम से प्रसिद्ध है।

महर्षि वसिष्ठ की सन्तति

ब्रह्मर्षि वसिष्ठ के सौ पुत्र हुये, जिनमें महर्षि शक्ति ज्येष्ठ पुत्र थे। यह उल्लेखनीय है कि विश्वामित्र की प्रेरणा से कल्माषपाद द्वारा वसिष्ठ के शक्ति सहित सभी सौ पुत्रों का युवावस्था में ही वध कर दिया गया था। उनके केवल दो पुत्रों - शक्ति एवं वसुक्र के दो-दो पुत्र हुये, जो सभी मन्त्र-दृष्टा ऋषि हुये।

मन्त्र द्रष्टा पुत्र एवं पौत्रगण

ऋग्वेद आदि श्रुतियों में वसिष्ठ के बारह पुत्रों का मन्त्र-दृष्टा के रूप में उल्लेख है। उनके नाम हैं- मन्यु, उपमन्यु, व्याघ्रपात्, मृळीक, वृषगण, प्रथ, इन्द्रप्रमति, द्युम्नीक, चित्रमहाः, कर्णश्रुत्, वसुक्र तथा शक्ति।[२] ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के 33वें सूक्त के द्रष्टा ब्रह्मर्षि वसिष्ठ के पुत्रगण ही हैं।

वसिष्ठ के पुत्रों के अतिरिक्त उनके ये प्रपौत्र भी मन्त्र-द्रष्टा ऋषि हुये हैं- वसुकृद् वासुक्र, वसुकर्ण वासुक्र, पराशर शाक्त्य तथा गौरवीति शाक्त्य।[३] वसिष्ठ जी के उपर्युक्त पुत्रों एवं पौत्रों द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संक्षिप्त विवरण अग्रलिखित तालिका में समाविष्ट किया गया है।

---

२. हिन्दू धर्मकोश, डॉ० राजवली पाण्डे, पृ. ३.

३. कल्याण - वेदकथाङ्क, वर्ष ७३ (१९९९) पृ. २३.

वसिष्ठ के पुत्र एवं पौत्रगण द्वारा दृष्ट मंत्र एक दृष्टि में

क्र० नाम	वेदों का नाम												
	ऋग्वेद			यजुर्वेद		सामवेद				अथर्ववेद		
	मंडल	सूक्त	ऋचायें	अध्याय	मंत्र	आर्चिक	अध्याय	खण्ड	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मंत्र
(क) पुत्रगण												
१. शक्ति वासिष्ठ	७	३२	१	–	–	१	५	११	१ (५८३)	२०	७९	२
	९	९७	३ (१९-२१)									
	९	१०८	३ (११४-१६)									
२. द्युम्नीक वैकल्पिक ऋषित्व	८	८७	६ (१-६)									
३. इन्द्रप्रमति (इन्द्रप्रतिम)	९	९७	३ (४-६)	–	–	१	५	७	१	–	–	–
४. उपमन्यु	९	९७	३ (१३-१५)									
५. कर्णश्रुत्	९	९७	३ (२२-२४)	–	–	१	५	७	१ (५३७)	–	–	–
६. चित्रमहा	१०	१२२	८ (१-८)	–	–	–	–	–	–	–	–	–
७. प्रथ	१०	१८१	१ (१)	–	–	१	५	२	१ (५११)	–	–	–
८. मन्यु	९	९७	३ (१०-१२)	–	–	१	५	२	१ (५४०)	–	–	–
९. मृळीक	९	९७	३ (२८-३०)	–	–	–	–	–	–	–	–	–
१०. वसुक्र	९	९७	३	–	–	–	–	–	–	२०	७४	३
११. वृषगण	९	९७	३ (७-९)	–	–	१	५	६	१ (५२४)			
१२. व्याघ्रपाद्	९	९७	३ (१६-१८)	–	–	–	–	–	–	–	–	–

क्र० नाम	वेदों का नाम											
	ऋग्वेद			यजुर्वेद		सामवेद				अथर्ववेद		
	मंडल	सूक्त	ऋचायें	अध्याय	मंत्र	आर्चिक	अध्याय	खण्ड	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मंत्र
ख. सभी पुत्रगण (संयुक्त ऋषित्व)	७	३२	५	–	–	–	–	–	–	–	–	–
ग. पौत्रगण												
१. पराशर शाक्त्य	१	६५	१०	३३	१ (११)	१	५	६	२ (५२५,५२९)	–	–	–
	१	६६	१०	–	–	१	५	७	२ (५३४,५४२)	–	–	–
	१	६७	१०	–	–					–	–	–
				–	–	–	–	–	–	–	–	–
	१	६८	१०	–	–	–	–	–	–	–	–	–
	१	६९	१०	–	–	–	–	–	–	–	–	–
	१	७०	१०	–	–	–	–	–	–	–	–	–
	१	७१	१०	–	–	–	–	–	–	–	–	–
	१	७२	१०	–	–	–	–	–	–	–	–	–
	१	७३	१०	–	–	–	–	–	–	–	–	–
	९	९७	१४ (३१-४४)	–	–	–	–	–	–	–	–	–
२. गौरवीति शाक्त्य	५	२९	१५ (१-१५)	३३	२ (२८,६४)	१	३	२१	१ (३१९)	–	–	–
	९	१०८	२ (१-२)	–	–	१	३	२२	१ (३३१)	–	–	–
	१०	७३	११ (१-११)	–	–	१	६	११	१ (५७८)	–	–	–
	१०	७४	६ (१-६)	–	–	–	–	–	–	–	–	–
३. वसुकर्ण वासुक्र	१०	६५	१५	–	–	–	–	–	–	–	–	–
	१०	६६	१५	–	–	–	–	–	–	–	–	–
४. वसुकृत् वासुक्र	१०	२०	१०	–	–	१	३	२३	१ (३३४)	–	–	–
	१०	२१	८	–	–	–	–	–	–	–	–	–
	१०	२२	१५	–	–	–	–	–	–	–	–	–
	१०	२३	७	–	–	–	–	–	–	–	–	–
	१०	२४	६	–	–	–	–	–	–	–	–	–
	१०	२५	११	–	–	–	–	–	–	–	–	–
	१०	२६	९	–	–	–	–	–	–	–	–	–

❑❑❑

३

पराशर-पिता : शक्ति

ब्रह्मर्षि वसिष्ठ के शक्ति सहित सौ पुत्र हुए। महाभारत तथा अनेक पुराणादि धर्मग्रन्थों में महर्षि शक्ति के विषय में वर्णन उपलब्ध होता है। महाभारत में शक्ति को वसिष्ठ मुनि का ज्येष्ठ पुत्र बताया गया है-

शक्तिं नाम महाभागं वसिष्ठकुलवर्द्धनम्।
ज्येष्ठं पुत्रं पुत्रशताद् वसिष्ठस्य महात्मनः॥

महाभारत आदिपर्व १७५/६

अर्थात् वे वसिष्ठ के वंश की वृद्धि करने वाले महाभाग शक्ति थे। महात्मा वसिष्ठ के सौ पुत्रों में वे (शक्ति) ही सबसे बड़े थे।

महामुनि शक्ति बाल्यकाल से ही तीक्ष्ण बुद्धि के धनी थे। अपने गुरु एवं अन्य बुजुर्गों की आज्ञा-पालन मानों उनके जीवन का दर्शन था। अपनी बात जहाँ तर्कसंगत रूप में कहकर वे दूसरे को प्रभावित करने की क्षमता रखते थे, वहीं वे मधुर वक्ता भी थे, जिससे अनायास ही लोग उनकी ओर आकर्षित हो जाते थे। शक्ति मुनि ने अपने पिताश्री से ही उनके आश्रम में रहकर वेदाध्ययन किया। उनकी विलक्षण प्रतिभा, तपस्या एवं स्वाध्याय के कारण सभी उनका समुचित आदर करते थे।[१] अल्पायु में ही वे अपनी तपश्चर्या, विद्वता एवं उज्ज्वल चरित्र के कारण सर्वत्र लोकप्रिय एवं आदरणीय हो गये थे।

मन्त्र-द्रष्टा ऋषि

शक्ति मुनि प्रसिद्ध मन्त्र-द्रष्टा ऋषि रहे हैं। ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के तैंतीसवें सूक्त के क्रमांक १० से १४ मन्त्रों के द्रष्टा महर्षि शक्ति सहित महर्षि वसिष्ठ के अन्य पुत्र कहे गये हैं, जिनके देवता वसिष्ठ हैं।[२] मन्त्र संख्या १ से ९ के द्रष्टा वसिष्ठ ने अपने पुत्रों को सम्बोधित किया है, अतः इनमें देवता उनके पुत्रगुण हैं। कौन-सा मन्त्र किस पुत्र का है, यह ज्ञात नहीं होता।

---

१. पारीक महापुरुष - रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी 'उमंग', पृ. ३२.
२. ऋग्वेद संहिता, भाग ३, सम्पा. पं. श्रीराम आचार्य, सं. १९९४, परिशिष्ट १ क्र. ५२.

सायणाचार्य इस तथ्य की पुष्टि निम्न शब्दों में करते हैं–[१]

आदितो नवानां वसिष्ठ ऋषिः। वसिष्ठ पुत्राणां स्तूयमानत्वात्त एव देवता। विद्युतो ज्योतिरित्यादिभिर्दशम्यादिभिः स्वपुत्रैर्वसिष्ठः स्तूयते। अतो वसिष्ठो देवता त एव ऋषयः। या तेनोच्यते इति न्यायात्।

ऋग्वेद ७/३३, सायण भाष्य

तैतीसवें सूक्त का प्रथम मन्त्र द्रष्टव्य है–

शिवत्यञ्चो मा दक्षिणतस्कपर्दा धियंजिन्वासो अभि हि प्रमन्दुः।
उत्तिष्ठन्वोचे परि बर्हिषो नृन्न मे दूरादवितवे वसिष्ठाः॥१॥

ऋग्वेद ७/३३/१

अर्थात् जो वृद्धि को प्राप्त होते दाहिनी ओर को जटाजूट रखने वाले बुद्धि को प्राप्त हुये, अतीव विद्याओं में बसने वाले नायक मनुष्यों को उठता हुआ अर्थात् उद्यम के लिये प्रवृत्त हुआ, सब ओर से कहता हूँ। भावार्थ यह है कि हे मनुष्यो! जो विद्याओं में प्रवीण, मनुष्यों की सत्य आचार में बुद्धि बढ़ाने वाले, पढ़ाने, पढ़ने और उपदेश करने वाले हों, उनको विद्याओं, धर्म के प्रचार के लिये निरन्तर शिक्षा, उत्साह और सत्कार युक्त करें।

महर्षि वसिष्ठ एवं शक्ति मुनि को ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के ३२ वें सूक्त के २६ वें निम्न मन्त्र[२] का संयुक्त रूप से द्रष्टा कहा गया है–

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा।
शिक्षा णो अस्मिन्पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि॥२६॥

ऋग्वेद ७/३२/२६

अर्थात् हे बहुत सों से प्रशंसा को प्राप्त परमैश्वर्य के देने वाले जगदीश्वर भगवन्! जैसे पुत्रों के लिये पिता, वैसे ही हम लोगों के लिये धर्मयुक्त बुद्धि को भली प्रकार धारण कीजिये (आभर); इस वर्तमान समय में हम लोगों को सिखलाओ, जिससे हम जीव लोग (ज्योतिः) विज्ञान को और आपको प्राप्त होवें।

जैमिनीय ब्राह्मण[२] के अनुसार विश्वामित्र द्वारा शक्ति को अग्नि में फेंकने का उल्लेख आया है (जैमिनीय ब्रा. २/३९०)। शाट्यायन ब्राह्मण के अनुसार वसिष्ठ पुत्र शक्ति उक्त मन्त्र (७/३२/२६) के पूर्वार्द्ध भाग के द्रष्टा हैं तथा उत्तरार्द्ध भाग के द्रष्टा स्वयं उनके पिता वसिष्ठ हैं। इसका कारण यह बताया गया है कि

---

१. ऋग्वेद संहिता, भाग ३, सम्पा. पं. श्रीराम आचार्य, सं. १९९४ परिशिष्ट १ क्र. ५२.
२. उपर्युक्त परिशिष्ट १, क्र. ५८.

जब सुदास के पुत्रों (सौदासों) द्वारा विश्वामित्र के प्रतिशोध के लिये महर्षि शक्ति को अग्नि में फेंका जा रहा था, तब उन्हें इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध का दर्शन हुआ और वे आधी ऋचा कहते-कहते जल गये। बाद में इस ऋचा का उत्तरार्द्ध भाग महर्षि वसिष्ठ ने पूर्ण किया-[१]

सौदासैरग्नो प्रक्षिप्यमाणः शक्तिरन्त्यं प्रगाथमालेभे सोऽर्धर्चे उक्तेऽदह्यत। तं पुत्रोक्तं वसिष्ठ समापयतेति ---।

मण्डल (सप्तम्) द्रष्टा वसिष्ठः ऋषि। 'इन्द्रं क्रतुं नः' इति प्रगाथ-स्यार्धर्चस्य च वसिष्ठपुत्रः शक्तिर्वसिष्ठो वा।

ऋग्वेद ७/३२/२६ (सायण भाष्य)

शाट्यायन का अनुसरण करने वाले षड्गुरु शिष्य ने भी शक्ति के सम्बन्ध में उक्त घटना का वर्णन किया है। उनके अनुसार विश्वामित्र शक्ति से पराजित होकर जमदग्नि ऋषि के पास पहुँचे। इस सम्बन्ध में "सत्संग बड़ा या तपस्या" शीर्षक के अन्तर्गत दोनों के मध्य शास्त्रार्थ का उल्लेख आया है, जिसमें विश्वामित्र शक्ति से पराजित हो गये थे। जमदग्नि ने विश्वामित्र को ससर्परी वाक् विद्या सिखाई। बाद में विश्वामित्र ने प्रतिशोध लेने हेतु शक्ति को वन में जलवा दिया।

ऋग्वेद के उक्त मंत्र (७/३२/२६) की सामवेद के मंत्र संख्या २५९ एवं १४५६ में दो बार पुनरावृत्ति हुई है, परन्तु सामवेद में इनके द्रष्टा वसिष्ठ ही कहे गये हैं। संभवतया मन्त्र को सम्पूर्ण करने के कारण ही सामवेद के उक्त मन्त्र का द्रष्टा वसिष्ठ को बताया गया है।

इसी प्रकार ऋग्वेद के पूर्वोक्त २६ वें मन्त्र के साथ-साथ उससे अगले २७ वें मन्त्र की, अथर्ववेद के बीसवें काण्ड के ७९ वें सूक्त की क्रमशः प्रथम व द्वितीय ऋचाओं में पुनरावृत्ति की गई है। अथर्ववेद में इन दोनों मन्त्रों में शक्ति और वसिष्ठ का ऋषि विकल्प वर्णित है।[१]

ऋग्वेद के सातवें मण्डल के ३२ वें सूक्त के २७ वें निम्न मन्त्र को अथर्ववेद के उपर्युक्त भाग में स्थान दिया गया है, जैसा उल्लेख किया गया है-

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३माशिवासो अवक्रमुः।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोति शूर तरामसि॥२॥

अथर्ववेद २०/७९/२

अर्थात् हमको न तो अनजाने हुये पापी, दुष्टबुद्धि वाले और न अकल्याणकारी लोग उल्लंघन करें। हे शूर! तेरे साथ हम नीचे देशों (खाई,

---

१. ऋग्वेद संहिता, भाग ३, सम्पा. पं. श्रीराम आचार्य, सं. १९९४, परिशिष्ट १ क्र. ५८.

सुरंग आदि) और बढ़ते हुये जलों को लाँघ कर पार हो जावें।

भावार्थ यह है कि राजा ऐसा प्रबन्ध करे कि गुप्त दुराचारी लोग प्रजा को न सतावें और नौका, यान, विमान आदि से अपने कठिन मार्गों को सुख से पार करें।

ऋग्वेद के नवम मण्डल के १०८ वें सूक्त में क्रमांक ३, १४, १५ व १६ वे मन्त्र के द्रष्टा ऋषि शक्ति ही हैं।

उक्त १०८ वें सूक्त का तीसरा मन्त्र दृष्टव्य है-

त्वं ह्यं१ग दैव्या पवमान जनिमानि द्युमत्तमः।

अमृतत्वाय घोषयः ॥३॥

ऋ. ९/१०८/३

अर्थात् हे सबको पवित्र करने वाले परमात्मन्! पवित्र जन्मों को लक्ष्य रखकर दीप्ति वाले आप अमृत भाव का पोषण करते हैं, निश्चय करके (अंग) हे सर्वप्रिय परमात्मन! आप ही सबका कल्याण करने वाले हैं।

महर्षि शक्ति द्वारा कर्मयोग की शिक्षा

भगवान कृष्ण ने द्वापर युग के अन्तिम काल में 'निष्काम कर्मयोग' की शिक्षा दी थी, परन्तु महर्षि शक्ति ने कृष्ण के अवतार से भी बहुत पहले 'कर्मयोग' की शिक्षा दी थी।

ऋग्वेद के नवें मण्डल के १०८ वें सूक्त के मन्त्र संख्या १६ में उनका तत्सम्बन्धी उपदेश दृष्टव्य है -

यस्य न इन्द्रः पिबाद्यस्य मरुतो यस्य वार्यमणा भगः।

आ येन मित्रावरुणा करामह एन्द्रमवसे महे॥

ऋग्वेद ९/१०८/१४

अर्थात् हमारा स्वामी परमात्मा, जिसके आनन्द को कर्मयोगी पान करते हैं, जिसके आनन्द को विद्वानों का गण पान करता है, जिसके आनन्द को (अर्यमणा) कर्मों के साथ(भगः) कर्मयोगी उपलब्ध करता है और जिससे (मित्रावरुणा) अध्यापक तथा उपदेशक सदुपदेश करते हैं, अत्यन्त रक्षा के लिये कर्मयोगी को जो उत्पन्न करता है, वही हमारा उपास्य देव है।

इसका भावार्थ यह है कि जो परमात्मा नाना प्रकार की विद्यायें और इन विद्याओं के वेत्ता कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगियों को उत्पन्न करता है, जिससे शिक्षा प्राप्त करके अध्यापक तथा उपदेशक धर्मोपदेश करते हैं और जो दुष्ट-दमन के

लिये रक्षक उत्पन्न करता है, वही हमारा पूज्यनीय देव है। उसी की उपासना करनी योग्य है।

आगामी मन्त्र में भी आनन्दवर्द्धक परमेश्वर से यही प्रार्थना की गई है कि वे ऐसी कृपा करें, जिससे हम लोग ज्ञानयोगी तथा कर्मयोगी बन कर ईश्वर का साक्षात्कार करते हुये आनन्द को प्राप्त हों–

इन्द्राय सोम पातवे नृभिर्यतः स्वायुधो मदिन्तमः।
पवस्व मधुमत्तमः ॥१५॥

ऋग्वेद ९/१०८/१५

उपर्युक्त सूक्त के ही सोलहवें मन्त्र में केवल उस परमेश्वर की प्रार्थना करने का निर्देश है, जो कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी इत्यादि योगीजनों का विद्या-प्रदाता है–

इन्द्रस्य हार्दि सोमधानमा विश समुद्रमिव सिन्धवः।
जुष्टो मित्राय वरुणाय वायवे दिवो विष्टम्भ उत्तमः॥

ऋग्वेद ९/१०८/१६

इसका भावार्थ यह है कि कोटि–कोटि ब्रह्माण्ड, जिस परमात्मा के आधार पर स्थिर हैं और जो कर्मयोगी तथा ज्ञानयोगी इत्यादि योगीजनों का विद्या प्रदाता है, वही एक मात्र उपास्य देव है।

वेदों में शक्ति मुनि का नामोल्लेख

चूँकि मैत्रावरुणि वसिष्ठ स्वयं विभिन्न सूक्तों में विभक्त ऋग्वेद के सातवें मण्डल के मन्त्र–द्रष्टा रहे हैं, इस कारण उन्होंने अपने नाम के साथ–साथ अपने पुत्रों, पौत्र, पुत्र–वधू आदि का भी प्रकारान्तर से उल्लेख किया है।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है, महर्षि शक्ति स्वयं भी मन्त्र–द्रष्टा ऋषि हैं। ऋग्वेद के सातवें मण्डल की अनेक ऋचाओं के भी वे द्रष्टा रहे हैं। ऋग्वेद की निम्न ऋचा सहित अनेक ऋचाओं में उनके नाम का उल्लेख आया है–

स न इन्द्र त्वयताया इषे धास्त्मना च ये मघवानो जुनन्ति।
वस्वी षु ते जरित्रे अस्तु शक्तिर्यूयं पात स्वस्तिभिःसदा नः ॥१०॥

ऋग्वेद ७/२१/१०

इसके अतिरिक्त भी विशेषतया ऋग्वेद के सातवें मण्डल के अनेक सूक्तों की ऋचाओं में पराशर के पिता शक्ति का उल्लेख है। उदाहरण के लिये सातवें

मण्डल के ३२वें सूक्त की २१वीं, ६७वें सूक्त की पाँचवीं, ६८वें सूक्त की आठवीं आदि ऋचाओं का भी अवलोकन किया जा सकता है।

इसी प्रकार, ऋग्वेद के नवम् मण्डल के विभिन्न सूक्तों के मन्त्रों में भी प्रकारान्तर से ऋषि शक्ति का नाम आया है।

महर्षि शक्ति प्रवर के रूप में मान्य - ब्रह्मर्षि वसिष्ठ, महर्षि शक्ति एवं पराशर - ये तीनों ऋषि प्रवर हैं, जैसा कि मत्स्य पुराण में इनका उल्लेख किया गया है-

पराशराणां सर्वेषां त्र्यार्षेयः प्रवरो मतः।
पराशरश्च शक्तिश्च वसिष्ठश्च महातपाः।

मत्स्य पु. २०१/३९

वेदव्यास : शक्ति मुनि

जो ऋषि विश्व के कल्याण के लिये वेदों को समय-समय पर व्यवस्थित करने एवं विषयानुसार शाखाओं-प्रशाखाओं में सम्यक् रूप से विभाजन करने का महान् कार्य करते आये हैं, उन्हें व्यास कहा जाता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रारम्भिक काल से आज तक हमारे ऋषि-महर्षियों के वंश-परम्परागत रूप से विशेष प्रयत्नों के फलस्वरूप वेद अक्षुण्ण रह सके। इतना होते हुए भी कालान्तर में पाठ-भेद अथवा स्मृति-लोप के कारण वेदों के पाठ में किंचित अन्तर आ जाना सम्भव था। इसी कारण भारतीय ऋषि परम्परा में वेदों के सम्पादन एवं विस्तार हेतु समय-समय पर वेद-व्यासों का आविर्भाव होता रहा है।

विष्णु पुराण में महर्षि शक्ति को २५वाँ व्यास बताया गया है-

ऋक्षोऽभूद्भार्गवस्तस्माद्वाल्मीकिर्योऽभिधीयते।
तस्मादस्मत्पिता शक्तिर्व्यासस्तस्मादहं मुने॥१८॥
जातुकर्णोऽभवन्मत्तः कृष्णद्वैपायनस्ततः।
अष्टाविंशतिरित्येते वेदव्यासाः पुरातनाः॥१९॥

विष्णु पु. ३/३/१८-१९

अर्थात् उनके पीछे भृगुवंशी ऋक्ष व्यास हुये, जो वाल्मीकि कहलाये। तदन्तर हमारे पिता शक्ति हुये और फिर मैं हुआ। मेरे अनन्तर जातुकर्ण व्यास हुये और फिर कृष्ण द्वैपायन।

कूर्म पुराण के निम्न श्लोक में भी वेदव्यासों का यही क्रम दर्शाया

गया है–

तृणबिन्दुस्त्रयोविंशे वाल्मीकिस्तत्परः स्मृतः।
पञ्चविंशे तथा शक्तिः षड्विंशे तु पराशरः॥

कूर्म पुराण पू.वि ५०/८

अर्थात् तेईसवें वेदव्यास तृणबिन्दु तथा उनके पश्चात् (चौबीसवें) वेदव्यास वाल्मीकि कहे गये हैं, पच्चीसवें वेदव्यास शक्ति तथा छब्बीसवें वेदव्यास पराशर हैं।

विष्णुपुराण के उपर्युक्त श्लोक (३/३/१८) में पराशर द्वारा कहा गया है कि उस (वाल्मीकि) के पश्चात् हमारे पिता शक्ति तथा उनके पश्चात् मैं (पराशर) वेदव्यास हुआ हूँ। इस प्रकार पुराणों में स्पष्टतया पिता एवं पितामह आदि का स्पष्ट उल्लेख होने से महर्षि शक्ति एवं पराशर को वेदव्यास मानने में किसी प्रकार की शंका नहीं है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि ये शक्ति एवं पराशर कौन से हैं और किस काल में उत्पन्न हुये हैं? पुराणों में जो उक्त मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों एवं वेदव्यासों का विवरण आया है, वे स्पष्टतया भगवान राम से भी पूर्व में विद्यमान मैत्रावरुणि वसिष्ठ की सन्तति हैं, जैसा कि प्रथम अध्याय में उल्लिखित निम्न श्लोक से स्पष्ट है–

साधु मैत्रेय धर्मज्ञ स्मारितोऽस्मि पुरातनम्।
पितुः पिता मे भगवान् वसिष्ठो यदुवाच ह॥१२॥

विष्णु पु० १/१/१२

अर्थात् पराशर कहते हैं कि हे धर्मज्ञ मैत्रेय! मेरे पिताजी (शक्ति) के पिता वसिष्ठ ने जिसका वर्णन किया था, उस पूर्व प्रसङ्ग का तुमने मुझे अच्छा स्मरण कराया है।

उपर्युक्त श्लोक में महर्षि पराशर द्वारा महर्षि वसिष्ठ को अपना पितामह अर्थात् शक्ति का पिता बताया गया है। यहाँ यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि ये वसिष्ठ कौन से हैं, इस सम्बन्ध में उक्त श्लोक से आगे के निम्न १३ वें श्लोक से इन वसिष्ठजी की पहचान भी निःसंदिग्ध हो जाती है–

विश्वामित्रप्रयुक्तेन रक्षसा भक्षितः पुरा।
श्रुतस्तातस्ततः क्रोधो मैत्रेयाभून्ममातुलः॥१३॥

विष्णु पु० १/१/१३

अर्थात् जब मैंने सुना कि विश्वामित्र की प्रेरणा से पिताजी को राक्षस ने खा लिया है, तो मुझको बड़ा क्रोध आया।

उक्त श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये वसिष्ठ मुनि मित्र-वरुण के पुत्र थे, इन्हीं वसिष्ठ से शत्रुता-भाव रखने के कारण विश्वामित्र की प्रेरणा से शक्ति का भक्षण कल्माषपाद नामक राक्षस ने कर लिया था, जैसा कि विष्णु पुराण के आगे के श्लोकों में वृत्तान्त आया है।

परन्तु, अन्त में कृष्ण द्वैपायन का पराशर-पुत्र के रूप में उल्लेख किया गया है, जबकि उनके मध्य हजारों वर्ष का अन्तराल होने के कारण ऐसा होना संभव प्रतीत नहीं होता। हो सकता है कृष्ण द्वैपायन के पिता का नाम भी पराशर होने के संयोग से इस सम्बन्ध में भ्रान्ति उत्पन्न हुई हो, परन्तु मैत्रावरुणि वसिष्ठ, उनके पुत्र शक्ति एवं शक्ति के पुत्र पराशर की ऐतिहासिकता में किसी प्रकार की शङ्का नहीं की जा सकती। पुराणों में अन्तिम क्रम पर आये अट्ठाइसवें वेदव्यास श्री कृष्ण द्वैपायन के पिता का नाम पराशर एवं पराशर के पिता का नाम शक्ति बताया है, वह विचारणीय है। कृष्ण द्वैपायन के पिता पराशर, शाक्त्य-पराशर से भिन्न कोई दूसरे ही पराशर हो सकते हैं।

शक्ति एवं विश्वामित्र के मध्य शास्त्रार्थ

महर्षि शक्ति स्वयं भी ब्रह्म की क्रियात्मिका शक्ति के प्रतीक कहे गये हैं। वे अखण्ड ज्ञान-राशि से सम्पन्न सभी वेदों की ऋचाओं का सस्वर पाठ करने वाले थे। एक कथा के अनुसार राजा त्रिशंकु द्वारा आयोजित यज्ञ में पधारे हुये ज्ञानमूर्ति शक्ति एवं विश्वामित्र में किसी विषय पर ज्ञान-चर्चा छिड़ गई।[१] शक्ति के अपरिमित ज्ञान के समक्ष विश्वामित्र को नत-मस्तक होना पड़ गया। एक अल्प आयु के युवा ऋषि द्वारा शास्त्रार्थ में परास्त हो जाने के कारण क्रोध की प्रतिमूर्ति विश्वामित्र के मन में प्रतिशोध की ज्वाला धधक उठी। विश्वामित्र शक्ति के पिता ब्रह्मर्षि वसिष्ठ से तो शास्त्रार्थ में पराजित होने से विद्वेष रखते ही थे, स्वयं शक्ति से भी शास्त्रार्थ में पराजित हो जाने के कारण उनमें प्रतिशोध की दुर्भावना दुर्दमनीय हो उठी। इसके परिणामस्वरूप उन्हीं की दुष्प्रेरणा के कारण महर्षि शक्ति सहित वसिष्ठ के सौ पुत्र मृत्यु को प्राप्त हुए।

रामायण में सौदास के कल्माष्पाद बनने की कथा

श्रीमद्वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड के ६५ वें सर्ग में पैजवन सुदास पुत्र मित्रसह के कल्माषपाद (चितकबरे पैर वाला) बनने का प्रसङ्ग दिया गया है, जिसका मूल संस्कृत पाठ एवं अनुवाद अवलोकनीय है-

स भुक्त्वा फलमूलं च महर्षिं तमुवाच ह।
पूर्वा यज्ञविभूतीयं कस्याश्रमसमीपतः ॥८॥

---

१. अखिल भारतवर्षीय पारीक समाज आश्रम्स, पुष्कर - स्मारिका १९८९ 'पराशर परम्परा' - ले. गोपाल नारायण बहुरा, पृ. ५.

फल-मूल खाकर वे (शत्रुघ्न) महर्षि वाल्मीकि से बोले- मुने! इस आश्रम के निकट जो यह प्राचीन काल का यज्ञ-वैभव (यूप आदि उपकरण) दिखायी देता है, किसका है- किस यजमान नरेश ने यहाँ यज्ञ किया था?

तत् तस्य भाषितं श्रुत्वा वाल्मीकिर्वाक्यमब्रवीत्।
शत्रुघ्न शृणु यस्येदं बभूवायतनं पुरा॥९॥

उनका यह प्रश्न सुनकर वाल्मीकिजी ने कहा -शत्रुघ्न! पूर्वकाल में जिस यजमान नरेश का यह यज्ञमण्डप रहा है, उसे बताता हूँ, सुनो।

युष्माकं पूर्वको राजा सुदासस्तस्य भूपतेः।
पुत्रो वीरसहो नाम वीर्यवानतिधर्मिकः॥१०॥

तुम्हारे पूर्वज राजा सुदास इस भूमण्डल के स्वामी हो गये हैं। उन भूपाल के वीरसह (मित्रसह) नामक एक पुत्र हुआ, जो बड़ा पराक्रमी और अत्यन्त धर्मात्मा था।

स बाल एव सौदासो मृगयामुपचक्रमे।
चञ्चूर्यमाणं ददृशे स शूरो राक्षसद्वयम्॥११॥

सुदास का वह शूरवीर पुत्र बाल्यावस्था में ही एक दिन शिकार खेलने के लिये वन में गया। वहाँ उसने दो राक्षस देखे, जो सब ओर बारंबार विचर रहे थे।

शार्दूलरूपिणौ घोरौ मृगान् बहुसहस्रशः।
भक्षमाणावसंतुष्टौ पर्याप्तिं नैव जग्मतुः॥१२॥

वे दोनों घोर राक्षस बाघ का रूप धारण करके कई हजार मृगों को मारकर खा गये। फिर भी संतुष्ट नहीं हुए, उनके पेट नहीं भरे।

स तु तौ राक्षसौ दृष्ट्वा निर्मृगं च वनं कृतम्।
क्रोधेन महताविष्टो जघानैकं महेषुणा॥१३॥

सौदास ने उन दोनों राक्षसों को देखा। साथ ही उनके द्वारा मृगशून्य किये गये उस वन की अवस्था पर दृष्टिपात किया। इससे वे महान् क्रोध से भर गये और उनमें से एक को विशाल बाण से मार डाला।

विनिपात्य तमेकं तु सौदासः पुरुषर्षभः।
विज्वरो विगतामर्षो हतं रक्षो ह्युदैक्षत॥१४॥

एक को धराशायी करके वे पुरुषप्रवर सौदास निश्चिन्त हो गये। उनका अमर्ष जाता रहा और वे उस मरे हुए राक्षस को देखने लगे।

निरीक्षमाणं तं दृष्ट्वा सहायं तस्य रक्षसः।
संतापमकरोद् घोरं सौदासं चेदमब्रवीत्॥१५॥

उस राक्षस के मरे हुए साथी को जब सौदास देख रहे थे, उस समय उनकी ओर दृष्टिपात करके उस दूसरे राक्षस ने मन-ही-मन घोर संताप किया और सौदास से इस प्रकार कहा-

यस्मादनपराधं तं सहायं मम जघ्निवान्।
तस्मात् तवापि पापिष्ठ प्रदास्यामि प्रतिक्रियाम्॥१६॥

महापापी नरेश! तूने मेरे निरपराध साथी को मार डाला है, इसलिये मैं तुझसे भी इसका बदला लूँगा।

एवमुक्त्वा तु तद् रक्षस्तत्रैवान्तरधीयत।
कालपर्याययोगेन राजा मित्रसहोऽभवत्॥१७॥

ऐसा कहकर वह राक्षस वहीं अन्तर्धान हो गया और दीर्घकाल के पश्चात् सुदासकुमार मित्रसह अयोध्या के राजा हो गये।

राजापि यजते यज्ञमस्याश्रमसमीपतः।
अश्वमेधं महायज्ञं तं वसिष्ठोऽप्यपालयत्॥१८॥

उन्हीं राजा मित्रसह ने इस आश्रम के समीप अश्वमेध नामक महायज्ञ का अनुष्ठान किया। महर्षि शक्ति के पिता मैत्रावरुणि वसिष्ठ अपने तपोबल से उस यज्ञ की रक्षा करते थे।

तत्र यज्ञो महानासीद् बहुवर्षगणायुतः।
समृद्धः परया लक्ष्म्या देवयज्ञसमोऽभवत्॥१९॥

उनका वह महान् यज्ञ बहुत वर्षों तक वहाँ चलता रहा। वह भारी धन-सम्पत्ति से सम्पन्न यज्ञ देवताओं के यज्ञ की समानता करता था।

अथावसाने यज्ञस्य पूर्ववैरमनुस्मरन्।
वसिष्ठरूपी राजानमिति होवाच राक्षसः॥२०॥

उस यज्ञ की समाप्ति होने पर पहले के वैर का स्मरण करने वाला वह राक्षस वसिष्ठजी का रूप धारण करके राजा के पास आया और इस प्रकार बोला-

अद्य यज्ञावसानान्ते सामिषं भोजनं मम।
दीयतामतिशीघ्रं वै नात्र कार्या विचारणा॥२१॥

राजन ! आज यज्ञ की समाप्ति का दिन है, अतः आज मुझे तुम शीघ्र ही मांसयुक्त भोजन दो। इस विषय में कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये।

तच्छ्रुत्वा व्याहृतं वाक्यं रक्षसा ब्रह्मरूपिणा।
सूदान् संस्कारकुशलानुवाच पृथिवीपतिः ॥२२॥

ब्राह्मण रूपधारी राक्षस की कही हुई बात सुनकर राजा ने रसोई बनाने में कुशल रसोइयों से कहा-

हविष्यं सामिषं स्वादु यथा भवति भोजनम्।
तथा कुरुत शीघ्रं वै परितुष्येद् यथा गुरुः ॥२३॥

तुम लोग आज शीघ्र ही मांसयुक्त हविष्य तैयार करो और उसे ऐसा बनाओ, जिससे स्वादिष्ट भोजन हो सके तथा मेरे गुरुदेव उससे संतुष्ट हो सकें।

शासनात् पार्थिवेन्द्रस्य सूदः सम्भ्रान्तमानसः।
तच्च रक्षः पुनस्तत्र सूदवेषमथाकरोत् ॥२४॥

महाराज की इस आज्ञा को सुनते ही रसोइये के मन में बड़ी घबराहट पैदा हो गयी (वह सोचने लगा, आज गुरुजी अभक्ष्य-भक्षण में कैसे प्रवृत्त होंगे)। यह देख फिर उस राक्षस ने ही रसोइये का वेष बना लिया।

स मानुषमथो मांसं पार्थिवाय न्यवेदयत्।
इदं स्वादु हविष्यं च सामिषं चान्नमाहतम् ॥२५॥

उसने मनुष्य का मांस लाकर राजा को दे दिया और कहा-यह मांसयुक्त अन्न एवं हविष्य लाया हूँ। यह बड़ा ही स्वादिष्ट है।'

स भोजनं वसिष्ठाय पत्न्या सार्धमुपाहरत्।
मदयन्त्या नरश्रेष्ठ सामिषं रक्षसा हतम् ॥२६॥

नरश्रेष्ठ! अपनी पत्नी रानी मदयन्ती के साथ राजा मित्रसह ने राक्षस के लाये हुए उस मांसयुक्त भोजन को वसिष्ठजी के सामने रखा।

ज्ञात्वा तदामिषं विप्रो मानुषं भाजनं गतम्।
क्रोधेन महताविष्टो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥२७॥

थाली में मानव-मांस परोसा गया है, यह जानकर महर्षि वसिष्ठ महान् क्रोध से भर गये और इस प्रकार बोले-

यस्मात् त्वं भोजनं राजन् ममैतद् दातुमिच्छसि।
तस्माद् भोजनमेतत् ते भविष्यति न संशयः ॥२८॥

राजन! तुम मुझे ऐसा भोजन देना चाहते हो, इसलिये यही तुम्हारा भोजन होगा; इसमें संशय नहीं है (अर्थात् तुम मनुष्यभक्षी राक्षस हो जाओगे)।

ततः क्रुद्धस्तु सौदासस्तोयं जग्राह पाणिना।
वसिष्ठं शप्तुमारेभे भार्या चैनमवारयत्॥२९॥

यह सुनकर सौदास ने भी कुपित हो हाथ में जल ले लिया और वसिष्ठ मुनि को शाप देना आरम्भ किया। तब उनकी पत्नी ने उन्हें रोक दिया।

राजन् प्रभुर्यतोऽस्माकं वसिष्ठो भगवानृषिः।
प्रतिशप्तुं न शक्तस्त्वं देवतुल्यं पुरोधसम्॥३०॥

वे बोलीं- राजन्! भगवान् वसिष्ठ मुनि हम सबके स्वामी हैं; अतः आप अपने देवतुल्य पुरोहित को बदले में शाप नहीं दे सकते।

ततः क्रोधमयं तोयं तेजोबलसमन्वितम्।
व्यसर्जयत् धर्मात्मा ततः पादौ सिषेच च॥३१॥

तब धर्मात्मा राजा ने तेज और बल से सम्पन्न उस क्रोधमय जल को नीचे डाल दिया। उससे अपने दोनों पैरों को ही सींच लिया।

तेनास्य राज्ञस्तौ पादौ तदा कल्माषतां गतौ।
तदाप्रभृति राजासौ सौदासः सुमहायशाः॥३२॥
कल्माषपादः संवृत्तः ख्यातश्चैव तथा नृपः।

ऐसा करने से राजा के दोनों पैर तत्काल चितकबरे हो गये। तभी से महायशस्वी राजा सौदास कल्माषपाद (चितकबरे पैर वाले) हो गये और उसी नाम से उनकी ख्याति हुई।

स राजा सह पत्न्या वै प्रणिपत्य मुहुर्मुहुः।
पुनर्वसिष्ठं प्रोवाच यदुक्तं ब्रह्मरूपिणा॥३३॥

तदनन्तर पत्नी सहित राजा ने बारंबार प्रणाम करके फिर वसिष्ठ से कहा- ब्रह्मर्षे! आप ही का रूप धारण करके किसी ने मुझे ऐसा भोजन देने के लिये प्रेरित किया था।

तच्छ्रुत्वा पार्थिवेन्द्रस्य रक्षसा विकृतं च तत्।
पुनः प्रोवाच राजानं वसिष्ठः पुरुषर्षभम्॥३४॥

राजाधिराज मित्रसह की वह बात सुनकर और उसे राक्षस की करतूत जानकर वसिष्ठ ने पुनः उन नरश्रेष्ठ नरेश से कहा-

मया रोषपरीतेन यदिदं व्याहृतं वचः।
नैतच्छक्यं वृथा कर्तुं प्रदास्यामि च ते वरम्॥३५॥

राजन! मैंने रोष से भरकर जो बात कह दी है, इसे व्यर्थ नहीं किया जा सकता; परन्तु इससे छूटने के लिये मैं तुम्हें एक वर दूँगा।

कालो द्वादशवर्षाणि शापस्यान्तो भविष्यति।
मत् प्रसादाच्च राजेन्द्र अतीतं न स्मरिष्यसि॥३६॥

राजेन्द्र! वह वर इस प्रकार है- यह शाप बारह वर्षों तक रहेगा। उसके बाद इसका अन्त हो जायेगा। मेरी कृपा से तुम्हें बीती हुई बात का स्मरण नहीं रहेगा।

महाभारत में शक्ति मुनि एवं सौदास कल्माषपाद की कथा

महाभारत के आदि पर्व के १७५ वें अध्याय में महर्षि वसिष्ठ, शक्ति एवं कल्माषपाद के मध्य विवाद की घटना का उल्लेख अधिक विस्तृत रूप से किया गया है, जिसमें शक्ति एवं सौदास मित्रसह के मध्य मार्ग देने के विषय में विवाद भी सम्मिलित है।

कल्माषपाद इत्येवं लोके राजा बभूव ह।
इक्ष्वाकुवंशजः पार्थ तेजसासदृशो भुवि॥१॥

अर्थात् इक्ष्वाकु वंश में एक राजा हुए, जो लोक में कल्माषपाद के नाम से प्रसिद्ध थे। इस पृथ्वी पर वे एक असाधारण तेजस्वी राजा थे।

स कदाचिद् वनं राजा मृगयां निर्ययौ पुरात्।
मृगान् विध्यन् वराहांश्च चचार रिपुमर्दनः॥२॥

एक दिन वे नगर से निकल कर वन में हिंसक पशुओं को मारने के लिये गये। वहाँ वे रिपुमर्दन नरेश वराहों और अन्य हिंसक पशुओं को मारते हुए इधर-उधर विचरने लगे।

तस्मिन् वने महाघोरे खड्गांश्च बहुशोऽहनत्।
हत्वा च सुचिरं श्रान्तो राजा निववृते ततः॥३॥

उस महाभयानक वन में उन्होंने बहुत-से गैंड़े भी मारे। बहुत देर तक हिंस्र पशुओं को मारकर जब राजा थक गये, तब वहाँ से नगर की ओर लौटे।

अकामयत् तं याज्यार्थे विश्वामित्रः प्रतापवान्।
स तु राजा महात्मानं वासिष्ठमृषिसत्तमम्॥४॥

तृषार्तश्च क्षुधार्तश्च एकायनगतः पथि।
अपश्यदजितः संख्ये मुनिं प्रतिमुखागतम्॥५॥

प्रतापी विश्वामित्र उन्हें अपना यजमान बनाना चाहते थे। राजा कल्माषपाद युद्ध में कभी पराजित नहीं होते थे। उस दिन वे भूख-प्यास से पीड़ित थे और ऐसे तंग रास्ते पर आ पहुँचे, जहाँ एक ही आदमी आ-जा सकता था। वहाँ आने पर उन्होंने देखा, सामने की ओर से मुनिश्रेष्ठ महामना वसिष्ठ-कुमार शक्ति आ रहे हैं।

शक्तिं नाम महाभागं वसिष्ठकुलवर्धनम्।
ज्येष्ठं पुत्रं पुत्रशताद् वसिष्ठस्य महात्मनः॥६॥

वे वसिष्ठजी के वंश की वृद्धि करने वाले महाभाग शक्ति थे। महात्मा वसिष्ठजी के सौ पुत्रों में सबसे बड़े वे ही थे।

अपगच्छ पथोऽस्माकमित्येवं पार्थिवोऽब्रवीत्।
तथा ऋषिरुवाचैनं सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा॥७॥

उन्हें देखकर राजा ने कहा- 'हमारे रास्ते से हट जाओ।' तब शक्ति मुनि ने मधुर वाणी में उन्हें समझाते हुए कहा-

मम पन्था महाराज धर्म एष सनातनः।
राज्ञा सर्वेषु धर्मेषु देयः पन्था द्विजातये॥८॥

महाराज! मार्ग तो मुझे ही मिलना चाहिये। यही सनातन धर्म है। सभी धर्मों में राजा के लिये यही उचित है कि वह ब्राह्मण को मार्ग दे।

एवं परस्परं तौ तु पथोऽर्थं वाक्यमूचतुः।
अपसर्पापसर्पेति वागुत्तरमकुर्वताम्॥९॥

इस प्रकार वे दोनों आपस में रास्ते के लिये वाग्युद्ध करने लगे। एक कहता, 'तुम हटो', तो दूसरा कहता, 'नहीं, तुम हटो।' इस प्रकार वे उत्तर-प्रत्युत्तर करने लगे।

ऋषिस्तु नापचक्राम तस्मिन् धर्मपथे स्थितः।
नापि राजा मुनेर्मानात् क्रोधाच्चाथ जगाम ह॥१०॥
अमुञ्चन्तं तु पन्थानं तमृषिं नृपसत्तमः।
जघान कशया मोहात् तदा राक्षसवन्मुनिम्॥११॥

ऋषि तो धर्म के मार्ग में स्थित थे, अतः वे रास्ता छोड़कर नहीं हटे। उधर राजा भी मान और क्रोध के वशीभूत हो मुनि के मार्ग से इधर-उधर नहीं हट

सके। राजाओं में श्रेष्ठ कल्माषपाद ने मार्ग न छोड़ने वाले शक्ति मुनि के ऊपर मोहवश राक्षस की भाँति कोड़े से आघात किया।

कशाप्रहाराभिहतस्ततः स मुनिसत्तमः।
तं शशाप नृपश्रेष्ठं वासिष्ठः क्रोधमूर्च्छितः॥१२॥

कोड़े की चोट खाकर मुनिश्रेष्ठ शक्ति ने क्रोध से मूर्च्छित हो उन उत्तम नरेश को शाप दे दिया।

हंसि राक्षसवद् यस्माद् राजापसद तापसम्।
तस्मात् त्वमद्यप्रभृति पुरुषादो भविष्यसि॥१३॥

मनुष्यपिशिते सक्तश्चरिष्यसि महीमिमाम्।
गच्छ राजाधमेत्युक्तः शक्तिना वीर्यशक्तिनां॥१४॥

तपस्या की प्रबल शक्ति से सम्पन्न शक्ति मुनि ने कहा– 'राजाओं में नीच कल्माषपाद! तू एक तपस्वी ब्राह्मण को राक्षस की भाँति मार रहा है, इसलिये आज से नरभक्षी राक्षस हो जायेगा तथा अब से तू मनुष्यों के मांस में आसक्त होकर इस पृथ्वी पर विचरता रहेगा। नृपाधम! जा यहाँ से।'

ततो याज्यनिमित्ते तु विश्वामित्रवसिष्ठयोः।
वैरमासीत् तदा तं तु विश्वामित्रोऽन्वपद्यत॥१५॥

उन्हीं दिनों यजमान के लिये विश्वामित्र और वसिष्ठ में वैर चल रहा था। उस समय विश्वामित्र राजा कल्माषपाद के पास आये।

तयोर्विवदतोरेवं समीपमुपचक्रमे।
ऋषिरुग्रतपाः पार्थ विश्वामित्रः प्रतापवान्॥१६॥

जब राजा तथा ऋषिपुत्र दोनों इस प्रकार विवाद कर रहे थे, उग्र तपस्वी प्रतापी विश्वामित्र मुनि उनके निकट चले गये।

ततः स बुबुधे पश्चात् तमृषिं नृपसत्तमः।
ऋषेः पुत्रं वसिष्ठस्य वसिष्ठमिव तेजसा॥१७॥

तदनन्तर नृपश्रेष्ठ कल्माषपाद ने वसिष्ठ के समान तेजस्वी वसिष्ठ मुनि के पुत्र उन महर्षि शक्ति को पहचाना।

अन्तर्धाय तदाऽऽत्मानं विश्वामित्रोऽपि भारत।
तावुभावतिचक्राम चिकीर्षन्नात्मनः प्रियम्॥१८॥

तब विश्वामित्रजी ने भी अपने को अदृश्य करके अपना प्रिय करने की इच्छा से राजा और शक्ति दोनों को चकमा दिया।

स तु शप्तस्तदा तेन शक्तिना वै नृपोत्तमः।
जगाम शरणं शक्तिं प्रसादयितुमर्हयन्॥१९॥

जब शक्ति ने शाप दे दिया, तब नृपतिशिरोमणि कल्माषपाद उनकी स्तुति करते हुए उन्हें प्रसन्न करने के लिये उनके शरण होने चले।

तस्य भावं विदित्वा स नृपतेः कुरुसत्तम।
विश्वामित्रस्ततो रक्ष आदिदेश नृपं प्रति॥२०॥

राजा के मनोभाव को समझकर उक्त विश्वामित्रजी ने एक राक्षस को राजा के भीतर प्रवेश करने के लिये आज्ञा दी।

शापात् तस्य तु विप्रर्षेर्विश्वामित्रस्य चाज्ञया।
राक्षसः किंकरो नाम विवेश नृपतिं तदा॥२१॥

ब्रह्मर्षि शक्ति के शाप तथा विश्वामित्रजी की आज्ञा से किंकर नामक राक्षस ने तब राजा के भीतर प्रवेश किया।

रक्षसा तं गृहीतं तु विदित्वा मुनिसत्तमः।
विश्वामित्रोऽप्यपाक्रामत् तस्माद् देशादरिंदम॥२२॥

राक्षस ने राजा को आविष्ट कर लिया है, यह जानकर मुनिवर विश्वामित्रजी भी उस स्थान से चले गये।

ततः स नृपतिस्तेन रक्षसान्तर्गतेन वै।
बलवत् पीडितः पार्थ नान्वबुध्यत किंचन॥२३॥

भीतर घुसे हुए राक्षस से अत्यन्त पीड़ित हो उन नरेश को किसी भी बात की सुध-बुध न रही।

ददर्शाथ द्विजः कश्चिद् राजानं प्रस्थितं वनम्।
अयाचत क्षुधापन्नः समांसं भोजनं तदा॥२४॥

एक दिन किसी ब्राह्मण ने (राक्षस से आविष्ट) राजा को वन की ओर जाते देखा ओर भूख से अत्यन्त पीड़ित होने के कारण उनसे मान सहित भोजन माँगा।

तमुवाचाथ राजर्षिर्द्विजं मित्रसहस्तदा।
आस्स्व ब्रह्मंस्त्वमत्रैव मुहूर्तं प्रतिपालयन्॥२५॥

तब राजर्षि मित्रसह (कल्माषपाद) ने उस द्विज से कहा- ब्रह्मन! आप यहीं बैठिये और दो घड़ी तक प्रतीक्षा कीजिये।

निवृत्तः प्रतिदास्यामि भोजनं ते यथेप्सितम्।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजा तस्थौ च द्विजसत्तमः ॥२६॥

'मैं वन से लौटने पर आप को यथेष्ट भोजन दूँगा।' यह कहकर राजा चले गये और वह ब्राह्मण (वहाँ) ठहर गया।

ततो राजा परिक्रम्य यथाकामं यथासुखम्।
निवृत्तोऽन्तःपुरं पार्थ प्रविवेश महामनाः ॥२७॥

तत्पश्चात् महामना राजा मित्रसह इच्छानुसार मौज से घूम-फिर कर जब लौटे, तब अन्तःपुर में चले गये।

ततोऽर्धरात्र उत्थाय सूदमानाय्य सत्वरम।
उवाच राजा संस्मृत्य ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुतम् ॥२८॥
गच्छामुष्मिन् वनोद्देशे ब्राह्मणो मां प्रतीक्षते।
अन्नार्थी तं त्वमन्नेन समांसेनोपपादय ॥२९॥

वहाँ आधी रात के समय उन्हें ब्राह्मण को भोजन देने की प्रतिज्ञा का स्मरण हुआ। फिर तो वे उठ बैठे और तुरंत रसोइये को बुलाकर बोले - 'जाओ, वन के अमुक प्रदेश में एक ब्राह्मण भोजन के लिये मेरी प्रतीक्षा करता है। उसे तुम मांसयुक्त भोजन से तृप्त करो।'

एवमुक्तस्ततः सूदः सोऽनासाद्यामिषं क्वचित्।
निवेदयामास तदा तस्मै राज्ञे व्यथान्वितः ॥३०॥

उनके यों कहने पर रसोइये ने मांस के लिये खोज की; परन्तु जब कहीं भी मांस नहीं मिला तब उसने दुखी होकर राजा को इस बात की सूचना दी।

राजा तु रक्षसाऽऽविष्टः सूदमाह गतव्यथः।
अप्येनं नरमांसेन भोजयेति पुनः पुनः ॥३१॥

राजा पर राक्षस का आवेश था, अतः उन्होंने रसोइये से निश्चिन्त होकर कहा- 'उस ब्राह्मण को मनुष्य का मांस ही खिला दो' यह बात उन्होंने बार-बार दुहरायी।

तथेत्युक्त्वा ततः सूदः संस्थानं बध्यघातिनाम्।
गत्वाऽऽजहार त्वरितो नरमांसमपेतभीः ॥३२॥

तब रसोइया 'तथास्तु' कहकर बध्यभूमि में जल्लादों के घर गया और (उनसे) निर्भय होकर तुरंत ही मनुष्य का मांस ले आया।

एतत् संस्कृत्य विधिवदन्नोपहितमाशु वै।
तस्मै प्रादाद् ब्राह्मणाय क्षुधिताय तपस्विने॥३३॥

फिर उसी को तुरंत विधिपूर्वक राँधकर अन्न के साथ उसे उस तपस्वी एवं भूखे ब्राह्मण को दे दिया।

स सिद्धचक्षुषा दृष्ट्वा तदन्नं द्विजसत्तमः।
अभोज्यमिदमित्याह क्रोधपर्याकुलेक्षणः॥३४॥

तब उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने तपःसिद्ध दृष्टि से उस अन्न को देखा और 'यह खाने योग्य नहीं है' यों समझकर क्रोध पूर्ण नेत्रों से देखते हुए कहा।

यस्मादभोज्यमन्नं मे ददाति स नृपाधमः।
तस्मात् तस्यैव मूढस्य भविष्यत्यत्र लोलुपा॥३५॥

यह नीच राजा मुझे न खाने योग्य अन्न दे रहा है, अतः उसी मूर्ख की जिह्वा ऐसे अन्न के लिये लालायित रहेगी।

सक्तो मानुषमांसेषु यथोक्तः शक्तिना तथा।
उद्वेजनीयो भूतानां चरिष्यति महीमिमाम्॥३६॥

जैसा कि शक्ति मुनि ने कहा है, वह मनुष्यों के मांस में आसक्त हो समस्त प्राणियों का उद्वेगपात्र बनकर इस पृथ्वी पर विचरेगा।

द्विरनुव्याहृते राज्ञः स शापो बलवानभूत्।
रक्षोबलसमाविष्टो विसंज्ञश्चाभवन्नृपः॥३७॥

दो बार इस तरह की बात कही जाने के कारण राजा का शाप प्रबल हो गया। उसके साथ उनमें राक्षस के बल का समावेश हो जाने के कारण राजा की विवेकशक्ति सर्वथा लुप्त हो गयी।

ततः स नृपतिश्रेष्ठो रक्षसापहृतेन्द्रियः।
उवाच शक्तिं तं दृष्ट्वा न चिरादिव भारत॥३८॥

राक्षस ने राजा के मन और इन्द्रियों को काबू में कर लिया था, अतः उन नृपश्रेष्ठ ने कुछ ही दिनों बाद उक्त शक्ति मुनि को अपने सामने देखकर कहा—

यस्मादसदृशः शापः प्रयुक्तोऽयं मयि त्वया।
तस्मात् त्वत्तः प्रवर्तिष्ये खादितुं पुरुषानहम्॥३९॥

चूँकि तुमने मुझे यह सर्वथा अयोग्य शाप दिया है, अतः अब मैं तुम्हीं से मनुष्यों का भक्षण आरम्भ करूँगा।

एवमुक्त्वा ततः सद्यस्तं प्राणैर्विप्रयुज्य च।
शक्तिनं भक्षयामास व्याघ्रः पशुमिवेप्सितम्॥४०॥

यों कहकर राजा ने तत्काल ही शक्ति के प्राण ले लिये और जैसे बाघ अपनी रुचि के अनुकूल पशु को चबा जाता है, उसी प्रकार वे भी शक्ति को खा गये।

शक्तिनं तु मृतं दृष्ट्वा विश्वामित्रः पुनः पुनः।
वसिष्ठस्यैव पुत्रेषु तद् रक्षः संदिदेश ह॥४१॥

शक्ति को मारा गया देख विश्वामित्र बार-बार वसिष्ठ के पुत्रों पर ही आक्रमण करने के लिये उस राक्षस को प्रेरित करते थे।

स ताञ्छक्त्यवरान् पुत्रान् वसिष्ठस्य महात्मनः।
भक्षयामास संक्रुद्धः सिंहः क्षुद्रमृगानिव॥४२॥

जैसे क्रोध में भरा हुआ सिंह छोटे मृगों को खा जाता है, उसी प्रकार उन (राक्षसभावापन्न) नरेश ने महात्मा वसिष्ठ के उन सब पुत्रों को भी, जो शक्ति से छोटे थे, (मारकर) खा लिया।

वसिष्ठो घातिताञ्छ्रुत्वा विश्वामित्रेण तान् सुतान्।
धारयामास तं शोकं महाद्रिरिव मेदिनीम्॥४३॥

वसिष्ठ ने यह सुनकर भी कि विश्वामित्र ने मेरे पुत्रों को मरवा डाला है, अपने शोक के वेग को उसी प्रकार धारण कर लिया, जैसे महान् पर्वत सुमेरु इस पृथ्वी को।

विष्णु पुराण में कल्माषपाद की कथा

कई पुराणों में भी कल्माषपाद की कथा का समावेश है। यहाँ विष्णुपुराण में उपलब्ध कथा को निम्न प्रकार संक्षेप में दिया जा रहा है-[१]

ऋतुपर्णपुत्रस्सर्वकामः।। तत्तनयस्सुदासः॥ सुदासात्सौदासो मित्रसहनामा॥ स चाटव्यां मृगयार्थी पर्यटन् व्याघ्रद्वयमपश्यत्॥ ताभ्यां तद्वनमपमृगं कृतं मत्वैकं तयोर्बाणेन जघान॥

म्रियमाणश्चासावतिभीषणाकृतिरतिकरालवदनो राक्षसोऽभूत्॥ द्वितीयोऽपि प्रतिक्रियां ते करिष्यामीत्युक्त्वान्तर्धानं जगाम॥

कालेन गच्छता सौदासो यज्ञमयजत्॥ परिनिष्ठितयज्ञे आचार्ये वसिष्ठे निष्क्रान्ते तद्रक्षो वसिष्ठरूपमास्थाय यज्ञावसाने मम नरमांसभोजनं देयमिति

---

१. विष्णु पु० गीताप्रेस गोरखपुर, ४/४/३८-५३.

तत्संस्क्रियतां क्षणादागमिष्यामीत्युक्त्वा निष्क्रान्तः॥ भूयश्च सूदवेषं कृत्वा राजाज्ञया मानुषं मांसं संस्कृत्य राज्ञे न्यवेदयत्॥ असावपि हिरण्यपात्रे मांसमादाय वसिष्ठागमनप्रतीक्षाकोऽभवत्॥ आगताय वसिष्ठाय निवेदितवान्॥

स चाप्यचिन्तयदहो अस्य राज्ञो दौश्शील्यं येनैतन्मांसमस्माकं प्रयच्छति किमेतद्द्रव्यजातमिति ध्यानपरोऽभवत्॥ अपश्यच्च तन्मांसं मानुषम्॥ अतः क्रोधकलुषीकृतचेता राजनि शापमुत्ससर्ज॥ यस्मादभोज्यमेतदस्मद्विधानां तपस्विनामवगच्छन्नपि भवान्मह्यं ददाति तस्मात्तवैवात्र लोलुपता भविष्यतीति॥

अर्थात् ऋतुपर्ण का पुत्र सर्वकाम था, उसका सुदास और सुदास का पुत्र सौदास मित्रसह हुआ। एक दिन मृगया के लिये वन में घूमते-घूमते उसने दो व्याघ्र देखे। इन्होंने सम्पूर्ण वन को मृगहीन कर दिया है- ऐसा समझकर उसने उनमें से एक को बाण से मार डाला। मरते समय वह अति भयङ्कर रूप क्रूरवदन राक्षस हो गया तथा दूसरा भी 'मैं इसका बदला लूँगा' ऐसा कहकर अन्तर्धान हो गया।

कालान्तर में सौदास ने एक यज्ञ किया। यज्ञ समाप्त हो जाने पर जब आचार्य वसिष्ठ बाहर चले गये तब वह राक्षस वसिष्ठजी का रूप बनाकर बोला, यज्ञ के पूर्ण होने पर मुझे नर-मांसयुक्त भोजन कराना चाहिये; अतः तुम ऐसा अन्न तैयार कराओ, मैं अभी आता हूँ' ऐसा कहकर वह बाहर चला गया। फिर रसोइये का वेष बनाकर राजा की आज्ञा से उसने मनुष्य का मांस पकाकर उसे निवेदन किया। राजा भी उसे सुवर्णपात्र में रखकर वसिष्ठजी के आने की प्रतीक्षा करने लगा और उनके आते ही वह मांस निवेदन कर दिया।

वसिष्ठजी ने सोचा, 'अहो! इस राजा की कुटिलता तो देखो जो यह जान-बूझकर भी मुझे खाने के लिये यह मांस देता है।' फिर यह जानने के लिये कि यह किसका है वे ध्यानस्थ हो गये। ध्यानावस्था में उन्होंने देखा कि वह तो नरमांस है। तब तो क्रोध के कारण क्षुब्धचित्त होकर उन्होंने राजा को यह शाप दिया- 'क्योंकि तूने जान-बूझकर भी हमारे जैसे तपस्वियों के लिये अत्यन्त अभक्ष्य यह नरमांस मुझे खाने को दिया है, इसलिये तेरी इसी में लोलुपता होगी [अर्थात् तू राक्षस हो जायेगा]।'

आगे का कथाक्रम निम्न प्रकार है-

अनन्तरं च तेनापि भगवतैवाभिहितोऽस्मीत्युक्ते किं किं

मयाभिहितमिति मुनिः पुनरपि समाधौ तस्थौ॥ समाधिविज्ञानावगतार्थश्चानुग्रहं तस्मै चकार नात्यान्तिकमेतद्द्वादशाब्दं तव भोजनं भविष्यतीति॥ असावपि प्रतिगृह्योदकाञ्जलिं मुनिशापप्रदानायोद्यतो भगवन्नयमस्मद्गुरुर्नार्हस्येनं कुलदेवताभूतमाचार्यं शप्तुमिति मदयन्त्या स्वपत्न्या प्रसादितस्सस्याम्बुदरक्षणार्थं तच्छापाम्बु नोर्व्यां न चाकाशे चिक्षेप किं तु तेनैव स्वपदौ सिषेच॥ तेन च क्रोधाश्रितेनाम्बुना दग्धच्छायौ तत्पादौ कल्माषतामुपगतौ ततस्स कल्माषपादसंज्ञामवाप।। वसिष्ठशापाच्च षष्ठे षष्ठे काले राक्षसस्वभावमेत्याटव्यां पर्यटन्ननेकशो मानुषानभक्षयत्॥

एकदा तु कश्चिन्मुनिमृतुकाले भार्यासङ्गं ददर्श॥ तयोश्च तमतिभीषणं राक्षसस्वरूपमवलोक्य त्रासाद्दम्पत्योः प्रधावितयोर्ब्राह्मणं जग्राह॥ ततस्साब्राह्मणी बहुशस्तमभियाचितवती॥ प्रसीदेक्ष्वाकुकुलतिलकभूतस्त्वं महाराजो मित्रसहो न राक्षसः॥ नार्हसि स्त्रीधर्मसुखाभिज्ञो मय्यकृतार्थायामस्मद्भर्त्तारं हन्तुमित्येवं बहुप्रकारं तस्यां विलपन्त्यां व्याघ्रः पशुमिवारण्येऽभिमतं तं ब्राह्मणमभक्षयत्॥

ततश्चातिकोपसमन्विता ब्राह्मणी तं राजानं शशाप॥ यस्मादेवं मय्यतृप्तायां त्वयायं मत्पतिर्भक्षितः तस्मात्त्वमपि कामोपभोगप्रवृत्तोऽन्तं प्राप्स्यसीति॥ शप्त्वा चैवं साग्निं प्रविवेश॥

ततस्तस्य द्वादशाब्दपर्यये विमुक्तशापस्य स्त्रीविषयाभिलाषिणो मदयन्ती तं स्मारयामास॥६७॥ (विष्णु पु० ४/४/५४-६७)

अर्थात् तदनन्तर राजा के यह कहने पर कि भगवन् आप ही ने ऐसी आज्ञा की थी, वसिष्ठजी यह कहते हुए कि 'क्या मैंने ही ऐसा कहा था?' फिर समाधिस्थ हो गये। समाधि द्वारा यथार्थ बात जानकर उन्होंने राजा पर अनुग्रह करते हुए कहा, "तू अधिक दिन नरमांस भोजन न करेगा, केवल बारह वर्ष ही तुझे ऐसा करना होगा।" वसिष्ठजी के ऐसा कहने पर राजा सौदास भी अपनी अञ्जलि में जल लेकर मुनीश्वर को शाप देने के लिए उद्यत हुआ। किन्तु अपनी पत्नी मदयन्ती द्वारा 'भगवन्! ये हमारे कुलगुरु हैं, इन कुलदेव रूप आचार्य को शाप देना उचित नहीं है' - ऐसा कहे जाने से शान्त हो गया तथा अन्न और मेघ की रक्षा के कारण उस शाप-जल को पृथिवी या आकाश में नहीं फेंका, बल्कि उससे अपने पैरों को ही भिगो लिया। उस क्रोधयुक्त जल से उसके पैर झुलसकर कल्माषवर्ण (चितकबरे) हो गये। तभी से उनका नाम कल्माषपाद हुआ। तब वसिष्ठजी के शाप के प्रभाव से छठे काल में अर्थात् तीसरे दिन के अन्तिम भाग

में वह राक्षस-स्वभाव धारण कर वन में घूमते हुए अनेकों मनुष्यों को खाने लगा।

एक दिन उसने एक मुनीश्वर को ऋतुकाल के समय अपनी भार्या से सङ्गम करते देखा। उस अति भीषण राक्षस-रूप को देखकर भय से भागते हुए उस दम्पति में से उसने ब्राह्मण को पकड़ लिया। तब ब्राह्मणी ने उससे नाना प्रकार से प्रार्थना की और कहा-"हे राजन्! प्रसन्न होइये। आप राक्षस नहीं हैं बल्कि इक्ष्वाकु कुल तिलक महाराज मित्रसह हैं; आप स्त्री-संयोग के सुख को जानने वाले हैं; मैं अतृप्त हूँ, मेरे पति को मारना आपको उचित नहीं है।' इस प्रकार उसके नाना प्रकार से विलाप करने पर भी उसने उस ब्राह्मण का इस प्रकार भक्षण कर लिया जैसे बाघ अपने अभिमत पशु को वन में पकड़ कर खा जाता है। तब ब्राह्मणी ने अत्यन्त क्रोधित होकर राजा को शाप दिया- 'अरे! तूने मेरे अतृप्त रहते हुए भी इस प्रकार मेरे पति को खा लिया, इसलिये कामोपभोग में प्रवृत्त होते ही तेरा अन्त हो जायेगा।' इस प्रकार शाप देकर वह अग्नि में प्रविष्ट हो गयी।

शक्ति-पत्नी अदृश्यन्ती

महर्षि शक्ति की धर्मपत्नी का नाम अदृश्यन्ती था, जो उतथ्य मुनि की पुत्री थीं। महर्षि शक्ति अपने पिता वसिष्ठ के आश्रम में रहकर ही तप के साथ-साथ वेदाध्ययन एवं वैदिक साहित्य के सृजन में लीन रहने लगे। उनकी धर्मपत्नी अदृश्यन्ती भी अपने पति के जप-तप और स्वाध्याय में सदैव प्राणपण से सहयोग किया करती थीं। गृहस्थ धर्म की पालना करते हुए वह निरन्तर पति सेवा को ही अपना पुनीत कर्त्तव्य एवं धर्म समझती थीं।

अदृश्यन्ती उच्च कोटि की विदुषी थीं। उसने अपने पुत्र पराशर को, जो गर्भ में ही सभी वेदों का ज्ञाता हो गया था, को समयोचित शिक्षा दी तथा उसे इस तथ्य की जानकारी भी कराई कि तुम्हारे पिता शक्ति का वध कल्माषपाद द्वारा किया गया है। पुत्र-पालन एवं उसे संस्कारित बनाने की हार्दिक अभिलाषा के कारण ही वे पति की मृत्यु के बाद भी निरन्तर जप-तप में अपना ध्यान केन्द्रित कर आश्रम की व्यवस्था का सुचारु रूप से संचालन करती रहीं।

कल्माषपाद की राक्षस योनि से मुक्ति[१]

एक बार महर्षि वसिष्ठ अपने आश्रम पर लौट रहे थे। इसी समय ऐसा जान पड़ा, मानों उनके पीछे-पीछे कोई षडङ्ग वेदों का अध्ययन करता हुआ चलता

---

१. संक्षिप्त महाभारत - गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. ९८.

है। वसिष्ठ ने पूछा कि 'मेरे पीछे-पीछे कौन चल रहा है?' आवाज आयी कि 'मैं आपकी पुत्र-वधू अदृश्यन्ती हूँ।' वसिष्ठ बोले, 'बेटी! मेरे पुत्र शक्ति के समान स्वर से साङ्ग वेदों का पाठ कौन कर रहा है?' अदृश्यन्ती ने कहा, 'आपका पौत्र मेरे गर्भ में है। वह बारह वर्ष से गर्भ में ही वेदाध्ययन कर रहा है।' यह सुनकर वसिष्ठ मुनि को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने सोचा, 'अच्छी बात है। मेरी वंश-परम्परा का उच्छेद नहीं हुआ।' यही सब सोचते हुए वे लौट ही रहे थे कि एक निर्जन वन में कल्माषपाद से उनकी भेंट हो गयी। कल्माषपाद विश्वामित्र के द्वारा प्रेरित उग्र राक्षस-भाव से आविष्ट होकर वसिष्ठ मुनि को खा जाने के लिये दौड़ा। उस क्रूरकर्मा राक्षस को देखकर अदृश्यन्ती डर गयी और कहने लगी, 'भगवन्! देखिये, देखिये, यह हाथ में सूखा काठ लियें भयंकर राक्षस दौड़ा आ रहा है। आप इससे मेरी रक्षा कीजिये।' वसिष्ठ ने कहा, 'बेटी, डरो मत। यह राक्षस नहीं, कल्माषपाद है।' यह कहकर महर्षि वसिष्ठ ने हुंकार से ही उसे रोक दिया। इसके बाद उन्होंने जल को हाथ में लेकर मन्त्र से अभिमंत्रित किया और कल्माषपाद के ऊपर डाला। वह तुरंत शाप से मुक्त हो गया। बारह वर्ष के बाद आज वह शाप से छूटा। उसका तेज बढ़ गया, वह होश में आया और हाथ जोड़कर श्रेष्ठ महर्षि वसिष्ठ से कहने लगा, 'महाराज! मैं सुदास का पुत्र कल्माषपाद आपका यजमान हूँ। आज्ञा कीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ?' वसिष्ठजी ने कहा, 'यह सब तो भैया, समय-समय की बात है। अब जाओ, तुम अपने राज्य की देखभाल करो। हाँ, इतना ध्यान रखना कि कभी किसी ब्राह्मण का अपमान न हो।' राजा ने प्रतिज्ञा की, 'महाभाग्यवान् ऋषिश्रेष्ठ! मैं आपकी आज्ञा का पालन करूँगा। कभी ब्राह्मणों का तिरस्कार नहीं करूँगा, उनका प्रेम से सत्कार करूँगा।' क्षमाशील महर्षि वसिष्ठ इसी पुत्रघाती राजा के साथ अयोध्या में आये और अपने कृपाप्रसाद से उसे पुत्रवान् बनाया।

४

मन्त्रद्रष्टा वेदव्यास महर्षि पराशर

वेद-पुराण एवं प्राचीन वाङ्मय में उपलब्ध साक्ष्य से ज्ञात होता है कि प्राचीन ऋषियों की परम्परा में अनेक पराशर हो चुके हैं।

विभिन्न कालों में अवतरित पराशर

पुराण कोश[१] में पराशर नाम के निम्न प्रसिद्ध ऋषि/महापुरुष बताये गये हैं-

(१) एक गोत्रकार ऋषि, जो वसिष्ठ के पौत्र और शक्ति तथा अदृश्यन्ती के पुत्र थे। पराशर के पिता का देहान्त इनके जन्म के पूर्व ही हो चुका था, अतः इनका पालन-पोषण पितामह वसिष्ठ ने किया। यह सात ब्रह्मवादी वासिष्ठों में एक थे। (ब्रह्मां० २.३२.११५)। यह याज्ञवल्क्य के शिष्य थे। (ब्रह्मां० २.३५.२९; वायु० ७७.७४; विष्णु० ३.४.१८)। यह ८६ श्रुतर्षियों में से एक श्रुतर्षि (ब्रह्मां० २.३३.३; मत्स्य० १४५.९६,२०९) तथा २६ वें द्वापर के वेदव्यास थे (ब्रह्मां० २.३५.१२४; वायु० २३.२१२)। कहते हैं गर्भ में ही इन्होंने पिता से ब्रह्माण्ड पुराण सुना और तदनन्तर जातुकर्ण्य को सुनाया (ब्रह्मां०४.४.६५-६; वायु० ६१.४७; १०३.६५; १०६.६५)।

राक्षसों द्वारा पिता की मृत्यु का संवाद अपने दादा वसिष्ठ से सुन (अन्यत्र मृत्यु-समाचार माता से सुनना वर्णित है), इन्होंने राक्षसों के विनाशार्थ एक यज्ञ किया (विष्णु० १.१.११,१४) पर वसिष्ठ के समझाने पर शांत हुए थे (विष्णु०१.१.१५,२१)। ब्रह्मा के पुत्र पुलस्त्य ने इन्हें शास्त्रों का पूर्ण ज्ञान कराया तथा विष्णुपुराण के लेखन का तथा ईश्वर और कर्मों के महत्त्व के ज्ञान का वर दिया था, जिसकी पुष्टि वसिष्ठ ने की थी (भाग० १.३.२१; ४.१४; ६.१५.१४; ९.२२.२१; १२.६.४९, ५५; ब्रह्मा० १.१.९; २.१२; ३.८.९१; मत्स्य० १४.१५.४७.२४६; २०१.३१; वायु० ७०.८३)।

(२) एक प्रसिद्ध स्मृतिकार, जिनकी स्मृति 'पराशरस्मृति' के नाम से विख्यात

१. पुराण कोश - राणाप्रसाद शर्मा, द्वितीय सं० १९८६, पृष्ठ २९२-९३.

है और कलियुग के लिए इसका बड़ा महत्त्व है।

(३) सामग आचार्य कुशुमि के पुत्र तथा तीन शिष्यों में से एक थे। (ब्रह्मां० २.३५.४२)।

(४) नवें द्वापर के भगवदवतार ऋषभ के वेदपारगामी विद्वान् चार पुत्रों में से एक पुत्र (वायु० २३.१४४)।

(५) मंत्र-ब्राह्मण-कारक तथा ब्रह्मक्षेत्र के निवासी सप्त ऋषियों में से एक ऋषि (वायु० ५९.१०५)।

(६) एक पराशर कृष्ण द्वैपायन के शिष्य बाष्कल के शिष्य भी हुए हैं-

चतुर्धा स बिभेदाथ बाष्कलोऽपि च संहिताम्।
बोध्यादिभ्यो ददौ ताश्च शिष्येभ्यस्स महामुनिः॥१७॥
बोध्याग्निमाढकौ तद्वद्याज्ञवल्क्यपराशरौ।
प्रतिशाखास्तु शाखायास्तस्यास्ते जगृहुर्मुने॥१८॥

विष्णु पु० ३/४/१७-१८

अर्थात् फिर बाष्कल ने भी अपनी शाखा के चार भाग किये और उन्हें बोध्य आदि अपने शिष्यों को दिया। बाष्कल की शाखा की उन चारों प्रति-शाखाओं को उनके शिष्य बोध्य, अग्निमाढक, याज्ञवल्क्य और पराशर ने ग्रहण किया।

हिन्दू धर्म कोश[१] में पराशर नाम के निम्न प्राचीन ऋषि-मुनियों का सन्दर्भ दिया गया है, जो पुराण कोष के सन्दर्भ के लगभग समान है-

पराशर

(१) ऋग्वेद (७.१८.२१) में शतयातु तथा वसिष्ठ के साथ पराशर का भी उल्लेख है। निरुक्त (६.३०) के अनुसार पराशर वसिष्ठ के पुत्र थे। किन्तु वाल्मीकि रामायण में इन्हें शक्ति का पुत्र तथा वसिष्ठ का पौत्र कहा गया है। गेल्डनर का मत है कि पराशर का उल्लेख ऋग्वेद में शतयातु तथा वसिष्ठ के साथ हुआ है, जो संभवतः उनके क्रमशः चाचा तथा पितामह थे। जिन सात ऋषियों को ऋग्वेदीय मन्त्रों के सम्पादन का श्रेय है, उनमें पराशर का नाम भी सम्मिलित है।

(२) पराशर नामक स्मृतिकार भी हुए हैं, जिन्होंने पराशरस्मृति की रचना की। वर्तमान युग के लिए यह स्मृति अधिक उपयोगी मानी जाती है : 'कलौ पाराशराः स्मृताः।'

(३) महाभारत में भी पराशर की कथा आती है। वे व्यास (कृष्ण द्वैपायन) के पिता थे।

---

१. हिन्दू धर्म कोश - डा० राजबली पाण्डेय, पृ. ३८९-९०.

(४) वराहमिहिर के पूर्व पराशर एवं गर्ग प्रसिद्ध ज्योतिर्विद हो चुके थे।

(५) पराशर नामक एक प्राचीन वेदान्ताचार्य भी थे। रामानुज स्वामी के शिष्य कूरेश के पुत्र का नाम भी पराशर था, जिन्होंने रामानुज की आज्ञा से 'विष्णुसहस्रनाम' पर भाष्य लिखा।

यहाँ जिन महर्षि पराशर का उल्लेख किया जा रहा है, वे मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र तथा उनके ज्येष्ठ पुत्र शक्ति के आत्मज थे। महर्षि पराशर अपने पितामह महर्षि वसिष्ठ के साथ वेदों के विस्तार एवं विभाजन जैसे महान कार्यों का सम्पादन कर विश्व-कल्याण के सहभागी बने हैं। महर्षि पराशर ने अपने पितामह से दीर्घकाल तक वेदों का अध्ययन किया था। पराशर स्वयं भी वेद-मन्त्रों के द्रष्टा रहे हैं। उन्होंने ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के अनेक सूक्तों के मंत्रों के साथ-साथ अन्य वेदों के मन्त्रों का भी साक्षात्कार किया है। इसके अतिरिक्त, महर्षि पराशर ने अन्य अनेक उच्च कोटि के धर्म-ग्रन्थों का भी प्रणयन किया, जिसमें धर्म, नीति शास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद एवं वास्तु शास्त्र जैसे अनेक क्षेत्र उल्लेखनीय हैं। महर्षि पराशर ने राजा जनक को भी ब्रह्म सम्बन्धी ज्ञान का दान किया था। उनके द्वारा सभी क्षेत्रों में किये गये अवदान के कारण वेद, पुराण एवं महाभारत आदि धर्म-ग्रन्थों में बार-बार महर्षि पराशर का उल्लेख आया है।

पराशर का जन्म

शक्ति की विधवा पत्नी अदृश्यन्ती अपने सास-ससुर देवी अरुन्धती एवं वसिष्ठ के सान्निध्य में उनके आश्रम में रहती थी। उन्होंने महर्षि वसिष्ठ के आश्रम में ही बालक पराशर को जन्म दिया। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वसिष्ठजी का आश्रम नैमिषारण्य में था। यह स्थान सरस्वती नदी के तट पर स्थित था। नैमिषारण्य कुरुक्षेत्र के समीप बताया जाता है। कहीं-कहीं उत्तर प्रदेश के सीतापुर जिले में गोमती नदी के तट पर भी वसिष्ठजी का आश्रम बताया जाता है। शक्ति-पुत्र महर्षि पराशर का जन्म ऐसे समय में हुआ, जब उनके पितामह वसिष्ठ अपने पुत्र शक्ति सहित सौ पुत्रों के असामयिक निधन से स्वयं भी मर जाने की इच्छा कर रहे थे, उन्होंने देहपात् करने का अनेक बार प्रयत्न भी किया।

चूँकि शक्ति के पुत्र, उस असाधारण बालक ने गर्भ में आकर मरने की इच्छा वाले (परासु) वसिष्ठ मुनि को पुनः जीवित रहने की प्रेरणा दी थी, इसीलिये विश्व में वह बालक पराशर नाम से विख्यात हुआ -

परासुः स यतस्तेन वसिष्ठः स्थापितो मुनिः।
गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इति स्मृतः॥

महाभारत आदि प० १७७/३

महर्षि पराशर का नाम रखने के पीछे इस शब्द का यह अर्थ भी लगाते हैं – **परा + शरः।**

अर्थात् परा (वाणी) शर के समान गतिशील एवं प्रभावी होने के कारण उन्हें पराशर कहा गया।

माधव सायणाचार्य[१] ने अपने प्रसिद्ध धातुवृत्ति के क्रयादिगण के १६ वें सूत्र में पराशर का अर्थ बताया है –**"पराश्रृणाति पापानीति पराशरः।"**

अर्थात् जो दर्शन करने मात्र से पापों का नाश कर देते हैं।

महर्षि पराशर का देवत्व अथर्ववेद ६.३५ में निर्दिष्ट है।[२]

महर्षि वसिष्ठ ने अपने सुपौत्र पराशर के जातकर्म आदि संस्कार हर्षोल्लास से वेदोक्त रीति से सम्पन्न किये –

जातकर्मादिकास्तस्य क्रियाः स मुनिसत्तमः।
पौत्रस्य भरतश्रेष्ठ चकार भगवान् स्वयम्॥

महाभारत आदि पर्व १/१७७/ २

पराशर की जन्म तिथि

वर्तमान में महर्षि पराशर की जयन्ती आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा को मनाई जाती है, जबकि यह तिथि महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास की जयन्ती है। यही तिथि गुरु पूर्णिमा के रूप में सर्वत्र मनाई जाती है।

पराशरजी की जन्म तिथि के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। निर्णय सागर पंचाङ्ग,[३] नीमच, संवत् २०५७ में वैशाख शुक्ल प्रतिपदा महर्षि पराशर की जयन्ती बताई गई है। इस पंचाङ्ग में पराशर को 'पाराशर' संभवतया भूलवश लिख दिया गया है अथवा मुद्रण की अशुद्धि है, क्योंकि पंचाङ्ग का आशय पराशर पुत्र पाराशर (व्यास) होता तो व्यासपीठ पूजन एवं गुरु पूर्णिमा का उल्लेख आषाढ़ शुक्ला पूर्णिमा के रूप में नहीं किया जाता।

श्री रामानन्द सम्प्रदाय के प्रकाशित ग्रन्थ 'श्री रामानन्द सम्प्रदाय का इतिहास के अनुसार महर्षि पराशर का जन्म आश्विन शुक्ल पूर्णिमा को वसिष्ठाश्रम में होना बताया गया है।[४]

---

१. कल्याण – धर्मशास्त्राङ्क , वर्ष ७० (१९९६), पृ. २४६ (पाद टिप्पण).

२. अथर्ववेद संहिता भाग १ पं. श्री राम शर्मा आचार्य, सं० २०५९ परि. २ (६६)

३. निर्णयसागर पंचाङ्ग, नीमच, संवत् २०५७.

४. श्री रामानन्द सम्प्रदाय का इतिहास – श्री रामानन्द दर्शन शोध संस्थान, पालड़ी (अहमदाबाद), सन् २००० पृष्ठ ३१०/४६ ; सम्प्रदाय कल्पलता – श्री सीताराम आचार्य, सन् १९९७ पृ. ११.

इसी प्रकार 'भारती' संस्कृत मासिक पत्रिका के 'रामानन्द दर्शन' विशेषाङ्क, मई १९९९ पृष्ठ १९ में भी महर्षि पराशर का आविर्भाव आश्विन शुक्ल पूर्णिमा को ही बताया गया है।[१]

रामानन्द सम्प्रदाय का उपर्युक्त ग्रन्थ महर्षि पराशर की जन्म-तिथि के निर्धारण के सन्दर्भ में प्रामाणिक ग्रन्थ माना जा सकता है।

महर्षि वसिष्ठ द्वारा देहपात के जो प्रयास किये गये तथा जिनका प्रसङ्ग महाभारत में आया है, उनका विवेचन करने पर पराशर के जन्म के सम्बन्ध में निश्चित तिथि ज्ञात करने में वे प्रसङ्ग सहायक हो सकते हैं।

पुत्र शक्ति सहित सभी पुत्रों की मृत्यु के बाद वसिष्ठजी ने अपने शरीर का त्याग करने का विचार कर लिया -

चक्रे चात्मविनाशाय बुद्धिं स मुनिसत्तमः।

महाभारत - १/१७५/४४ (पूर्वार्द्ध)

वसिष्ठजी ने अपने शरीर-त्याग का एक बार नहीं, पाँच बार प्रयास किया, किन्तु वे हर बार असफल रहे। नियति कुछ ऐसी ही थी। जिस मानसिक संताप से वे पीड़ित थे, भविष्य में वह संताप हर्षोल्लास में परिवर्तित होने वाला था, क्योंकि उनके वंश की अभिवृद्धि करने वाला बालक तो पुत्रवधू अदृश्यन्ती की कोख में पल रहा था, फिर भला परमेश्वर, वसिष्ठ के आत्मघात को कैसे सफल होने देता। महाभारत के आदि पर्व के अध्याय १७५ व १७६ में तद्विषयक वर्णन आया है।[२]

महाभारत के आदि पर्व के १७५ वें अध्याय के निम्न श्लोक में उल्लेख है कि महर्षि भगवान् वसिष्ठ ने मेरु पर्वत के शिखर से अपने आपको पर्वत की शिला पर गिराया, परन्तु उन्हें ऐसा जान पड़ा मानों वे रुई के ढेर पर गिरे हों -

स मेरुकूटादात्मानं मुमोच भगवानृषिः।
गिरेस्तस्य शिलायां तु तूलराशाविवापतत्॥ ४५॥

जब (इस प्रकार) गिरने से भी नहीं मरे, तब वे भगवान् वसिष्ठ महान् वन के भीतर धधकते हुए दावानल में घुस गये -

न ममार च पातेन स यदा तेन पाण्डव।
तदाग्निमिद्धं भगवान् संविवेश महावने॥ ४६॥

यद्यपि उस समय अग्नि प्रचण्ड वेग से प्रज्ज्वलित हो रही थी, तो भी उन्हें जला न सकी। उनके प्रभाव से वह दहकती हुई आग भी शीतल हो गयी-

---

१. 'भारती' संस्कृत मासिक पत्रिका, जयपुर, मई १९९९ पृ. १९.
२. महाभारत - आदि पर्व, अध्याय १७५-७६.

तं तदा सुसमिद्धोऽपि न ददाह हुताशनः।
दीप्यमानोऽप्यमित्रघ्न शीतोऽग्निरभवत् ततः॥ ४७ ॥

तब शोक के आवेश से युक्त महामुनि वसिष्ठ ने सामने समुद्र देखकर अपने कण्ठ में बड़ी भारी शिला बाँध ली और तत्काल जल में कूद पड़े-

स समुद्रमभिप्रेक्ष्य शोकाविष्टो महामुनिः।
बद्ध्वा कण्ठे शिलां गुर्वीं निपपात तदाम्भसि॥ ४८ ॥

परंतु समुद्र की लहरों के वेग ने उन महामुनि को किनारे लाकर डाल दिया। कठोर व्रत का पालन करने वाले ब्रह्मर्षि वसिष्ठ जब किसी प्रकार न मर सके, तब खिन्न होकर अपने आश्रम पर ही लौट पड़े-

स समुद्रोर्मिवेगेन स्थले न्यस्तो महामुनिः।
न ममार यदा विप्रः कथंचित् संशितव्रतः।
जगाम स ततः खिन्नः पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ४९ ॥

महाभारत के आदि पर्व के १७६ वें अध्याय में भी वसिष्ठ द्वारा आत्मघात के अनेकानेक प्रयासों का वर्णन करते हुये प्रथम श्लोक में बताया गया है कि आश्रम में मुनिश्रेष्ठ का मन नहीं लग रहा था, उन्हें निरन्तर अपने पुत्रों की मृत्यु एवं वंश-लोप की पीड़ा सता रही थी, अतः वे आश्रम को अपने पुत्रों से सूना देखकर पुनः आश्रम छोड़कर चले गये -

ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं रहितं तैः सुतैर्मुनिः।
निर्जगाम सुदुःखार्तः पुनरप्याश्रमात् ततः ॥ १ ॥

वर्षा का समय था। उन्होंने देखा, एक नंदी नूतन जल से लबालब भरी है और तटवर्ती बहुत से वृक्षों को अपने जल की धारा में बहाये लिये जाती है-

सोऽपश्यत् सरितं पूर्णां प्रावृट्काले नवाम्भसा।
वृक्षान् बहुविधान् पार्थ हरन्तीं तीरजान् बहून्॥ २ ॥

(उसे देखकर) दुःख से युक्त वसिष्ठजी के मन में फिर यह विचार आया कि मैं इसी नदी के जल में डूब जाऊँ -

अथ चिन्तां समापेदे पुनः कौरवनन्दन।
अम्भस्यस्या निमज्जेयमिति दुःखसमन्वितः॥ ३ ॥

तब अत्यन्त दुखी हुए महामुनि वसिष्ठ अपने शरीर को पाशों द्वारा अच्छी तरह बाँधकर उस महानदी के जल में कूद पड़े -

ततः पाशैस्तदाऽऽत्मानं गाढं वद्ध्वा महामुनिः।
तस्या जले महानद्या निममज्ज सुदुःखितः॥ ४॥

उस नदी ने वसिष्ठजी के बन्धन काटकर उन्हें स्थल पर पहुँचा दिया और उन्हें विपाश (बन्धन रहित) करके छोड़ दिया–

अथ छित्वा नदी पाशांस्तस्यारिबलसूदन।
स्थलस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत्॥ ५॥

तब पाशमुक्त हो महर्षि जल से निकल आये और उन्होंने उस नदी का नाम 'विपाशा' (व्यास) रख दिया–

उत्तताार ततः पाशैर्विमुक्तः स महानृषिः।
विपाशेति च नामास्या नद्याश्चक्रे महानृषिः॥ ६॥

उस समय उन्होंने शोकबुद्धि कर ली थी, इसलिये वे किसी एक स्थान में नहीं ठहरते थे, पर्वतों, नदियों और सरोवरों के तट पर चक्कर लगाते रहते थे –

शोकबुद्धिं तदा चक्रे न चैकत्र व्यतिष्ठत।
सोऽगच्छत् पर्वतांश्चैव सरितश्च सरांसि च॥ ७॥

(इस तरह घूमते–घूमते) महर्षि ने पुनः हिमालय पर्वत से निकली हुई एक भयंकर नदी को देखा, जिस में बड़े प्रचण्ड ग्राह रहते थे। उन्होंने फिर उसी की प्रखर धारा में अपने–आपको डाल दिया–

दृष्ट्वा स पुनरेवर्षिर्नदीं हैमवतीं तदा।
चण्डग्राहवतीं भीमां तस्याः स्रोतस्यपातयत्॥ ८ ॥

वह श्रेष्ठ नदी ब्रह्मर्षि वसिष्ठ को अग्नि के समान तेजस्वी जान सैकड़ों धाराओं में फूटकर इधर–उधर भाग चली। इसलिये वह 'शतद्रु' (सतलुज) नाम से विख्यात हुई–

सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा।
शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता॥ ९॥

वहाँ भी अपने को स्वयं ही स्थल में पड़ा देख 'मैं मर नहीं सकता' यों कहकर वे फिर अपने आश्रम पर ही चले गये–

ततः स्थलगतं दृष्ट्वा तत्राप्यात्मानमात्मना।
मर्तुं न शक्यमित्युक्त्वा पुनरेवाश्रमं ययौ॥१०॥

महर्षि वशिष्ठ द्वारा आत्मघात के प्रयत्नों में पर्वत से गिरने, वनाग्नि में अपने को भस्मीभूत करने, समुद्र में डूब मरने व दो बार नदी प्रवाह में डूबने का प्रयत्न

किया गया, पर वे असफल रहे। महर्षि वसिष्ठ द्वारा आत्मघात के प्रयत्न तथा उस समय के वातावरण (मौसम) आदि का यदि तथ्यपरक विवेचन कर विचार किया जावे तो यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है कि पराशर का जन्म आश्विन शुक्ल पूर्णिमा को हुआ था न कि वैशाख शुक्ल प्रतिपदा अथवा आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा को। श्री जगदीश प्रसाद पारीक[१] ने भी इसका तथ्यपरक विवेचन किया है–

(१) **आषाढ़ शुक्ल पूर्णिमा** – अर्थात् गुरुपूर्णिमा ग्रीष्म ऋतु के अन्त में आती है। पुत्र–शोक से व्याकुल ब्रह्मर्षि वसिष्ठ के जीवन समाप्त करने के उद्देश्य से महावन के भीतर धधकते हुए दावानल में प्रवेश करने का उल्लेख है। सामान्य बुद्धि के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जंगल में आग (दावानल) प्रायः गर्मी में ही लगती है। इसी प्रकार, ब्रह्मर्षि के वर्षा के नूतन जल से लबालब भरी हुई नदी में कूदने का उल्लेख है तथा यह काल वर्षा काल था। इससे यह सिद्ध होता है कि ग्रीष्म एवं वर्षा काल में ब्रह्मर्षि पुत्र–शोक तथा वंश लोप होने के कष्ट की ज्वाला में जल रहे थे। इस समय उनके द्वारा शरीर–त्याग का प्रयास यह सिद्ध करता है कि महर्षि पराशर ने उस समय तक जन्म नहीं लिया था अथवा वसिष्ठजी को पराशर के गर्भस्थ होने की जानकारी नहीं थी। अतः उक्त जन्म–तिथि उचित प्रतीत नहीं होती।

(२) **वैशाख शुक्ल प्रतिपदा** – यह तिथि बसंत ऋतु में आती है। वर्षा ऋतु तथा बसंत में करीब ७ माह का अंतर है, जो काफी लम्बा समय है।

(३) **आश्विन शुक्ल पूर्णिमा** – अर्थात् शरद पूर्णिमा। यह तिथि शरद ऋतु में आती है, जो वर्षा ऋतु के ठीक पश्चात् का समय है। पुत्र शोक से व्याकुल ब्रह्मर्षि ने ग्रीष्म एवं वर्षा ऋतु में प्राण–त्याग का प्रयास किया पर वे असफल रहे। इसी समय अपनी पुत्रवधू के गर्भ स्थित पराशर से उन्होंने वेद–ध्वनि सुनी एवं वे अपने आश्रम लौट आये। तदनन्तर पराशर–जन्म का उल्लेख महाभारत में मिलता है। यही तिथि पराशर जयन्ती के रूप में तर्कसंगत लगती है।

इस प्रकार उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर आश्विन शुक्ल पूर्णिमा अर्थात् शरद् पूर्णिमा ही महर्षि पराशर की जन्म तिथि के रूप में सही प्रतीत होती है।

जन्म स्थान

वामन पुराण के अनुसार वसिष्ठजी का आश्रम स्थाणुतीर्थ पर था। **'आश्रमो**

---

१. श्री जगदीश प्रसाद पारीक – पारीक सौरभ, २०००, प्रकाशक अ.भा. पारीक महासभा, पाली पृ. २५.

वै वसिष्ठ स्थानुतीर्थे वभूव ह॥' यह आश्रम सरस्वती नदी के तट पर था।[१] 'वैदिक ग्रन्थों के कतिपय उल्लेखों में प्राचीन नैमिष वन की स्थिति सरस्वती नदी के तट पर कुरुक्षेत्र के समीप मानी जाती है।'[२] 'महाभारत में नैमिषारण्य एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान या वन है। महाभारत की कथा सर्वप्रथम यहीं पर हुई थी। महाभारत तथा पुराणों में इसका बहुधा उल्लेख मिलता है। वनपर्व के अनुसार नैमिषारण्य में संसार के सारे तीर्थ केन्द्रित हैं। वायु पुराण (१.१४-२२) में स्पष्ट किया है कि नैमिषारण्य का क्षेत्र कुरुक्षेत्र में सरस्वती के तट पर था। यहीं नैमिषारण्य में पराशर का जन्म हुआ था।'[३] 'धर्मशास्त्र का इतिहास'[४] में भी पराशर का जन्म नैमिषारण्य में होना बताया है, यहीं पर वशिष्ठ एवं विश्वामित्र में कलह हुआ था और यहीं पर कल्माषपाद राजा को शक्ति ऋषि ने शाप दिया था। हिन्दू धर्मकोश[५] में पराशर ह्रद का उल्लेख आया है कि यह करनाल (हरियाणा) से कैथल जाने वाली पक्की सड़क से लगभग 6 मील उत्तर में है। यह कुरुक्षेत्र (ब्रह्मसर) सरोवर की भाँति अति विशाल सरोवर है। इसके चारों ओर बहुत ऊँचा तथा चौड़ा मिट्टी का बना हुआ किनारा है, जो दीवार की भाँति सरोवर को घेरे हुए है। कहा जाता है कि महर्षि पराशर का आश्रम यहीं था।

महाभारत में पुत्र-शोक से संतप्त वसिष्ठजी द्वारा प्राणोत्सर्ग के जो प्रयास किये गये तथा जिन पहाड़ों, नदियों एवं वन का उल्लेख पूर्व में आया है, वैसे ही स्थान महर्षि वसिष्ठ के आश्रम के पास अवस्थित थे तथा उनकी पुत्र-वधू अदृश्यन्ती उन्हीं के पास निवास करती थीं, अतः महर्षि पराशर का जन्म वसिष्ठाश्रम में होना निश्चित प्रतीत होता है।

महर्षि पराशर द्वारा राक्षस-सत्र प्रारम्भ

महर्षि पराशर को पितृ-वध की जानकारी होने, उनके पुत्र-हृदय के इस लोमहर्षक घटना से मर्माहत होने तथा प्रतिशोध स्वरूप राक्षसों के मूलोच्छेद हेतु राक्षस-सत्र या यज्ञ प्रारम्भ करने की ओर प्रवृत्त होने आदि घटनाओं का सविस्तार वर्णन महाभारत में आया है, जिसका यहां संक्षिप्त उल्लेख कथा-क्रम के सम्यक् ज्ञान की दृष्टि से अप्रासंगिक नहीं होगा।[६]

---

१. कल्याण- वामन पुराणाङ्क, वर्ष ५६ (१९८२) पृ. १८८.
२. हिन्दू धर्मकोश - डॉ. राजबली पाण्डेय पृ. ३७६.
३. महाभारत आदि पर्व, प्रथम भाग उपोद्घातः - सम्पा. आचार्य उमेश शास्त्री, डॉ. राजेन्द्र प्रसाद व प्रो. बक्षीराम शास्त्री, पृ. १७.
४. महामहोपाध्याय पाण्डुरंग वामन काणे, भाग ३ पृ. १४५१.
५. डॉ. राजबली पाण्डेय, पृ. ३९६.
६. महाभारत - आदिपर्व, अध्याय १७७.

महाभारत आदि पर्व के १७७ वें अध्याय के निम्न श्लोक के अनुसार धर्मात्मा पराशर मुनि वसिष्ठ को ही अपना पिता मानते थे और जन्म से ही उनके प्रति पितृभाव रखते थे–

अमन्यत स धर्मात्मा वसिष्ठं पितरं मुनिः।
जन्मप्रभृति तस्मिंस्तु पितरीवान्ववर्तत॥ ४॥

एक दिन महर्षि पराशर ने अपनी माता अदृश्यन्ती के सामने ही वसिष्ठजी को 'तात' कहकर पुकारा –

स तात इति विप्रर्षिर्वसिष्ठं प्रत्यभाषत।
मातुः समक्षं कौन्तेय अदृश्यन्त्याः परंतप ॥ ५॥

बेटे के मुख से परिपूर्ण अर्थ का बोधक 'तात' यह मधुर वचन सुनकर अदृश्यन्ती के नेत्रों में आँसू भर आये और वह उससे बोली –

तातेति परिपूर्णार्थं तस्य तन्मधुरं वचः।
अदृश्यन्त्यश्रुपूर्णाक्षी शृण्वती तमुवाच ह ॥ ६॥

'बेटा ! ये तुम्हारे पिता के भी पिता हैं। तुम इन्हें 'तात-तात'! कहकर न पुकारो। वत्स! तुम्हारे पिता को तो वन के भीतर राक्षस खा गया –

मा तात तात तातेति ब्रूह्येनं पितरं पितुः।
रक्षसा भक्षितस्तात तव तातो वनान्तरे ॥ ७॥

'अनघ! तुम जिन्हें तात मानते हो, ये तुम्हारे तात नहीं हैं। ये तो तुम्हारे यशस्वी पिता के भी पूजनीय हैं –

मन्यसे यं तु तातेति नैष तातस्तवानघ।
आर्य एष पिता तस्य पितुस्तव यशस्विनः ॥८॥

माता के यों कहने पर सत्यवादी मुनिश्रेष्ठ महामना पराशर दुःख से आतुर हो उठे। उन्होंने उसी समय सब लोकों को नष्ट कर डालने का विचार किया–

स एवमुक्तो दुःखार्तः सत्यवागृषिसत्तमः।
सर्वलोकविनाशाय मतिं चक्रे महामनाः ॥ ९॥

उनके मन का ऐसा निश्चय जान ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ महातपस्वी, महात्मा एवं तात्त्विक बुद्धि वाले मित्रवरुण-नन्दन वसिष्ठजी ने पराशर को ऐसा करने से रोक दिया –

तं तथा निश्चितात्मानं स महात्मा महातपाः।
ऋषिर्ब्रह्मविदां श्रेष्ठो मैत्रावरुणिरन्त्यधीः ॥१०॥

वसिष्ठो वारयामास हेतुना येन तच्छृणु।।११ पूर्वा.॥

महाभारत आदिपर्व के १७८ वें अध्याय के निम्न श्लोक में वसिष्ठजी ने अनेकानेक तर्क देकर कहा कि क्रोध तपस्याजनित तेज को दूषित करने वाला है, अतः इसको मारो –

दूषयन्तं तपस्तेजः क्रोधमुत्पतितं जहि।' ॥२२ पूर्वा.॥

म.भा. आदिपर्व अध्याय १७८/२२

महर्षि वसिष्ठ ने समझाया कि तुम परलोक को भली-भाँति जानते हो, अतः तुम्हारे द्वारा लोगों को मारना उचित नहीं है –

तस्मात् त्वमपि भद्रं ते न लोकान् हन्तुमर्हसि।
पराशर पराँल्लोकान् जानञ्ज्ञानवतां वर ॥२३॥

म.भा. आदिपर्व १७९/२३

महाभारत आदिपर्व के १८० वें अध्याय में इस सम्बन्ध में विस्तृत वृत्तान्त दिया गया है,[१] जिसमें पराशर द्वारा लोकों के विनाश के विचार को त्याग कर राक्षसों के वध के कार्य को करने में प्रवृत्त होने आदि घटनाक्रम का वर्णन है।

महात्मा वसिष्ठ के यों कहने पर उन महर्षि पराशर ने अपने क्रोध को समस्त लोकों के पराभव से रोक लिया –

एवमुक्तः स विप्रर्षिर्वसिष्ठेन महात्मना।
न्ययच्छदात्मनः क्रोधं सर्वलोकपराभवात्॥ १ ॥

तब सम्पूर्ण वेद वेत्ताओं में श्रेष्ठ महातेजस्वी शक्तिनंदन पराशर ने समस्त लोकों के विनाश का विचार त्याग कर राक्षसों के विनाश हेतु राक्षस सत्र का अनुष्ठान किया –

ईजे च स महातेजाः सर्ववेदविदां वरः।
ऋषी राक्षससत्रेण शाक्तेयोऽथ पराशरः॥ २ ॥

उस विस्तृत यज्ञ में अपने पिता शक्ति के वध का बार-बार चिन्तन करते हुए महामुनि पराशर ने राक्षस जाति के बूढ़ों तथा बालकों को भी जलाना आरम्भ किया –

ततो वृद्धांश्च बालांश्च राक्षसान् स महामुनिः।
ददाह वितते यज्ञे शक्तेर्वधमनुस्मरन्॥ ३ ॥

उस समय महर्षि वसिष्ठ ने यह सोचकर कि इसकी दूसरी प्रतिज्ञा को न

१. महाभारत – आदिपर्व, अध्याय, १८०/१-२३.

तोड़ूँ, उन्हें राक्षसों के वध से नहीं रोका –

न हि तं वारयामास वसिष्ठो रक्षसां वधात्।
द्वितीयामस्य मा भाङ्क्षं प्रतिज्ञामिति निश्चयात्॥ ४॥

उस सत्र में तीन प्रज्वलित अग्नियों के समक्ष महामुनि पराशर चौथी अग्नि के समान प्रकाशित हो रहे थे–

त्रयाणां पावकानां च सत्रे तस्मिन् महामुनिः।
आसीत् पुरस्ताद् दीप्तानां चतुर्थ इव पावकः॥ ५ ॥

(पापी राक्षसों का संहार करने के कारण) वह यज्ञ अत्यन्त निर्मल एवं शुद्ध समझा जाता था। शक्तिनन्दन पराशर द्वारा उसमें यज्ञ–सामग्री का हवन आरम्भ होते ही (वह इतना प्रज्वलित हो उठा कि) उसके तेज से सम्पूर्ण आकाश ठीक उसी तरह उद्भासित होने लगा, जैसे वर्षा बीतने पर सूर्य की प्रभा से उद्दीप्त हो उठता है–

तेन यज्ञेन शुभ्रेण हूयमानेन शक्तिजः।
तद्विदीपितमाकाशं सूर्येणेव घनात्यये ॥ ६ ॥

उस समय वसिष्ठ आदि सभी मुनियों के समक्ष वहाँ तेज से प्रकाशमान महर्षि पराशर दूसरे सूर्य के समान जान पड़ते थे –

तं वसिष्ठादयः सर्वे मुनयस्तत्र मेनिरे।
तेजसा दीप्यमानं वै द्वितीयमिव भास्करम्॥ ७॥

पराशर द्वारा राक्षस–सत्र की समाप्ति

तदनन्तर दूसरों के लिये उस यज्ञ को बंद करना अत्यन्त कठिन जानकर उदार बुद्धि महर्षि अत्रि स्वयं उस यज्ञ को समाप्त कराने की इच्छा से पराशर के पास आये–

ततः परमदुष्प्रापमन्यैर्ऋषिरुदारधीः।
समापिपयिषुः सत्रं तमत्रिः समुपागमत॥ ८॥

उसी प्रकार पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और महाक्रतु ने भी राक्षसों के जीवन की रक्षा के लिये वहाँ पदार्पण किया –

तथा पुलस्त्यः पुलहः क्रतुश्चैव महाक्रतुः।
तत्राजग्मुरमित्रघ्न रक्षसां जीवितेप्सया॥ ९॥

उन राक्षसों का विनाश होता देख महर्षि पुलस्त्य ने शत्रुसूदन पराशर से यह बात कही –

पुलस्त्यस्तु वधात् तेषां रक्षसां भरतर्षभ।
उवाचेदं वचः पार्थ पराशरमरिंदमम्॥१०॥

तुम्हारे इस यज्ञ में कोई विघ्न तो नहीं पड़ा? बेटा! तुम्हारे पिता की हत्या के विषय में कुछ भी न जानने वाले इन सभी निर्दोष राक्षसों का वध करके क्या तुम्हें प्रसन्नता होती है? –

कच्चित् तातापविघ्नं ते कच्चिन्नन्दसि पुत्रक।
अजानतामदोषाणां सर्वेषां रक्षसां वधात्॥ ११ ॥

वत्स! मेरी संतति का तुम्हें इस प्रकार उच्छेद नहीं करना चाहिये। यह हिंसा तपस्वी ब्राह्मणों का धर्म कभी नहीं मानी गयी–

प्रजोच्छेदमिमं मह्यं न हि कर्तुं त्वमर्हसि।
नैष तात द्विजातीनां धर्मो दृष्टस्तपस्विनाम्॥ १२॥

पराशर! शान्त रहना ही (ब्राह्मणों का) श्रेष्ठ धर्म है, अतः उसी का आचरण करो। तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण होकर भी यह पापकर्म करते हो? –

शम एव परो धर्मस्तमाचर पराशर।
अधर्मिष्ठं वरिष्ठः सन् कुरुषे त्वं पराशर॥ १३॥

तुम्हारे पिता शक्ति धर्म के ज्ञाता थे, तुम्हें (इस अधर्म कृत्य द्वारा) उनकी मर्यादा का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। फिर मेरी संतानों का विनाश करना तुम्हारे लिये कदापि उचित नहीं है –

शक्तिं चापि हि धर्मज्ञं नातिक्रान्तुमिहार्हसि।
प्रजायाश्च ममोच्छेदं न चैवं कर्तुमर्हसि॥ १४॥

वसिष्ठकुलभूषण! शक्ति के शाप से ही उस समय वैसी दुर्घटना हो गयी थी। वे अपने ही दोष से इस लोक को छोड़कर स्वर्गवासी हुए हैं (इसमें राक्षसों का कोई अपराध नहीं है) –

शापाद्धि शक्तेर्वासिष्ठ तदा तदुपपादितम्।
आत्मजेन स दोषेण शक्तिर्नीत इतो दिवम्॥ १५॥

मुने! कोई भी राक्षस उन्हें खा नहीं सकता था। अपने ही शाप से (राजा को नरभक्षी राक्षस बना देने के कारण) उन्हें उस समय अपनी मृत्यु देखनी पड़ी –

न हि तं राक्षसः कश्चिच्छक्तो भक्षयितुं मुने।
आत्मनैवात्मनस्तेन दृष्टो मृत्युस्तदाभवत्॥ १६॥

पराशर! विश्वामित्र तथा राजा कल्माषपाद भी इसमें निमित्तमात्र ही थे

(तुम्हारे पूर्वजों की मृत्यु में तो प्रारब्ध ही प्रधान है)। इस समय तुम्हारे पिता शक्ति स्वर्ग में जाकर आनन्द भोगते हैं –

निमित्तभूतस्तत्रासीद् विश्वामित्रः पराशर।
राजा कल्माषपादश्च दिवमारुह्य मोदते॥ १७॥

'महामुने! वसिष्ठजी के शक्ति से छोटे जो पुत्र थे, वे सभी देवताओं के साथ प्रसन्नतापूर्वक सुख भोग रहे हैं–

ये च शक्त्यवराः पुत्रा वसिष्ठस्य महामुने।
ते च सर्वे मुदा युक्ता मोदन्ते सहिताः सुरैः॥ १८॥

'महर्षे! तुम्हारे पितामह वसिष्ठजी को ये सब बातें विदित हैं। तात शक्तिनन्दन! तेजस्वी राक्षसों के विनाश के लिये आयोजित इस यज्ञ में तुम भी निमित्त मात्र ही बने हो (वास्तव में यह सब उन्हीं के पूर्व कर्मों का फल है)। अतः अब इस यज्ञ को छोड़ दो। तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारे इस सत्र की समाप्ति हो जानी चाहिये'–

सर्वमेतद् वसिष्ठस्य विदितं वै महामुने।
रक्षसां च समुच्छेद एष तात तपस्विनाम्॥ १९॥
निमित्तभूतस्त्वं चात्र क्रतौ वासिष्ठनन्दन।
तत् सत्रं मुञ्च भद्रं ते समाप्तमिदमस्तु ते॥ २०॥

पुलस्त्यजी तथा परम बुद्धिमान् वसिष्ठजी के यों कहने पर महामुनि शक्तिपुत्र पराशर ने उसी समय यज्ञ को समाप्त कर दिया –

एवमुक्तः पुलस्त्येन वसिष्ठेन च धीमता।
तदा समापयामास सत्रं शाक्तो महामुनिः॥ २१॥

सम्पूर्ण राक्षसों के विनाश के उद्‌देश्य से किये जाने वाले उस सत्र के लिये जो अग्नि संचित की गयी थी, उसे उन्होंने उत्तर दिशा में हिमालय के आस–पास विशाल वन में छोड़ दिया –

सर्वराक्षससत्राय सम्भृतं पावकं तदा।
उत्तरे हिमवत्पार्श्वे उत्ससर्ज महावने॥ २२॥

वह अग्नि आज भी वहाँ सदा प्रत्येक पर्व के अवसर पर राक्षसों, वृक्षों और पत्थरों को जलाती हुई देखी जाती है –

स तत्राद्यापि रक्षांसि वृक्षानश्मन एव च।
भक्षयन् दृश्यते वह्निः सदा पर्वणि पर्वणि॥२३॥

पुलस्त्य ऋषि के आग्रह पर जब महर्षि पराशर ने अपने पिता शक्ति के

हत्यारे राक्षसों का वध करने के संकल्प का परित्याग कर दिया, तो उन्होंने पराशर की क्षमाशीलता से प्रभावित होकर निम्नलिखित आशीर्वाद दिया था-

पुराण संहिताकर्ता भवान्वत्स भविष्यति।
देवतापारमार्थ्यं च यथावद्वेत्स्यते भवान्॥

वष्णु पु. १/१/२६

अर्थात् हे वत्स पराशर! तुम पुराण संहिता के रचनाकार बनोगे तथा धर्म के सभी गूढ़ विषयों का आपको भली प्रकार ज्ञान प्राप्त होगा।

इस प्रकार स्वयं की सुपात्रता के बल पर महर्षि पराशर ने समकालीन सभी प्रसिद्ध ऋषियों एवं मुनियों के आशीर्वाद से अपने व्यक्तित्व का असीम विकास किया, जो उनके वेद-मंत्रों के द्रष्टा होने एवं सम्पूर्ण कृतित्व में प्रतिबिम्बित हुआ।

महर्षि पराशर का कृतित्व

महर्षि पराशर तपोमूर्ति महर्षि वसिष्ठ के पौत्र तथा महात्मा शक्ति के पुत्र हैं। इस प्रकार महर्षि पराशरजी की पितृ-परम्परा में जिस प्रकार वसिष्ठ जैसे योग-ज्ञान सम्पन्न महान् धर्मात्मा महापुरुष हुए जो भगवान श्रीराम के भी गुरु रहे, वैसे ही उनकी पुत्र-पौत्र परम्परा में भी महान् ऋषि-महर्षियों का आविर्भाव हुआ। इन सबके लोकोपकार एवं धर्माचरण की कोई इयत्ता नहीं। 'पराशर' शब्द का अर्थ ही है कि जो दर्शन-स्मरण करने मात्र से ही समस्त पाप-ताप को छिन्न-भिन्न कर दे। इस प्रकार जो स्मरण करने मात्र से पवित्र बना देते हैं, फिर यदि उनके धर्मशास्त्रीय उपदेशों का पालन किया जाय तो कितना कल्याण होगा, यह सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

जैसा कि उल्लेख किया गया है, भारत में पराशर नाम के एक से अधिक प्रसिद्ध ऋषि-महर्षि हो चुके हैं, जिनमें मैत्रावरुणि वसिष्ठ के सुपौत्र शाक्त्य पराशर तथा वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन के पिता पराशर विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इन दोनों पराशरों में सहस्त्रों वर्षों का अन्तराल है। मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र महर्षि पराशर ऋग्वेदादि के मन्त्र-द्रष्टा हैं तथा उनके द्वारा अध्यात्म, ज्योतिष, वास्तु आदि महत्वपूर्ण विषयों पर समाजोपयोगी ग्रन्थों का प्रणयन किया गया है। महर्षि पराशर ने कृषि जैसे विषय को भी अपने समय में पर्याप्त महत्व दिया तथा कृषि-विकास की तकनीकों एवं विधियों के विषय में लिखा।

रामानन्द सम्प्रदाय के इतिहास में[१] महर्षि पराशर द्वारा प्रणीत निम्न ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है-

---

१. 'रामानन्द सम्प्रदाय का इतिहास', प्रकाशक, रामानन्द दर्शन शोध संस्थान, पालड़ी, अहमदाबाद, पृष्ठ ४६.

१. वेदों के मन्त्र-द्रष्टा २. वृहत्पराशर होराशास्त्र, ज्योतिष शास्त्र २२००० श्लोकों का ३. वृहत्पाराशरीय धर्मसंहिता ३३००० श्लोकों का ४. लघुपाराशरी ५. पराशर स्मृतिः ६. पाराशरीय वास्तुशास्त्र ७. पाराशरीय नीतिशास्त्र ८. पराशर संहिता वैद्यक ९. पराशरपुराण १०. विष्णुपुराण-पुराणरत्न ११. पराशरगीता १२. श्रीरामचरितामृतम् १३. विष्णुपुराण १४. तत्वविचारपुराणरत्न १५. श्रीभगवत्स्वरूप-पुराणरत्न १६. ब्रह्मयोग आदि।

वेदों के मन्त्र-द्रष्टा बताये जाने से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि यहाँ पराशर से तात्पर्य मैत्रावरुणि वसिष्ठ-पौत्र पराशर ही हैं तथा उपर्युक्त ग्रन्थों के प्रणेता भी वे ही हैं। जैसा कि हम भली-भाँति जानते हैं कि लगभग सभी प्रमुख धर्म ग्रन्थों में प्रक्षिप्त अंश जोड़ कर अथवा भाषागत परिवर्तन से उनके मूल स्वरूप को परिवर्तित करने का प्रयास किया गया है। पराशर-प्रणीत उपर्युक्त ग्रन्थ भी इसका अपवाद नहीं कहे जा सकते।

अतः मैत्रावरुणि वसिष्ठ-पौत्र पराशर द्वारा प्रणीत बताये गये उपर्युक्त ग्रन्थों के सम्बन्ध में भी निम्न संभावनायें दृष्टिगोचर होती हैं-

१. उनके द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में कालान्तर में सामग्री एवं विषय जोड़ दिये गये हों तथा उनके मूल स्वरूप में उल्लेखनीय परिवर्तन-परिवर्द्धन किया गया हो;

२. कतिपय एक दो ग्रन्थ दूसरों द्वारा उनके नाम से लिख दिये गये हों;

३. यह भी सम्भव है कि मैत्रावरुणि-पौत्र पराशर द्वारा उनकी रचना सूत्र रूप में की गई हो और बाद में इसका विस्तार किया गया हो। यह स्थिति विशेषकर विष्णु पुराण एवं पराशर स्मृति के सम्बन्ध में विचारणीय है, जिनमें पुराण-संहिता लिखने का आशीर्वाद महर्षि पुलस्त्य ने उन्हें दिया था, जिसमें कलिकाल का वर्णन है। महर्षि पराशर भविष्य द्रष्टा भी थे, अतः उन्होंने कलियुग में किये जाने वाले भावी व्यवहारों तथा उनके नियमन का भी मानव कल्याणार्थ विवेचन किया हो, यह सम्भव है। पराशर स्मृति एवं विष्णु-पुराण के तृतीय अंश के अध्याय ८ से १६ के कई विषय समान ही है।[१] पराशर संहिता, जो शाक्त्य पराशर द्वारा रचित प्रतीत होती है, उसका ही एक अंश पराशर स्मृति हो सकती है। इन ग्रन्थों के लेखन पर विद्वानों में मतान्तर हो सकता है, जो अन्वेषण का विषय है, तथापि उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर मैत्रावरुणि वसिष्ठ-पौत्र पराशर ने समाज के कल्याणार्थ प्रभूत साहित्य का सर्जन किया है, यह निर्विवाद है।

महर्षि पराशर द्वारा प्रणीत उक्त धर्म-ग्रन्थों में से कतिपय प्रमुख ग्रन्थों की विषय-वस्तु का यहाँ संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

१. वेद-मन्त्रों के द्रष्टा

महर्षि पराशर का वेदमन्त्रों के द्रष्टा के रूप में विश्व के लिये महान् अवदान रहा है। महर्षि पराशर ने सर्वप्रथम वेदों एवं उनके अङ्ग-उपाङ्गों का गहन अध्ययन किया। उन्होंने वेदों के विकास एवं विस्तार के इतिहास का भी अवलोकन एवं विश्लेषण किया। महर्षि पराशर द्वारा प्रणीत विष्णु पुराण में इस सम्बन्ध में विस्तृत उल्लेख मिलता है-

आद्यो वेदश्चतुष्पादः शतसाहस्त्रसम्मितः।
ततो दशगुणः कृत्स्नो यज्ञोऽयं सर्व कामधुक्॥१॥

विष्णु पु. ३/४/१

अर्थात् सृष्टि के आदि में ईश्वर से आविर्भूत वेद चार पादों से युक्त और एक लक्ष मन्त्रों वाला था। वेद के चार पादों में विभाजन को ही ऋक्, यजुः, साम एवं अथर्व वेद के नाम से जाना जाता है।

महर्षि पराशर ने वेदों के विस्तार, विभाजन एवं सम्पादन में अपने पितामह वेद-व्यास महर्षि वसिष्ठ की न केवल सहायता की, अपितु स्वयं ने भी स्वतन्त्र रूप से वेद-ऋचाओं/मन्त्रों का साक्षात्कार किया। महर्षि पराशर विशेष रूप से ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ६५ से ७३ तथा ९७ वें सूक्त के अधिकांश मन्त्रों के द्रष्टा रहे हैं। इस प्रकार उन्होंने शताधिक वेद-मन्त्रों का दर्शन किया है।

पराशर शाक्त्य का ऋषित्व ऋग्वेद के साथ-साथ यजुर्वेद तथा सामवेद के अनेक सूक्तों/अध्यायों में भी मिलता है। ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के १८ वें सूक्त के निम्न मंत्र-भाग में पराशर ऋषि का उल्लेख शतयातु और वसिष्ठ के साथ किया गया है-

प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः।

ऋ०७/१८/२१ ॥पूर्वा.॥

'शतयातु' शब्द पराशर का विशेषण माना जाता है। पराशर के पिता शक्ति को भी शतयातु कहा जाता है। वैदिक कोश [1] में उपर्युक्त मंत्र का यह अर्थ उद्धृत किया गया है-

'हे इन्द्र वसिष्ठ का नाती पराशर, पराशर का पिता शतयातु, शक्ति आदि ऋषि तेरे साथ घर पर जा सोम पीकर यज्ञों में अत्यन्त प्रसन्न हुये।'

पराशर ऋषि को शक्ति का पुत्र और वसिष्ठ का पौत्र कहा गया है -

---

१. वैदिक कोश - भाग ३, नाग प्रकाशक, दिल्ली, १९९५ पृ. १३३०-३१.

'वसिष्ठस्य सुतः शक्तिः शक्तेः पुत्रः पराशरः' इति।

ऋ०१/६५ सा०भा०[१]

इसी तथ्य की पुष्टि निरुक्त-भाष्यकार दुर्गाचार्य ने की है -

पराशरः ऋषिर्वसिष्ठस्य नप्ता शक्तेः पुत्र एव।

नि०दु० ६.६.३०[१]

ऋग्वेद

ऋग्वेद के प्रथम मंडल के ६५ वें सूक्त के समस्त मन्त्रों के द्रष्टा शाक्त्य पराशर हैं। प्रथम मन्त्र में परमेश्वर तथा विद्युत-रूपा अग्नि का महत्व प्रकट किया गया है, जिसके द्रष्टा पराशर हैं-

पश्वा न तायुं गुहा चतन्तं नमो युजानं नमो वहन्तम्।
सजोषा धीराः पदैरनु ग्म न्नुप त्वा सीदन् विश्वे यजत्राः॥

ऋग्वेद १/६५/१

शब्दार्थ : हे सर्व विद्यायुक्त सभेश! (विश्वे) सब (यजत्राः) संगति प्रिय (सजोषाः) सब तुल्य प्रीति को सेवन करने वाले (धीराः) बुद्धिमान् लोग (पदैः) प्रत्यक्ष प्राप्त जो गुणों के नियम उन्हों से (न) जैसे (पश्वा) पशु के ले जाने वाले (तायुम्) चोर को प्राप्त कर आनन्द होता है वैसे जिस (गुहा) गुफा में (चतन्तम्) व्याप्त (नमः) वज्र के समान आज्ञा का (युजान्) समाधान करने (नमः) सत्कार को (वहन्तम्) प्राप्त करते हुये (त्वा) आपको (अनुग्मन) अनुकूलनापूर्वक प्राप्त तथा (उपसीदन्) समीप स्थित होते हैं, उस आपको हम लोग भी इस प्रकार प्राप्त हो के आपके समीप स्थित होते हैं।

भावार्थ : इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। हे मनुष्यो! तुम लोग जैसे वस्तु को चुराते हुये चोर के पाद आदि अङ्ग वा स्वरूप देखने से उसको पकड़ कर चुराये पशु आदि पदार्थों का ग्रहण करते हो, वैसें ही अन्तःकरण में उपदेश करने वाले सबके आधार विज्ञान से जानने योग्य परमेश्वर तथा बिजुलीरूप अग्नि को जान और प्राप्त होके सब आनन्द को स्वीकार करो।

निम्न मन्त्र के द्रष्टा यद्यपि वसिष्ठ हैं, परन्तु उनके द्वारा स्वयं, पराशर तथा शतयातु के नामों को जिन उदात्त अर्थों में गुम्फित किया गया है, वह द्रष्टव्य है-

प्र ये गृहादममदुस्त्वाया पराशरः शतयातुर्वसिष्ठः।
न ते भोजस्य सख्यं मृषन्ताधा सूरिभ्यः सुदिना व्युच्छान्॥

ऋग्वेद ७/१८/२१

---

१. ऋग्वेद संहिता - सम्पा० पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्करण २००० भाग १, परि. १ क्र. १७.

शब्दार्थ : हे राजन! (ये) जो (त्वया) तुम्हारी नीति के साथ (गृहात्) घर से (अममदुः) आनन्दित होते हैं व (शतयातुः) जो सैकड़ों के साथ जाता है जो (वसिष्ठः) अतीव बसने वाला और जो (पराशरः) दुष्टों का हिंसक आनन्दित होता है (ते) वे (भोजस्य) भोगने और पालन करने की (सख्यम्) मित्रता को (न) नहीं (प्र, मृषन्त) सहते हैं (अध) इसके अनन्तर जो (सूरिभ्यः) विद्वानों से (सुदिना) सुखयुक्त दिनों में (व्युच्छान्) निरन्तर वसें वे तुमको सदा सत्कार करने योग्य हैं ॥

भावार्थ : हे इन्द्रदेव! जिन्हें असुर मारना चाहते थे, ऐसे पराशर, वसिष्ठ आदि ऋषियों ने भक्तिपूर्वक आपकी स्तुति की है। आप उनके पालक हैं। अतः वे आपकी मित्रता को नहीं भूले। आपकी कृपा से इन ऋषियों को श्रेष्ठ दिवस (शुभ अवसर) प्राप्त हों।

सामवेद

अथ तृतीयायाः पराशर ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥ [१]

५२५ - **तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्नि-**
र्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिं पृच्छमानाः
सोमं यन्ति मतयो वावशानाः ॥३॥

सामवेद १/५/६/३

भाषार्थ :- (**वह्निः**) ईश्वरदत्त ज्ञान को ले चलने वाला ऋषि (**तिस्रः वाचः**) तीन प्रकार के ऋग् यजुः और साम लक्षणयुक्त वाणियों को (**ऋतस्य धीतिम्**) सत्य की धारणा और (**ब्राह्मणः मनीषाम्**) परमात्मा की सत्य प्रज्ञा (ऋतस्य) को (**प्र ईरयति**) लोक में प्रचारित करता है, इसलिये (**गावः**) वेदवाणियों (**गोपतिं पृच्छमानाः**) वाणीपति - परमात्मा से पूछती हुईं-सी (**यन्ति**) बाहर जाती हैं अर्थात् ज्यों की त्यों प्रकाशित होती हैं, तथा (**मतयः**) वेदवाही ऋषियों की बुद्धियें (**वावशानाः**) सोमादि वेद-प्रतिपादित पदार्थों की कामना करती हुई (**सोमम्**) सोमोपलक्षित वस्तुमात्र को (**यन्ति**) प्राप्त होती हैं।

पूर्व मन्त्र में यह कहा गया था कि ऋषि लोग प्रत्येक कल्प के आरम्भ में ईश्वर से प्रातिभासिक ज्ञान को प्राप्त हुआ कहते हैं। इस मन्त्र में यह कहा गया है कि सर्वथा ज्यों का त्यों ही परमात्मा की ओर से हृदय में प्राप्त हुआ ज्ञान जो ऋग्, यजुः और साम इन तीन वेदों की ऋचाओं में वर्णित होता है, उसे ऋषि लोग

---

१. सामवेद, सर्वदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, संस्करण २००० पृ. २८९-९०.

प्रचार किया करते हैं। न्यूनाधिक कुछ नहीं। जिस प्रकार एक दूत अपने स्वामी से पूछकर ज्यों का त्यों सन्देश ले जाता है, इसी प्रकार वेदवाणियां मानों परमात्मा से पूछकर चलती हैं। इसीलिये वेदों में प्रतिपादित सोमादि पदार्थों की यथार्थ प्राप्ति वेदवाही ऋषियों को हो जाती है।

यहाँ तीन प्रकार की वाणी कहने से वेदों की ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद इन तीन संहिताओं का ग्रहण नहीं है, प्रत्युत चारों संहिता[1] ऋग्, यजुः साम अथर्व में तीन प्रकार की ऋचा हैं–एक ऋक्, दूसरी यजुः, तीसरी साम। जैसा कि मीमांसा दर्शन सूत्र २:१/ ३५–३६–३७ में जैमिनि जी ने माना है कि ''जिन की अर्थवश से पादव्यवस्था है वे ऋक्, जिनमें गीति हैं वे साम और शेष यजुः॥'' मीमांसा के सूत्र और निघण्टु १/११ तथा निरुक्त परिशिष्ट आदि का अनुसरण करते हुए विवरणकार का मत संस्कृतभाष्य में देखा जा सकता है। निरुक्त के परिशिष्ट की व्याख्या–सी करते हुए इस प्रकार कहते हैं कि ३ वाणी ऋग् यजु साम, वा सत्त्व, रज, तम, वा जागृत स्वप्न सुषुप्ति वृत्तियाँ। जल और किरणों को वहन करने – ले चलने से सूर्य को वह्नि कहा है। ऋत का अर्थ आदित्य वा ब्रह्म है। मनु के (अग्नौ प्रास्ताहुति०) अनुसार आदित्य आहुतियों का वाहक है। गौ शब्द का अर्थ जल वा किरण है। इसी प्रकार गोपति का अर्थ किरणपति = सूर्य है। जिससे पूछती हुई सी मति अर्थात् किरणें चलती हैं। मति नाम किरणों का इसलिये है कि उनसे प्रकाशित होकर विषयों को जाना जाता है। सोम आदित्य का नाम है, जिसमें कामना करती–सी किरणें फिर लौट जाती हैं। आध्यात्मिक पक्ष में वह्नि आत्मा का नाम है, क्योंकि वह वशित्वादि गुणयुक्त है। वह ३ वाणी – १. विद्या २. बुद्धि ३. मन को प्रेरित करता है। विद्या = महत्तत्त्व = बुद्धि अहंकार और मन = प्रधानता से भूतेन्द्रियाँ, ऋत आत्मा की धीति अर्थात् मनचाहे कर्मों को प्रेरित करते हैं। ब्रह्म–आत्मा को जो इन्द्रियों का स्वामी है, इन्द्रियाँ पूछ करके काम करती हैं। क्योंकि आत्मा के अभिप्रायानुकूल चलती है। इसी प्रकार सोम = आत्मा की कामना करती हुई उसी में चली जाती हैं, फिर प्रकट नहीं होतीं॥ ऋ० ९।९७।३४ में भी ॥३॥

अथ सप्तम्याः पराशर ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥

५२९ – अक्रांत्समुद्रः प्रथमे विधर्मन्
जनयन् प्रजा भुवनस्य गोपाः।
वृषा पवित्रे अधि सानो अव्ये
बृहत्सोमो वावृधे स्वानो अद्रिः॥७॥

सामवेद १/५/६/७

---

१. सामवेद, सर्वदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, संस्करण २००० पृ. २९३–९४.

भाषार्थः- (स्वानः) अभिषव किया हुआ (अधिसानः) अभिषेक किया जाता हुआ (सोमः) सोमरस (अव्ये) ऊन के (पवित्रे) दशापवित्र पर [स्थापित] (प्रथमे) विस्तृत (विधर्मन्) विशेष धारक यज्ञ में (अद्रिः) मेघरूप में परिणत (बृहत्) बहुत (वावृधे) बढ़ता है और (भुवनस्य) पृथिव्यादि लोक की (प्रजाः) प्रजाओं को (जनयन्) अन्नोत्पत्ति करके उत्पन्न करता हुआ (गोपाः) गौ आदि पशुओं की तृणोत्पत्ति करके रक्षा करने वाला (वृषा) वर्षा करने वाला (समुद्रः) जिससे जल वर्षते हैं, वह सोमरस (अक्रान) सर्वतः क्रान्त होता है।

ईश्वर पक्ष में - (अव्ये) पर्वत के एकान्त (पवित्रे) शुद्ध देश में (स्वानः) ध्यान से अभिषव किया जाता हुआ और (अधिसानः) अभिषेचन किया जाता हुआ (सोमः) आत्माऽऽनन्दाऽमृत (अद्रिः) मेघ-सा (बृहत्) बहुत (वावृधे) उमड़ता=बढ़ता है। क्योंकि (गोपाः) पृथिवी आदि लोकों का पालक (समुद्रः) जिसमें लोक लोकान्तर घूम रहे हैं, वह अमृत परमात्मा (भुवनस्य) भूलोकादि की (प्रजाःजनयन्) प्रजाओं को उत्पन्न करता हुआ (प्रथमे) विस्तृत (विधर्मन्) विशेष करके धारने वाले गगनमण्डल में (अक्रान) सबको आक्रान्त कर रहा है। (वृषा) वह कामना पूरी करता है॥

निरुक्त-परिशिष्ट में यास्क ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है-[१]

"आक्रमण करता है मुद = आदित्य जो कि वर्षा करने से प्रजा का उत्पादक और सबका राजा है। सोम पवित्र पर स्थित, वृष्टिकारक, अत्यन्त बढ़ता है। यह आधिदैविक अर्थ हुआ। अब आध्यात्मिक अर्थ यह है कि क्रमण करता है समुद्र=आत्मा, जो बड़े आकाश में ज्ञान द्वारा सबका उत्पादक और राजा है। (उत्तरार्ध का अर्थ पूर्व के तुल्य है) निरुक्त परिशिष्ट २।१६ अष्टाध्यायी ८।२।६४॥ निघण्टु १।१० इत्यादि के प्रमाण और ऋग्वेद ९।९७।४० का पाठभेद संस्कृत भाष्य में देखिये, तथा निरुक्त परिशिष्ट में ऋग्वेदस्थ पाठ की ही व्याख्या है।"

अथ द्वितीयायाः पराशर ऋषिः। सोमो देवता। अनुष्टुप्छन्दः॥[२]

५३४- प्र ते धारा मधुमतीरसृग्रन्वारं यत्पूतो अत्येष्यव्यम्।
पवमान पवसे धाम गोनां जनयत्सूर्यमपिन्वो अर्कैः॥

सामवेद १/५/७/२

भाषार्थः- (पवमान) सोम! (मधुमतीः) मधुरतायुक्त (ते) तेरी (धाराः) धारें तब (माऽसृग्रन्) छूटती हैं (यत्) जब कि (पूतः) स्वच्छ किया हुआ (अव्यं वारम्) ऊन के दशापवित्र को (अत्येषि) लांघकर अग्नि में जाता है (गोनां धाम) किरणों के पुञ्ज को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (अर्कैः) अपने तेजों से (सूर्यम्) सूर्य को (अपिन्वः) आप्यायित करता और (पवसे)

---

१. सामवेद, सर्वदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, संस्करण २००० पृ. २९४.

२. उपर्युक्त पृ. २९६-९७.

गगनमण्डल को जाता है।

भावार्थः- सोमरस को स्वच्छ करके दशापवित्र से लेकर अग्नि में होम करने से उसकी मधुर धारें छूटतीं और आकाशमण्डल में अपने तेजोयुक्त सूक्ष्म अवयवों से सूर्य की किरणों को बसाती हुईं वृष्टि और शुद्धि करती हैं।

अष्टाध्यायी ७/१/५७ का प्रमाण और ऋ० ९। ९७। ३१ का पाठभेद संस्कृतभाष्य में देखा जा सकता है ॥२॥[१]

अथ दशम्याः पराशर ऋषिः। सोमो देवता। त्रिष्टुप्छन्दः॥ [२]

५४२ - **महत्तत्सोमो महिषश्चकारापां**
यद्गर्भोऽवृणीत देवान्।
अदधादिन्द्रे पवमान ओजो-
ऽजनयत्सूर्ये ज्योतिरिन्दुः॥१०॥

सामवेद १/५/७/१०

भाषार्थः- (सोमः) सोमरस या अमृत परमात्मा (यत्) जो कि (अपांगर्भः) जलों का ग्राहक वा कर्मों का ग्राहक (देवान् अवृणीत) वायु आदि देवताओं वा विद्वानों वा इन्द्रियों का वरण करता है, (महिषः) गुणों से महान् सोम (तत्, महत) यह बड़ा काम (चकार) करता है। तथा (पवमानः) शुद्धि का हेतु सोम (इन्द्रे) बिजली वा आत्मा में (ओजः) बल को (अदधात्) धारण करता है और वही (इन्दुः) सोम (सूर्ये) आदित्यमण्डल में (ज्योतिः) प्रकाश को (अजनयत) उत्पन्न करता है।

परमात्मा यह सब करता है, इसमें तो विवाद ही नहीं, परन्तु सोम भी किसी अंश तक जलों का ग्राहक, वायु आदि देवों का पान करने से इन्द्रियों का वरण करने वाला, वृष्टिकारक, विद्युत्तत्त्व वा आत्मा में बल का धारण करने वाला और सूर्य की किरणों में फैलकर प्रकाश का उत्पन्न करने वाला कहा जा सकता है।[२]

यजुर्वेद

यजुर्वेद ३३.११ में पराशर शाक्त्य को ऋषि का गौरवपूर्ण स्थान दिया गया है। निरुक्त में इन्हें वसिष्ठ-वंशीय विवेचित किया गया है तथा शक्ति-पुत्र के रूप में उल्लिखित किया है- **पराशरः ऋषिर्वसिष्ठस्य नप्ता शक्तेः पुत्र एव** (निरुक्त ६.३०)। सर्वानुक्रम-सूत्रकार भी इनके ऋषित्व को विवेचित करते हैं-

---

१. सामवेद- सर्वदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, संस्करण २०००, पृ. २९७.

२. उपर्युक्त पृष्ठ ३०१-२.

आयत्पराशरः शाक्त्योऽने (सर्वा० ३.१७) ।[१]

आ यदित्यस्य पराशर ऋषिः। अग्निर्देवता। विराट्त्रिष्टुप्छन्दः। धैवतः स्वरः॥

आ यदिषे नृपतिं तेजऽआनट् शुचि रेतो निषिक्तं द्यौरभीके।
अग्निः शर्द्धमनवद्यं युवान् स्वाध्यं जनयत्सूदयच्च ॥११॥

यजुर्वेद ३३/११[२]

पदार्थः- हे मनुष्यो! (यत्) जब (इषे) वर्षा के लिये (निषिक्तम्) अग्नि में घृतादि के पड़ने से निरन्तर बढ़ा हुआ (शुचि) पवित्र (तेजः) यज्ञ से उठा तेज (नृपतिम्) जैसे राजा का तेज व्याप्त हो, वैसे सूर्य को (आ, आनट्) अच्छे प्रकार व्याप्त होता है तब (अग्निः) सूर्य रूप अग्नि (शर्द्धम्) बल हेतु (अनवद्यम्) निर्दोष (युवानाम्) जवानी को करन हारे (स्वाध्यम्) जिन का सब चिन्तन करते (रेतः) ऐसे पराक्रमकारी वृष्टि जल को (द्यौः) आकाश के (अभीके) निकट (जनयत्) उत्पन्न करता (च) और सूदयत् वर्षा करता है ॥११॥

भावार्थः- इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमालङ्कार है। जैसे अग्नि में होम किया द्रव्य तेज के साथ ही सूर्य को प्राप्त होता है और सूर्य जलादि को आकर्षण कर वर्षा करके सब की रक्षा करता है वैसे राजा प्रजाओं से करों को ले, दुर्भिक्ष काल में फिर दे, श्रेष्ठों को सम्यक् पालन और दुष्टों को सम्यक् ताड़ना दे के प्रगल्भता और बल को प्राप्त होता है।

शाक्त्य पराशर जिन वेदों के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि रहे हैं, उनके मुख्य मंडलों एवं सूक्तों के मन्त्र आदि का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है-[३]

पराशर द्वारा मन्त्र-दर्शन : एक दृष्टि में

वेद का नाम	मंडल/अध्याय	सूक्त/दशति क्र०	मन्त्रों की संख्या
१. ऋग्वेद	मण्डल १	सूक्त ६५	५
		" ६६	५
		" ६७	५
		" ६८	५
		" ६९	५
		" ७०	६
		" ७१	१०
		" ७२	१०

१. यजुर्वेद संहिता - पं. श्री राम शर्मा आचार्य, शांतिकुंज, हरिद्वार, 2000, परिशिष्ट १.७८
२. यजुर्वेदः भाषाभाष्य - सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, २००१, पृ. १०७०.
३. ऋग्वेद संहिता - भाग १, सम्पादक पं. श्रीराम आचार्य, संस्करण २००० परि. १(१७).

वेद का नाम	मंडल/अध्याय	सूक्त/दशति क्र०	मन्त्रों की संख्या
	मण्डल - १	" ७३	१०
	मण्डल - ९	" ९७	१४
२. सामवेद	अध्याय - ५	" ६	२ [मंत्र ३,(५२५), ७(५२९)
		" ७	२ [मंत्र २,(५३४), १०(५४२).
३. यजुर्वेद	अध्याय - ३३		१ (११वाँ मन्त्र)

२. विष्णु पुराण

विष्णु पुराण के प्रणेता मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र पराशर रहे हैं। सामान्यतया यह धारणा प्रचलित है कि वैदिक वाङ्.मय के समान पुराण अति प्राचीन ग्रन्थ नहीं हैं। इस कारण शाक्त्य पराशर को विष्णु पुराण का प्रणेता मानने में किंचित् शङ्का होना स्वाभाविक है। अतएव, सर्वप्रथम पुराणों की प्राचीनता के सम्बन्ध में विवेचन करना उचित प्रतीत होता है।

पुराण : अति प्राचीन धर्म-ग्रन्थ - पुराणों में अट्ठारह पुराण मुख्य माने गये हैं। इसके अतिरिक्त, अनेक उप-पुराण भी प्रसिद्ध रहे हैं। इनमें अनेक पुराण वस्तुतः बहुत प्राचीन ग्रन्थ रहे हैं। इस सम्बन्ध में वेदों, उपनिषद, पुराणादि में पर्याप्त साक्ष्य उपलब्ध हैं।

वेदों में पुराण का उल्लेख

प्रारम्भ में पुराण एक ही धर्म-ग्रन्थ था तथा पुराण की रचना वैदिक काल में की जा चुकी थी। अथर्ववेद में पुराण का सन्दर्भ आया है, जिसमें पुराण का एक वचन में उल्लेख हुआ है -

ऋचः सामानि च्छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

अथर्ववेद ११/७/२४*

अर्थात् स्तुति विद्यायें अथवा ऋग्वेद मन्त्र, सामवेद-मन्त्र या मोक्ष-ज्ञान, यजुर्वेद संहिता या विद्वानों के सत्कार सहित अथवा सामवेद के मन्त्र या आनन्दप्रद

---

* उक्त मन्त्र सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली द्वारा वर्ष २००० में प्रकाशित अथर्ववेद (भाग ९ व १०) से उद्धृत किया गया, परन्तु श्रीराम शर्मा द्वारा सम्पादित 'अथर्ववेद संहिता-भाग-२ संस्करण २००० में यह मन्त्र सातवें सूक्त के स्थान पर ९ वें सूक्त में इसी (२४वें) क्रमांक पर दिया गया है।'

कर्म और पुराण, ये सब आकाश में सूर्य (के आकर्षण) में ठहरे हुये सभी गतिमान् लोक शेष (परमात्मा) से उत्पन्न हुये हैं।

इससे यह अनुमान होता है कि प्रारम्भ में एक ही पुराण था, कालान्तर में अन्य पुराणों की रचना की गई अथवा उनकी विषय-वस्तु का विस्तार किया जाता रहा, 'पुराणम्' विद्या के रूप में है, अतः एक वचन है, पुराण विषयक शतशः ग्रन्थ हो सकते हैं।

अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में भी इतिहास के साथ पुराण का एक वचन में उल्लेख किया गया है-

स बृहतीं दिशमनुव्यचलत्॥१०॥
तमितिहासश्च पुराणं च गाथाश्च नाराशंसीश्चानुव्यचलन्॥११॥
इतिहासस्य च वै स पुराणस्य च गाथानां च नाराशंसीनां
च प्रियं धाम भवति य एवं वेद॥१२॥

अथर्व वेद १५/६/१०-१२

भावार्थ - जो मनुष्य परमात्मा के गुण-कर्म स्वभाव के साथ उत्तम मनुष्यों के गुण-कर्म स्वभाव का उपदेश करता है, वह इतिहास-पुराणादि द्वारा कीर्ति पाता है।

उपनिषदों में पुराण

[१]'उपनिषदों में भी पुराणों की साहित्य परम्परा को अति प्राचीन बताया गया है। तैत्तिरीय आरण्यक में ब्राह्मणों, इतिहासों, पुराणों एवं नाराशंसी गाथाओं की चर्चा हुई है। बृहदारण्यक (४.१.२) में भी 'इतिहास एवं पुराण' का उल्लेख हुआ है। गौतमधर्मसूत्र ने भी माना है कि आरम्भ में केवल एक ही पुराण था-

पुराणमेकमेवासीत् तदा कल्पान्तरेऽनघ।

पतञ्जलि के महाभाष्य में पुराण एक वचन में आया है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र के उद्धरण से ज्ञात होता है कि पुराण प्राचीन एवं पद्यबद्ध थे।'[१]

छान्दोग्य उपनिषद् (७.१-२ व ४) में इतिहास एवं पुराण को पञ्चम वेद कहा गया है-[२]

स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमथर्वणं चतुर्थमितिहास-पुराणं पञ्चमं वेदानां वेदम्॥

छान्दोग्य उप० ७/१/२

---

१. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, डॉ. पाण्डुरंग वामनकाणे, १९८०, पृष्ठ ४८.
२. ब्रह्माण्ड पुराणम् - मोतीलाल बनारसीदास, प्रस्तावकिम्, पाद-टीप सं. ३, पृष्ठ xii.

अर्थात् 'भगवन! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथा अथर्ववेद जानता हूँ, (इसके सिवा) इतिहास-पुराणरूप पाँचवाँ वेद है।

पुराणों में पुराण की प्राचीनता

विभिन्न पुराणों में भी उनकी प्राचीनता, विषयवस्तु एवं महत्त्व के विषय में उल्लेख आना स्वाभाविक है। मत्स्य पुराण के अनुसार पुराण को सभी शास्त्रों में ब्राह्मणों (विद्वानों अथवा ब्रह्मविद् महापुरुषों) द्वारा सर्वप्रथम दृष्टिगत किया गया है, इसके पश्चात् उनके मुख से वेदों का अवतरण हुआ-

पुराणं सर्वशास्त्राणां प्रथमं ब्रह्मणा स्मृतम्।
अनन्तरञ्च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिर्गताः॥

मत्स्य पुराण ५३/३

ब्रह्माण्ड पुराण में भी उक्त भावों को लगभग इन्हीं शब्दों में अभिव्यक्ति दी गई है-

वक्ष्यामि तान्पुरस्तात्तु विस्तरेण यथाक्रमम्।
प्रथमं सर्वशास्त्राणां पुराणं ब्रह्मणा श्रुतम्॥४०॥
अनन्तरं च वक्त्रेभ्यो वेदास्तस्य विनिःसृताः।
अङ्गानि धर्मशास्त्रं च व्रतानि नियमास्तथा॥४१॥

ब्रह्माण्ड पु० पूर्व भा०/१/१/४०-४१

ब्रह्माण्ड पुराण के उक्त श्लोकों - श्लोक ४०वें उत्तरार्द्ध व ४१वें पूर्वार्द्ध में मत्स्य पुराण के 'स्मृतम्' एवं ''विनिर्गताः'' शब्दों के स्थान पर क्रमशः 'श्रुतम्' तथा 'विनिःसृताः' अंतिम शब्द प्रतिस्थापित कर दिये गये हैं। दोनों ही पुराणों की उक्त श्लोकों की भाषा एवं भाव लगभग समान हैं, जिससे निःसन्देह रूप से यह कहा जा सकता है कि एक पुराण का दूसरे पुराण पर प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित होता है।

कहीं-कहीं पुराणों के महत्व का वर्णन करने में अतिशयोक्ति भी स्पष्टतया दृष्टिगत होती है, यद्यपि उस महत्व का कारण भी स्वयं वेदों का आश्रय ग्रहण करना ही बताया गया है-

वेदार्थादधिकं मन्ये पुराणार्थं वरानने।
वेदाः प्रतिष्ठिताः सर्वे पुराणे नात्र संशयः ॥१७॥

नारदीय २/२४/१७[१]

अर्थात् वेदों के अर्थ से भी अधिक हे सुमुखि! पुराणों का अर्थ मान्य है, क्योंकि सभी पुराणों में वेद ही प्रतिष्ठित है, इसमें संशय नहीं है।

अष्टादश पुराणों के रचयिता एक ही ऋषि नहीं हो सकते, क्योंकि पुराणों की विषय-वस्तु तथा उसके प्रतिपादन में सामान्यतया विभिन्नता के साथ-साथ विषयवस्तु की सभी में पुनरावृत्ति दिखाई देती है।

निम्न श्लोक में समस्त पुराणों के रचनाकार वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन को बताया गया है-

अष्टादश पुराणानि कृत्वा सत्यवती सुतः।
भारताख्यानमखिलं चक्रे तदुपबृंहितम्।
लक्षेणैकेन यत् प्रोक्तं वेदार्थपरिबृंहितम्॥

मत्स्य पु० ५३/६९

अर्थात् सत्यवती-नन्दन व्यासजी ने इन अठारह पुराणों की रचना कर इनके कथानकों से समन्वित सम्पूर्ण महाभारत नामक इतिहास की रचना की, जो वेदों के अर्थ से सम्पन्न है।

विभिन्न प्राचीन वैदिक एवं पौराणिक ग्रंथों से यह स्पष्ट है कि पुराणों में कतिपय बातें समान आने पर भी बहुधा उनके प्रतिपाद्य विषयों एवं दृष्टिकोण में अन्तर पाया जाता है। उनमें अनेक प्राचीन भी हैं। अतः सभी पुराणों के रचना-काल को एक एवं उसके रचनाकार एकमेव वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन को बताना तथ्यानुकूल एवं व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता। विषयों की अनेकानेक पुराणों में पुनरुक्ति व श्लोको में समानता के आधार पर भी इस बात की पुष्टि होती है।

स्वयं ब्रह्माण्ड पुराण के रचनाकाल के सम्बन्ध में बताया गया है कि ब्रह्माण्ड पुराण के सर्वप्रथम तत्व रूपी अमृत का पान ब्रह्माजी ने मैत्रावरुणि वसिष्ठ को कराया। वसिष्ठजी ने इसका ज्ञान अपने पौत्र शक्ति-पुत्र पराशर को कराया-[२]

पुराणं लोकतत्त्वार्थमखिलं वेदसंमितम्।
प्रशशंस स भगवान् वसिष्ठाय प्रजापतिः॥८॥

१. ब्रह्माण्ड पुराणम् - मोतीलाल बनारसीदास, देहली १९८३ प्रस्ताविकम्, पाद टिप्पण, पृ. xii.
२. उपर्युक्त पृ. १.

तत्त्व ज्ञानामृतं पुण्यं वसिष्ठो भगवानृषिः।
पौत्रमध्यापयामास शक्तेः पुत्रं पराशरम्॥९॥

ब्रह्माण्ड पु० पू. भाग १/१/८-९

ब्रह्माण्ड पुराण में पुराण-संहिता के महत्व के बारे में समझाया गया है-

पुराण संहितां चक्रे पुराणार्थ विशारदः॥

ब्र० पु० पू. भाग २/३४/२१

अर्थात् पुराण के अर्थ अथवा व्याख्या में निपुण विद्वानों द्वारा पुराण-संहिता का प्रणयन किया गया।

विष्णुपुराण के प्रथम अंश के प्रथम अध्याय में महर्षि पराशर द्वारा राक्षसों के वंश का मूलोच्छेदन करने हेतु राक्षस-सत्र के उल्लेख से भी विष्णुपुराण के रचयिता मैत्रावरुणि वसिष्ठ के सुपौत्र वेदव्यास महर्षि पराशर ही प्रतीत होते हैं।

पराशर के राक्षस-सत्र के समाप्त करने से पुलस्त्य द्वारा दिये गये निम्न आशीर्वाद से भी, जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है, उनके द्वारा विष्णुपुराण की रचना करने सम्बन्धी बात की पुष्टि होती है-

पुराण संहिता कर्ता भवान्वत्स भविष्यति।
देवता पारमार्थ्यं च यथावद्वेत्स्यते भवान्॥२६॥

विष्णु पु० १/१/२६

इस दृष्टि से विष्णु पुराण का रचना-काल वैदिक काल से बहुत बाद का नहीं लगता तथा पुलस्त्य के आशीर्वाद एवं पराशर द्वारा प्रणीत विष्णु पुराण के सन्दर्भ में पुराणों की प्राचीनता अविश्वसनीय प्रतीत नहीं होती है।

विष्णु पुराण की विषय-वस्तु-[१] : अष्टादश महापुराणों की श्रृंखला में विष्णुपुराण का महत्वपूर्ण स्थान है। यह वैष्णव दर्शन तथा वैष्णव भक्ति-उपासना का मूलाधार है। विष्णुपरक होने पर भी यह पुराण साम्प्रदायिकता से सर्वथा दूर है। भगवान् विष्णु की महिमा का गान तथा भगवद्भक्ति की उद्भावना करना ही इसका प्रमुख उद्देश्य है। उन्हीं के नाम से यह 'विष्णुपुराण' कहा जाता है। अन्य पुराणों से कलेवर न्यून होने पर भी इसका महत्त्व अत्यधिक है। इसे 'पुराणसंहिता' भी कहा गया है (विष्णु. १/१/२६,३०)। यह पुराणसंहिता ही समस्त पुराणों का मूल बीज है। विशेषकर श्रीमद्भावतपुराण सर्वथा इसी का विस्तार है। रहूगण, जड़ भरत आदि के चरित्र एवं उपाख्यान, सृष्टिवर्णन, ज्योतिश्चक्रों का वर्णन, सातों

---

१. कल्याण - पुराण कथाङ्क, वर्ष ६३ (१९८९) पृ. १५९.

द्वीपों का भूगोल, मन्वन्तरों तथा वेद आदि शाखाओं का वर्णन, वर्णाश्रमों के आचार, तथा सूर्य-चन्द्र वंश का वर्णन भागवत में इसी विष्णु पुराण के आधार पर हुआ है। विष्णु पुराण के पंचम अंश में श्रीकृष्ण-चरित्र विस्तार से वर्णित है। विष्णु पुराण के प्रमुख प्रतिपाद्य विषयों को दृष्टिगत करते हुये ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्ण चरित्र आदि प्रसंग कालान्तर में जोड़ दिये गये हैं। अतएव ऐसे अंशों को प्रक्षिप्त अंश मानना उचित प्रतीत होता है। शंकर, मध्व, निम्बार्क, रामानुज, भास्कर, वल्लभ एवं बलदेव-विद्याविभूषण आदि आचार्यों ने विष्णुपुराण के श्लोकों को अपने पक्ष-समर्थन के लिये वेदान्त भाष्य, उपनिषद् भाष्य, गीता भाष्य और विशेषकर विष्णुसहस्रनाम के भाष्यों में उद्धृत किया है। इससे भी इस पुराण की प्राचीनता का बोध होता है, वैसे ये दोनों ही पुराण वैष्णवों के उपजीव्य हैं।

महापुराणों के गणना-क्रम में प्रायः सर्वत्र विष्णुपुराण की तृतीय स्थान पर गणना की जाती है, (नारद. ९२/१-३, श्रीमद्भा. १२/८/२३-२४, विष्णु. ३/६/२१-२४)। विष्णुपुराण के प्रथम अंश के प्रथम अध्याय में महर्षि पराशर द्वारा अपने पिता, पितामह आदि के जीवन की कतिपय घटनाओं के उल्लेख से विष्णु पुराण के महर्षि पराशर-प्रणीत होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इसके प्रारम्भ में ही वर्णन है कि जब पराशर के पिता शक्ति को राक्षसों ने मार डाला तब क्रोधाविष्ट पराशर ने अपने पिता के प्रतिशोध में राक्षसों के विनाशार्थ 'रक्षोघ्न-सत्र' प्रारम्भ किया। उसमें हजारों राक्षस गिर-गिर कर स्वाहा होने लगे। इस पर राक्षसों के पिता पुलस्त्यजी ने तथा वसिष्ठ (पराशर के पितामह) ने आकर पराशर के क्रोध को शान्त करने का प्रयास किया। अतएव वसिष्ठ एवं पुलस्त्य के समझाने पर वे शान्त हुए। पराशर के यज्ञ से निवृत्त हो जाने पर तथा उनके तथा वसिष्ठ के द्वारा अर्घ्य-पाद्य और सान्त्वनापूर्ण शब्दों से सम्मानित होने पर महर्षि पुलस्त्य अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने पराशर को पुराण के रचयिता होने का आशीर्वाद दिया, जैसा कि विष्णु पुराण के पूर्वोक्त श्लोक (१/१/२६) में उल्लेख है।[1]

उपलब्ध विष्णुपुराण ६ अंशों (खण्डों) में विभक्त है और उसमें अवान्तर प्रकरणों का विभाग अध्याय-नाम से है। प्रथम अंश में २२ तथा द्वितीय में १६ अध्याय हैं। इसी प्रकार तीसरे, चौथे, पाँचवें तथा छठे अंश में क्रमशः १८,२४,३८ तथा ८ अध्याय हैं। संकलन करने से कुल १२६ अध्याय हैं। इसका चतुर्थ अंश गद्यमय है। मत्स्यपुराण (५३/१६-१७) तथा नारदपुराण (९४/१-२) में इसकी श्लोक-संख्या तेईस हजार बतायी गयी है। किंतु उपलब्ध विष्णु पुराण में लगभग ६ हजार श्लोक ही प्राप्त होते हैं। वास्तव में तथ्य यह है कि विष्णुधर्मोत्तर पुराण, जो कि एक उप पुराण के रूप में मान्य है, इसी विष्णु पुराण का उत्तरार्ध है। इन

---

१. कल्याण - पुराण कथाङ्क, वर्ष ६३ (१९८९) पृ. १५९-६०.

दोनों के श्लोक मिलाने पर नारदादि पुराणों में वर्णित विष्णु पुराण की श्लोक-संख्या पूर्ण हो जाती है।

इस पुराण में पुराणों के पञ्चलक्षण -सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, वंशानुचरित तथा मन्वन्तर का सम्यक्-रूप से परिपाक हुआ है। इसके प्रथम अंश में विस्तार से सृष्टि का वर्णन हुआ है। सृष्टि का कारण वहाँ ब्रह्म (विष्णु) को कहा गया है तथा उसकी शक्ति का भी विवरण दिया गया है। द्वितीय अंश में मुख्य-रूप से भूगोल तथा खगोल का वर्णन है। तृतीय अंश में मन्वन्तर, वेद की शाखाओं का विस्तार, वर्णाश्रम धर्म तथा श्राद्धों का निरूपण किया गया है। चतुर्थ अंश में मुख्य रूप से सूर्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं के दिव्य आख्यान बताये गये हैं, जिनमें इक्ष्वाकु, मान्धाता, सगर तथा ययाति और उसके पाँचों पुत्रों का विस्तार से वर्णन है तथा फिर कलियुग के राजवंशों का निदर्शन है और कलियुग की श्रेष्ठता प्रदर्शित की गई है। पञ्चम अंश में विस्तार से श्रीकृष्ण-चरित्र है। षष्ठम अंश में कलिधर्म-निरूपण तथा प्रलय-वर्णन करते हुए अन्त में भगवान् वासुदेव के माहात्म्य तथा उनके पारमार्थिक स्वरूप प्रसंग में केशिध्वज तथा खाण्डिक्य का महत्त्वपूर्ण आख्यान वर्णित है। कलिधर्म-निरूपण तथा कृष्ण चरित्र आदि आख्यान शाक्त्य पराशर के पश्चातवर्त्ती हैं, इस कारण स्पष्टतया प्रक्षिप्त अंश समझे जाने चाहिए। मैत्रेय आदि टीकाकारों द्वारा ये उत्तरवर्त्ती उपाख्यान स्वयं जोड़ दिये गये हों, यह सम्भव है।

सार-रूप में कहा जाय तो यह पुराण भक्ति, ज्ञान तथा उपासना का विलक्षण ग्रन्थ है। इस पुराण पर संस्कृत में रत्नगर्भ, श्रीधर तथा विष्णुचित्त आदि आचार्यों की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्राचीन टीकाएँ हैं तथा हिन्दी, अंग्रेजी, जर्मन आदि भाषाओं में इसके कई अनुवाद हो चुके हैं।

३. पराशर स्मृति : युगान्तरकारी धर्म-ग्रन्थ

यह गहन शोध का विषय है कि पराशर स्मृति एवं पराशर संहिता के मूल रचनाकार मैत्रावरुणि पौत्र पराशर थे अथवा सत्यवती नंदन कृष्ण द्वैपायन के पिता पराशर। तथापि उपलब्ध प्रमाणों यथा पुलस्त्यजी के 'पुराण संहिता कर्ता' होने का आशीर्वाद देने सम्बन्धी प्रकरण से यह प्रमाणित होता है कि इन स्मृतियों एवं संहिताओं के रचनाकार मैत्रावरुणि-पौत्र पराशर ही हैं, जैसा कि उल्लेख किया गया है। हाँ, यह सम्भव है कि कालान्तर में विद्वानों एवं टीकाकारों ने उसमें समयानुकूल विषय जोड़ दिये हों, जो निश्चय ही प्रक्षिप्त अंश कहे जा सकते हैं। विशेषतः पराशर के काल-खण्ड से पश्चात्वर्त्ती विषय, जिनमें कलियुग-धर्म-निरूपण उदाहरणस्वरूप लिया जा सकता है। यह सामान्य मान्यता है कि ऋषि-मुनि त्रिकाल-दर्शी होते हैं, अतएव उनके द्वारा कलियुग की परिस्थितियों एवं

सामाजिक-व्यवस्था का पूर्वानुमान असंभव नहीं कहा जा सकता। एक पराशर का द्वापर के अन्तिम चरण में भी आविर्भाव दिखाई देता है, जो वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन के पिता हैं, अतः पश्चात्वर्त्ती सामग्री का इन दूसरे पराशर द्वारा समाविष्ट करना भी सहज सम्भव है। इस सम्बन्ध में अभी भी गहन अनुसन्धान एवं अध्ययन की महती आवश्यकता प्रतीत होती है। एक अन्य पराशर कृष्ण द्वैपायन-शिष्य बाष्कल के भी शिष्य बताये जाते हैं।

वर्तमान उपलब्ध पराशर स्मृति में 12 अध्याय हैं। महर्षि पराशर युगद्रष्टा महात्मा थे। उन्होंने सत्ययुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग की धर्म-व्यवस्था को समझकर प्राणियों के लिये सहजसाध्य-रूप धर्म की मर्यादा निर्दिष्ट की और बताया कि कलियुग में लोगों के लिये सत्ययुगादि के धर्मों का अनुष्ठान दुष्कर हो जायेगा, अतः इस कलियुग में लोग अपनी शक्ति के अनुसार जिस धर्माचरण का पालन कर सकें, उस धर्म को ही इस स्मृति में बतलाया गया है।[१]

महर्षि पराशर की अन्तर्दृष्टि में आने वाले युगों का नैतिक एवं आध्यात्मिक धरातल भी ओझल नहीं रहा। परिवर्तन एवं विकास इस सृष्टि के शाश्वत पक्ष हैं, इस सत्य को ध्यान में रखकर ही उन्होंने पराशर स्मृति को उदार बनाया तथा तत्कालीन एवं निकट भविष्य में आने वाली सामाजिक-पारिवारिक मान्यताओं एवं बाध्यताओं को लक्ष्य करके नियमों, उप-नियमों का निरूपण किया। इस कारण इसमें युगानुरूप धर्म पर विशेष बल दिया गया है।

प्रत्येक कल्प में प्रलय होने पर भी ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश-ये तीनों देव विद्यमान रहते हैं और वे ही सदा से श्रुति, स्मृति तथा सदाचार का निर्णय करते आये हैं। वेद का कोई कर्ता नहीं है। कल्प के आदि में ब्रह्मा जी पूर्व के समान वेद का स्मरण कर अपने चारों मुंखों द्वारा प्रकाशित करते हैं और जो-जो मनु, कल्प तथा मन्वन्तर में होते हैं, वे भी उसी प्रकार पूर्व के धर्मों का स्मरण कर धर्म का सम्पादन करते हैं।[१] पराशर स्मृति के निम्न श्लोक का यही आशय है-

न कश्चिद्वेदकर्त्ता च वेदस्मर्त्ता चतुर्मुखः।
तथैव धर्मान्स्मरति मनुः कल्पान्तरान्तरे॥

परा० स्मृति १/२१

शक्ति की वृद्धि और हानि युगों के अनुसार ही होती है। इसी कारण सत्ययुग में मनुष्य का धर्म और प्रकार का रहा, त्रेता में और प्रकार का तथा द्वापर में और प्रकार का। इस समय कलियुग में ऋषियों ने मनुष्यों की शक्ति एवं परिस्थिति के अनुसार ही भिन्न धर्मों का वर्णन किया है।

---

१. कल्याण- धर्मशास्त्राङ्क, ७० (१९९६) गीताप्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ २४७.

कृतयुग में लोग विशेष शक्ति-सम्पन्न रहते हैं, इसलिये उस समय तपस्या रूप धर्म का प्राधान्य रहता है, त्रेता में ज्ञानधर्म की प्रमुखता रहती है और द्वापर में यज्ञ-यागादि साधनों का विशेष अनुष्ठान होता है, किन्तु कलियुग में शारीरिक शक्ति न्यून रहने के कारण दीर्घ तपस्या, ज्ञान सम्पादन एवं बड़े-बड़े यज्ञ-यागादि की साधना समयहीनता और विधिहीनता के कारण सहज-साध्य नहीं प्रतीत होती। अतः कलियुग में दान-रूप धर्म की ही विशेष महिमा समझी जानी चाहिये, ऐसा पराशर स्मृति में कहा गया है-

तपः परं कृतयुगे त्रेतायां ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमित्यूचुर्दानमेकं कलौ युगे॥

परा० स्मृति १/२३[1]

पराशर स्मृति में तो सभी युगों में धर्म एवं अधर्म की मर्यादाओं में अन्तर करने का युगान्तरकारी कार्य किया गया है, निम्न श्लोक से इस तथ्य की पुष्टि होती है-

कृते सम्भाषणादेव त्रेतायां स्पर्शनेन च।
द्वापरे त्व चान्नमादाय कलौ पतति कर्मणा॥

परा.स्मृ. १/२६

अर्थात् सत्युग में पापी के साथ बोलने से, त्रेता में पापी व्यक्ति का स्पर्श करने से, द्वापर में पापी मनुष्य का अन्न ग्रहण करने से तथा कलियुग में तो पाप कर्म करने से ही पतित होता है।

इस प्रकार महर्षि पराशर ने अपनी स्मृति को युगानुरूप बनाया है और सभी मानवों से यह अपेक्षा की है कि वे अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार धर्म का सेवन करें, अधर्म का नहीं। सदाचार का पालन करें, कदाचार का नहीं। यहाँ पराशर-स्मृति के कुछ उद्धरण संक्षेप में दिये जा रहे हैं।

चारों युगों में दान का स्वरूप और निष्फल दान- महर्षि पराशरजी कहते हैं कि सत्युग के लोगों में ब्राह्मणों के प्रति बहुत अधिक श्रद्धा थी, अतः दान देने वाले दान-सामग्री लेकर ब्राह्मण के घर जाकर बड़ी ही श्रद्धा-भक्ति से उसकी पूजा कर उसे दान देते थे, त्रेतायुग में ब्राह्मण को आदरपूर्वक घर बुलाकर और द्वापर में याचना करने पर दान देते हैं, किन्तु कलियुग में तो सेवा कराकर ही दान दिया जायेगा-

---

१. कल्याण: धर्मशास्त्राङ्क, गीताप्रेस, गोरखपुर ७० (१९९६) पृ. २४७ : पराशर स्मृतिः चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी.

अभिगम्य कृते दानं त्रेतास्वाहूय दीयते।
द्वापरे याचमानाय सेवया दीयते कलौ॥

परा० स्मृति १/२८

इसमें प्रथम प्रकार का दान उत्तम, द्वितीय प्रकार का दान मध्यम, तृतीय प्रकार का दान अधम है, किंतु जो सेवा कराकर दान दिया जाता है, वह सर्वथा निष्फल है।

कलियुग में प्राण अन्नगत – सत्ययुग में प्राण अस्थिगत, त्रेता में मांसगत, द्वापर में रुधिर में, किन्तु कलियुग में अन्नादि में ही प्राण स्थित रहते हैं। अन्न न मिलने पर प्राण नष्ट हो जाते हैं–

कृते चास्थिगताः प्राणास्त्रेतायां मांससंस्थिताः।
द्वापरे रुधिरं यावत् कलावन्नादिषु स्थिताः॥

परा० स्मृति १/३०

आचार-विचार का पालन ही मुख्य धर्म– महर्षि पराशरजी 'धर्म के मूल में आचार-विचार की ही मुख्यता है'– इस बात का प्रतिपादन करते हुए बताते हैं कि आचार ही चारों वर्णों के धर्मों का पालन करने वाला है, क्योंकि बिना सदाचार और शौचाचार का पालन किये केवल उपदेश या कथन मात्र से धर्म का पालन नहीं हो सकता। जो मनुष्य आचार से भ्रष्ट हैं, उनसे धर्म विमुख हो जाता है–

चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः।
आचारभ्रष्टदेहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः॥

परा० स्मृति १/३७

नवजात शिशुओं के अशौच की अवस्था – जिन बालकों के दाँत न निकले हों और जो गर्भ में से उत्पन्न होते ही मर जायँ, उनका अग्नि संस्कार, आशौच तथा जलदान नहीं होता–

अजातदन्ता ये बाला ये च गर्भाद्विनिःसृताः।
न तेषामग्निसंस्कारो नाशौचं नोदकक्रियाः॥

परा० स्मृति ३/१६

गर्भपात में अशौच की स्थिति – यदि गर्भस्राव या गर्भपात हो जाय तो जितने महीने का गर्भ गिरता है, उतने ही दिनों का सूतक होगा। चार महीने का गर्भ गिरने पर उसे गर्भस्राव कहते हैं और पाँच या छः महीने में गर्भ गिरने को गर्भपात कहते हैं। इसके अनन्तर दसवें महीने तक प्रसव काल कहलाता है, प्रसव

क़ाल में दस दिन तक सूतक होता है-

यावन्मासं स्थितो गर्भो दिनं तावत् स सूतकः ॥१७॥ उत्तरा०
आचतुर्थाद्भवेत् स्रावः पातः पंचमषष्ठयोः।
अत ऊर्ध्वं प्रसूतिः स्याद्दशाहं सूतकं भवेत्॥१८॥
परा० स्मृति ३/१७-१८

दाँत जन्मने से यज्ञोपवीत तक की अशौच-अवस्था - बालक यदि दाँतों सहित जन्म ले या पीछे दाँत जमें अथवा चूडाकर्म हो जाने पर मरे तो उसका अग्निसंस्कार करना चाहिये और तीन दिन तक अशौच मानना चाहिये, बिना दाँतों के जमे ही बालक मर जाय तो स्नान करने मात्र से सद्यःशुद्धि हो जाती है, किन्तु चूडाकरण से प्रथम ही बालक मर जाय तो एक दिन-रात में शुद्धि होती है। यज्ञोपवीत बिना हुए जिसकी मृत्यु हो जाय तो तीन दिन का अशौच रहता है और यज्ञोपवीत हो जाने पर दस दिन में शुद्धि होती है-

दन्तजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिते।
अग्निसंस्करणं तेषां त्रिरात्रं सूतकं भवेत्॥२१॥
आदन्तजननात् सद्य आचूडा नैशिकी स्मृता।
त्रिरात्रमाव्रतात् तेषां दशरात्रमतः परम्॥ २२॥
पराशर स्मृति ३/२१-२२

गर्भपात महान पाप- इस विषय में महर्षि पराशर का मत है कि जो पाप ब्रह्म हत्या से लगता है, उससे दुगुना पाप गर्भपात करने से लगता है, इस गर्भपात-रूपी महापाप का कोई प्रायश्चित भी नहीं है, इसमें तो उस स्त्री का त्याग कर देने का ही विधान है -

यत्पापं ब्रह्महत्यायां द्विगुणं गर्भपातने।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति तस्यास्त्यागो विधीयते॥
परा० स्मृति ४/२०

महर्षि पराशर और उनकी गो-भक्ति- महर्षि पराशरजी की समस्त प्राणियों पर अपार दया एवं करुणा रही है। उन्होंने अपनी स्मृति के छठे अध्याय में विस्तार से दूसरे प्राणियों का वध किसी भी स्थिति में न करने का सद्-परामर्श दिया है और बताया है कि किसी भी पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, कीट-पतंग, मनुष्य स्त्री- पुरुष, बालक-वृद्ध आदि की हिंसा करने से महान् पाप होता है और फिर विस्तार से उनके प्रायश्चित भी बतलाये हैं। उन्होंने पापों के प्रायश्चित में गोदान,

गोव्रत, उपवास, पंचगव्यसेवन, गो-सेवा तथा ब्राह्मण पूजन और गायत्री-जप को मुख्य उपाय बताया है। गोमाता को तो उन्होंने सर्वथा अवध्य होने तथा उसकी सेवा करने के लिये कहा है, उनके अनुसार गौ को मारने तथा किसी भी प्रकार उसे पीड़ा पहुँचाने से महान् पाप लगता है। उन्होंने ९वें अध्याय में गो-वध इत्यादि के पापों के प्रायश्चित बतलाये हैं और कृच्छ्र, प्राजापत्य, सांतपन तथा गोव्रत करने का परामर्श दिया है तथा बताया है कि जो मनुष्य गोवध करके उस पाप को छिपाना चाहता है, वह निश्चय ही कालसूत्र नामक घोर नरक में जाता है और वहाँ बहुत काल तक नारकीय यातना सहन करने के बाद मनुष्य योनि में जन्म लेकर अनेक प्रकार की नपुसंकता कोढ़ आदि व्याधियों से सात जन्मों तक ग्रस्त व दुःखी रहता है-

इह यो गोवधं कृत्वा प्रच्छादयितुमिच्छति।
स याति नरकं घोरं कालसूत्रमसंशयम्॥६०॥
विमुक्तो नरकात् तस्मान्मर्त्यलोके प्रजायते।
क्लीवो दुःखी च कुष्ठी च सप्त जन्मनि वै नरः॥ ६१॥

पराशर स्मृति ९/६०-६१

इसलिये अपना किया पाप किसी प्रकार छिपाना नहीं चाहिये, उसे धर्म परिषद् में अवश्य बता देना चाहिये और ऐसे घोर कर्मों से सदा दूर रहते हुए निरन्तर स्वधर्म रूप पुण्यानुष्ठान ही करना चाहिये। साथ ही यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि स्त्री, बालक, सेवक, रोगी तथा दुःखी व्यक्ति पर अधिक कोप कदापि न होने पाये -

तस्मात् प्रकाशयेत् पापं स्वधर्मं सततं चरेत्।
स्त्रीबालभृत्यगोविप्रेष्वतिकोपं विवर्जयेत्॥

परा० स्मृति ९/६२

गोचर्म-परिमाप वाली भूमि के दान से पाप-शुद्धि - जो मनुष्य गोचर्म-भूमि के बराबर भूमि सत्पात्र को दान देता है, वह मन, वाणी, शरीर द्वारा किये हुए सभी पापों और ब्रह्महत्या आदि महापापों से छुटकारा पाकर शुद्ध हो जाता है। जिस स्थान पर सौ गौएँ और एक बैल-से दस गुने अर्थात् एक हजार गौएँ और दस बैल बिना बाँधे टिकें, वह क्षेत्र 'गोचर्म' कहलाता है-

गवां शतं सैकवृषं यत्र तिष्ठत्ययन्त्रितम्।
तत्क्षेत्रं दशगुणितं गोचर्म परिकीर्तितम्॥४३॥

ब्रह्महत्यादिभिर्मर्त्यो मनोमेवाक्कायकर्मजैः।
एतद्गोचर्मदानेन मुच्यते सर्वकिल्विषैः॥४४॥

परा० स्मृति १२/४३-४४

संसर्ग जनित पापों की शुद्धि का उपाय - पापी व्यक्ति के साथ संसर्ग करने वाले पर भी पाप आरोपित हो जाते हैं। अतः पापी से तथा उसके पाप कर्म से सर्वथा दूर रहना चाहिए।

महर्षि पराशरजी बताते हैं कि पापी के साथ एक आसन पर बैठने से, उसके साथ शयन करने से, उसका साथ करने तथा उसके साथ गमन करने से, बोलने से अथवा उसके साथ भोजन करने से पाप लिप्त हो जाते हैं। इस संसर्ग-जनित पाप की निवृत्ति के लिये गोव्रत का पालन करना चाहिए, गौओं की सेवा करनी चाहिये, उनका अनुगमन करना चाहिये, जैसे गौ प्रसन्न रहे, वैसा ही प्रयत्न करना चाहिये, इससे सभी प्रकार के पाप नष्ट हो जाते हैं-

गवां चैवानुगमनं सर्वपापप्रणाशनम्॥

पराशर स्मृति १२/७२

४. वृहत् पराशर संहिता [१]

प्रखर प्रज्ञा के धनी भारतीय महर्षियों ने तत्वान्वेषण के साथ-साथ जागतिक जीवन में व्यक्ति, परिवार, समाज तथा देश के प्रति कर्त्तव्य-कर्मों को विहित करते हुए श्रेयस् मार्ग का निर्देशन किया है। उनके ये निर्देश धर्म के रूप में विविध स्मृतियों में संकलित हुए हैं। इन धर्मों का पालन ही मनुष्य को सृष्टि के इतर प्राणियों से श्रेष्ठ प्रमाणित सिद्ध करता है। खाना-पीना, विहार आदि प्राकृतिक क्रियायें सभी प्राणियों में समान हैं, परन्तु मनुष्य की यह विशेषता है कि वह सांसारिक और भौतिक कर्मों का निर्वाह करता हुआ उन सब को आत्म-साधन से योजित कर देता है, इसीलिए मानव को प्राणियों में श्रेष्ठतम कहा गया है-

'न हि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्'

महर्षि पराशर प्राचीनतम स्मृतिकार माने जाते हैं। याज्ञवल्क्य ने भी उनका प्राचीन धर्मवक्ता के रूप में स्मरण किया है। तैत्तिरीय और वृहदारण्यक में भी पाराशर्य नाम आया है। गरुड़ पुराण में भी पराशर स्मृत्ति के अनेक श्लोक उद्धृत हैं। पराशर-स्मृति के दो संस्करण मिलते हैं (१) पराशर स्मृति और बृहत्पराशर संहिता। दोनों के विषय अनुरूप होते हुए भी परिमाण में बहुत अन्तर है। पराशर-स्मृति में केवल ५९२ श्लोक हैं, जबकि बृहत्पराशर स्मृति में ३३०० श्लोक हैं। जैसा कि ग्रन्थ के अन्त में सूचित किया गया है, इस धर्म ग्रन्थ को

१. गोपाल नारायण बहुरा, अ.भा.पारीक नवीन आश्रम्स ट्रस्ट, स्मारिका, पुष्कर १९९२, पृ.५.

सुव्रत नामक ऋषि ने महर्षि पराशर द्वारा बताये अनुसार वर्णित बताया है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि वृहत् पराशर संहिता के रचनाकार सुव्रत हैं, जिन्होंने इस ग्रन्थ की रचना में पराशर स्मृति का आश्रय लिया है-

त्रिभिः श्लोकसहस्त्रैस्तु त्रिभिवृत्त शतैरपि।
पराशरोदितं धर्मशास्त्रं प्रोवाच सुव्रतः॥

इससे यह स्पष्ट है कि मूल स्मृति छोटी रही होगी, कालान्तर में सुव्रत एवं माधव आदि टीकाकारों ने अपने समय की समस्याओं तथा व्यवहार-सम्बन्धी विषय जोड़ कर इसका कलेवर बढ़ा दिया, ऐसा प्रतीत होता है।* इसमें बारह अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में कुल ६४ श्लोक हैं।

चारों आश्रम - प्रथम अध्याय में प्रारम्भिक कथा तथा चारों आश्रमों के हितार्थ वर्णन किया गया है।

षट् कर्म - संहिता में दूसरे अध्याय में आवश्यक षट्कर्म बताये गये हैं और स्नानविधि का विशेष वर्णन किया गया है। छः आवश्यक कर्म ये हैं-

सन्ध्या स्नानं तपश्चैव देवतानां च पूजनम्।
वैश्वदेवं तथाऽऽतिथ्यं षट् कर्माणि दिने दिने॥

फिर इन कर्मों की व्याख्या की गई है। अध्याय की समाप्ति इस प्रकार हुई है -

गीर्वाणवृन्दद्विजसत्तमस्तुतः
प्राप्तो मया यत्तु वसिष्ठपौत्रतः।
पापप्रणाशं वितनोति यः श्रुतः
प्रोदीरितः स्नानविधिः सलेशतः॥

अर्थात् जिस स्नानविधि का देवताओं और श्रेष्ठ ब्राह्मणों द्वारा प्रशंसित वसिष्ठ पौत्र से मैंने श्रवण किया और जो पापों का नाश करने वाली है, उसी का मैंने यहाँ संक्षेप में वर्णन किया है।

प्रणव एवं जप - तृतीय अध्याय में जप का माहात्म्य और प्रणव की सर्वव्यापकता वर्णित है। कहा गया है कि जब कुछ भी नहीं था, तब एक ॐकार अक्षर ही था, उसी ने समस्त विश्व को अपने में विन्यस्त कर रखा था परन्तु उसको एकाकी होने के कारण मोद की प्राप्ति नहीं हो रही थी, अतः उसने गायत्री का चिन्तन किया। तब गायत्री प्रत्यक्ष हुई और फिर संसार की रचना हुई। प्रणव का महत्व यों बताया गया है-

* वृहत् पराशर संहिता - गोपाल नारायण बहुरा, अ.भा. पारीक नवीन आश्रम्स ट्रस्ट स्मारिका, १९९२, पुष्कर, पृ. ५.

ध्येयं न जप्यं न च पूजनीयं,
तस्मान्न देवाद्वरणीयमन्यद्।
एकाक्षरेणापि जगन्ति येन,
व्याप्तानि कोऽन्यः परमोऽस्ति तस्मात्॥

अर्थात् जो एक ही अक्षर समस्त जगतों (भुवनों) में व्याप्त है, उससे बढ़कर और कौन हो सकता है? उसके अतिरिक्त न कुछ ध्यान करने योग्य है न जपने योग्य है, उससे श्रेष्ठ कोई भी देवता वरण करने योग्य नहीं है।

गायत्री की महिमा – चतुर्थ अध्याय में गायत्री को जानने की आवश्यकता, अक्षर विन्यास, ऋषि और देवतादि का विवरण देते हुये कहा गया है कि अंगों सहित वेदों, इतिहास और पुराण पढ़कर भी यदि कोई गायत्री के ज्ञान से हीन है तो उसका अध्ययन अर्थहीन समझना चाहिए। आगे गायत्री के प्रत्येक अक्षर का महत्व और रहस्य भी समझाया गया है,जो गहन अध्ययन का विषय है। आधुनिक विज्ञान से भी इसका समन्वय सम्भव है। इसके अनन्तर इसी अध्याय में देवार्चन, वैश्वदेव, हवन और आतिथ्य विधि का वर्णन है।

चारों वर्णों के विहित कर्त्तव्य – पंचम अध्याय में चारों वर्णों के लिए गार्हस्थ्य में सम्पादनीय-कर्मों का विवरण दिया गया है। अन्नोत्पादन को बढ़ावा देने तथा श्रम के प्रति विद्वज्जनों में निष्ठा उत्पन्न करने के उद्देश्य से यहाँ यह विशेष बात कही गई है कि अपने षट् कर्मों का निर्वाह करते हुए ब्राह्मण को भी कृषि कर्म को अपनाना चाहिये–

षट्कर्मसहितो विप्रःकृषिप्रवृत्तिं समाश्रयेत्।

यदि किसी की बटाई पर भूमि जोती जाय तो खेत के स्वामी को उपज का सातवाँ, पाँचवाँ अथवा बारहवाँ भाग देने का विधान है। कृषि कर्म की प्रशंसा में कहा गया है इससे सभी प्राणियों का उपकार होता है, सब यज्ञों की सिद्धि होती है और राज के कोष की वृद्धि होती है। जिसके क्षेत्र का जितना अन्न प्राणी खाते हैं, उतना ही वह कृषि करने वाला पापों से मुक्त होता है। षट्कर्मों और विधि सहित कृषि कर्म करने वाले ब्राह्मण देवताओं से वर प्राप्त करके स्वर्ग लोक के अधिकारी होते हैं।

विवाह, लोक व्यवहार, स्त्री-गरिमा एवं आचार-विचार – छठे अध्याय में आठ प्रकार के विवाहों, वर और कन्या के चयन सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है। इसी अध्याय में स्त्रियों के महत्व, आवश्यक संस्कारों और व्यवहारोपयोगी नित्याचारों सम्बन्धी शिक्षायें भी पठनीय, माननीय और आचरणीय हैं।

जिस घर में वस्त्र भूषणादि द्वारा स्त्रियों का पूजन होता है, वहाँ देवता,

पितर और मनुष्य सदा ही आनन्दित रहते हैं-

स्त्रियश्च यत्र पूज्यन्ते सर्वदा भूषणादिभिः।
देवा पितृ मनुष्याश्च मोदन्ते तत्र वेश्मनि॥

सज्जनों के घर में पति, श्वसुर, देवर, भाई, पिता, माता और बन्धु-बान्धवों द्वारा स्त्रियों का कभी भी अपमान नहीं किया जाना चाहिये-

नाऽपमान्याः स्त्रियः सदिक् पति श्वशुरदेवरैः।
भ्राता पित्रा च मात्रा च तथा बन्धुभिरेव च॥

सदाचारी मनुष्यों को दीर्घायु, धन-पुत्र-पौत्रादि सुख और शाश्वत धर्म तथा स्वर्ग की प्राप्ति होती है, इस लोक में भी उनको विद्वज्जनों में सम्मान मिलता है -

आचारवन्तो मनुजा लभन्ते,
आयुश्च वित्तंच सुतांश्च सौख्यम्।
धर्मं तथा शाश्वतमीलोकम्,
अत्रापि विद्वज्जनपूज्यतां च॥

मनुष्य को सदाचार परायण रहकर धर्म और अर्थ का अर्जन करना चाहिये। किसी को भी ताड़ना (पीटना) नहीं चाहिये। पुत्र और शिष्यों को (आवश्यकतानुसार) ताड़ना देते रहना चाहिये। नाभि से नीचे ही ताड़न करना चाहिए अन्यत्र नहीं-

नित्यंवर्तेत चाजस्त्रं धर्मार्थौ च सदार्जयेत्।
न कञ्चित् ताडयेद्धीमान्सुतं शिष्यं च ताडयेत्॥
ताडयेन्नाभितोऽधस्तान्न तानन्यत्र ताडयेत्।

जो सदाचार युक्त विद्वान जितेन्द्रिय रहकर धर्म का आचरण करता है, वह परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है और इस लोक में भी श्रेष्ठ माना जाता है -

आचारेण सदा विद्वान्वर्तेत योजितेन्द्रियः।
स ब्रह्मपरमाप्नोति वरेण्योऽमुत्र चेह च ॥

श्राद्ध विधि एवं महत्व - सातवें अध्याय में श्राद्ध का वर्णन है। भारतीय आर्य-धर्मशास्त्रों में श्राद्ध को एक प्रमुख विषय के रूप में वर्णित किया गया है। वेदशास्त्र में श्राद्ध की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि आप (जल) का सोम को उत्पन्न करने वाला रूप ब्रह्ममय है, वही श्रद्धा कहलाता है। वह श्रत् में रहता है। सत्य भाव ही श्रत् है। किसी पदार्थ की स्थिति बनी रहे और कोई अन्य पदार्थ

उस पर टिका रहे, तब वह आधारभूत द्रव्य सत्य कहा जाता है। उसके ऊपर पदार्थ का उच्छ्रय (उठाव) हो जाता है इसलिए उसको श्रत् कहते हैं जिस रस से बद्ध करके श्रत् को अन्यत्र भेजा जाता है, उस रस को श्रद्धा और श्रत् को श्राद्ध कहा गया है।

महर्षि पराशर ने भी श्राद्ध के महत्व को स्वीकार करते हुए, श्राद्ध के लिए उपयुक्त-अनुपयुक्त समय और योग्य पात्रों का विवरण दिया है। उनके अनुसार कृष्णपक्ष में जब चन्द्रमा के दर्शन न होते हों, व्यतिपात के दिन, अयन परिवर्तन के समय जब योग्य पात्र की उपलब्धि हो और जब मन में उत्साह हो तब श्राद्ध सम्पन्न करना चाहिए। नये अन्न, नये जल और नये गन्ने की प्राप्ति के समय पितर तृप्त होने की इच्छा करते हैं।

ऐसे व्यक्ति का श्राद्ध में वरण नहीं करना चाहिए, जो एक आँख से हीन हो, ऐसी विधवा का पुत्र जिसने पुनः विवाह कर लिया हो, रोगी हो, चुगलखोर हो, कृतघ्न हो, ईर्ष्यालु हो, क्रूर हो, मित्र को छलने वाला हो, भद्दे नाखूनों वाला हो, पीड़ाग्रस्त हो, कोढ़ी हो, काले ऊँचे-नीचे दाँतों वाला हो, हीनांग हो, रिक्तांग हो, दूसरों की निन्दा करने वाला हो, नपुंसक हो, कठोर बोलने वाला हो, अध्यापन के लिए धन लेता हो, कन्याओं को दूषित करने वाला हो, सोम बेचता हो, वणिग्वृत्ति करता हो, पत्नी का दास हो, बहुत से लोगों के साथ गोल में बैठकर भोजन करता हो, वेश्या का पति हो, जिसकी वृत्ति का पता न हो, दुष्ट और निन्दित कर्म करने वाला हो और दूसरों को ठगता हो, ऐसे लोग पितृ-श्राद्ध में वर्जित हैं।

हमारे ऋषियों द्वारा प्रणीत-स्मृतिशास्त्र वास्तव में आचार शास्त्र हैं। इनमें समाज विरोधी आचरण को कहीं भी सहन नहीं किया गया है। उपर्युक्त वर्णन से ज्ञात होगा कि दूषित कर्म करने वालों को श्राद्ध जैसे पारिवारिक कार्यों में भी बहिष्कृत माना गया है। यही नहीं, आचारहीन विद्वान ब्राह्मण तक को भी अग्राह्य कहा गया है-

निराचाराश्च ये विप्राः पितृमातृविवर्जिताः।
विद्वांसोऽपि हि नाऽभ्यर्च्याः पितृश्राद्धेषु सत्तमैः॥

वेद पढ़ लेने और जप-तप करने से ही ब्राह्मण की सत्पात्रता नहीं आँकी जा सकती, उसके लिए तो सदाचारी होना परमावश्यक है, पितृ-श्राद्ध के लिए ये ही अभ्यर्चनीय ब्राह्मण के लक्षण बताये गये हैं-

न वेदैः केवलैर्वापि तपसा केवलेन वा।
सद्वृत्तैरेव सा प्रोक्ता पात्रता ब्राह्मणस्य च॥

युग के अनुसार जो विद्या और आचरण से सम्पन्न हो, वह नित्य षट् कर्म

करने वाला ब्राह्मण पूज्य होता है-

युगानुरूपतो यस्तु विद्याचारादिसंयुतः।
स पूज्योऽनभिद्भिशस्तश्च षटकर्मनिरतो द्विजः॥

श्राद्ध की अनिवार्यता बताते हुए महर्षि ने नितान्त निरन्न और निर्धन व्यक्ति के लिये भी विधान किया है कि वह निर्जन वन में जाकर और अपने हाथ ऊँचे करके पितरों को सम्बोधन करता हुआ इस प्रकार उच्चारण कर दे, जिससे पितर और देवता उसको श्राद्ध के ऋण से मुक्त कर देते हैं-

श्राद्धर्णमेतद्‌भवतां प्रदत्तं, मह्यं दयध्वं पितृदेवताद्याः॥

फिर महर्षि ने श्राद्ध के अन्यान्य प्रकार, पात्र, विधियों तथा सामग्री का वर्णन किया है। इनके अध्ययन से कौटुम्बिक व्यवस्था, देश में उत्पन्न होने वाले अन्नों, रसों आदि का भी ज्ञान हो जाता है। अध्याय की समाप्ति करते हुए कहा गया है कि श्राद्ध करने वाला पितरों को तृप्त करता हुआ सभी उत्तम वरों को प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है।

शुद्धि विचार - अष्टम् अध्याय में शुद्धि प्रकरण है। जन्म, मृत्यु, अथवा, प्राणि-वधादि के अन्य कारणों से मानसिक, दैहिक तथा आत्मिक ग्लानि से परिशुद्धि प्राप्त करने की विधि और व्यवस्था का इसमें वर्णन किया गया है। जन्म के समय सूतक और अशौच के समय शाव (सावड़) लगता है। इसमें भिन्न-भिन्न अवस्थाओं, स्थितियों, पात्रों के अनुसार समयावधि निश्चित है। महर्षि ने कहा है कि विष्णु के ध्यान-परायण, ब्रह्मचारी, गृहस्थ अग्निहोत्री, व्रताचारी, वेदार्थ तत्वज्ञ, नित्य स्नान करने वाले तथा कुसंग से दूर रहने वालों के सूतक, अशौच और शाव नहीं लगता, बुरे लोगों के संसर्ग से बचना चाहिए। संसर्ग ही दोष का कारण होता है-

'वदन्ति मुनयःप्राच्याः संसर्गो दोष-कारणम्।'

दानी, व्रती, कवि (विद्वान) और यज्ञकर्ता तो धर्माचार्यों के मत से सदा ही शुद्ध रहते हैं। दोषरहित व्यक्तियों की कलियुग में सद्यः शुद्धि हो जाती है-

'सद्यः शौचमदोषाणामूचुर्धर्मविदः कलौ।'

अनन्तर प्राणि-वधादि अन्य पापों से प्रायश्चित द्वारा निष्कृति प्राप्त करने के विधि-विधानों का वर्णन है। हेमाद्रि (शास्त्रकार) ने कहा है कि 'प्रायः' तप को कहते हैं और 'चित्त' का अर्थ है निश्चय। तप और निश्चय के संयोग से प्रायश्चित होता है।

इस प्रकरण में पशु-पक्षियों के रोगों की चिकित्सा, व्रण-चिकित्सा, आग में जलकर तथा सर्पदंश से मरने वालों की उत्तर-क्रिया अन्नों और औषधियों

आदि विविध विषयों की भी जानकारी मिलती हैजो सामाजिक व सांस्कृतिक अध्ययन के लिए परमोपयोगी हैं।

व्रत विधान – पातकों (अधःपतन करने वाले कर्मों) का क्षय करने के लिए व्रतों का विधान नवम् अध्याय में किया गया है। इसमें चान्द्रायण व्रत, उपवास, कृच्छ्र, अतिकृच्छ्रादि व्रतों का वर्णन है और उनकी विधियाँ भी बतायी गयी हैं। जो व्यक्ति पापों से भयभीत हो गया हो, उसको प्रायश्चित के रूप में व्रत, दान और जप करना चाहिए–

यस्यास्ति भीतिःपुरुषस्य पापादिच्छेच्च कर्तुं क्षयमेनसां च।
प्रीत्येव तं च व्रतदानजप्यं प्रोद्दिशयमेतन्न तदन्यतस्तु॥

दान-धर्म एवं दानों के प्रकार – सदा से ही बड़े-बड़े लोग कहते आये हैं और हम लोग देखते-सुनते आये हैं कि लक्ष्मी चंचला है। जो लोग इसको प्राप्त करने हेतु रात-दिन मरते-खपते रहते हैं, उनके पास यह नहीं आती है और जो पड़े-पड़े खाते हैं, उनकी सेवा में स्वयं उपस्थित रहती है, दोनों ही प्रकार के लोगों को यह प्राप्त हो भी जाती है और नहीं भी होती, अतः इस पर भरोसा नहीं करना चाहिए। इसीलिए प्रज्ञावतार महर्षियों ने दान को धर्म का प्रमुख अंग मानते हुए दान के पात्रों, वस्तुओं और अवसरों का विधान किया है। महर्षि पराशरकृत वृहत् पराशर संहिता के दशम् अध्याय में इसका विशद् वर्णन किया गया है। दान की महिमा संहिता के इस श्लोक में दृष्टव्य है–

दानेन प्राप्यते स्वर्गं दानेन सुखमश्नुते।
इहामुत्र च दानेन पूज्यो भवति मानवः॥

अर्थात् दान के द्वारा मनुष्य को स्वर्ग, सुख और दोनों लोकों (इह लोक और पर लोक) में यश प्राप्त होता है।

दानों के नाम इस प्रकार हैं– गोदान, हिरण्य दान, वृष दान, द्विमुखी गौ (गर्भिणी गौ) दान, तिल (निर्मित) धेनु दान, घृतपूरधेनु दान (गाय के बराबर घृत, सुवर्ण धेनु दान (रजत्वत्स सहित), कृष्णाजिन (कालेमृग का चर्म दान, यह यज्ञ का प्रतीक माना जाता है) पृथ्वीदान, अश्वों सहित रथदान, गजदान, गजरथदान, कन्यादान, पुत्रदान, सस्य (खेती की) भूमि दान, (यह भूमि दस हाथ के दस बाँस लम्बी और उतनी ही चौड़ी होनी चाहिए, जो 'गोचर्म' कहलाती है, जितनी भूमि में एक हजार बछड़े बैठ सकें उसको 'निर्वतन' भूमि कहते हैं, ऐसी भूमि ताम्रपट्ट लेख सहित दी जाती है), उष्ट्र दान, खर दान, मेष दान, हथिनी दान, महिषी (भैंस) दान, अविका (घोड़ी) दान, रत्न दान, वस्त्र दान, विद्या दान (वेदों और शास्त्रों का अध्ययन कराना विद्या दान कहलाता है, विद्यार्थियों को वस्त्र, भोजन,

उपानह आदि भी देने का विधान है), यह विद्या दान अविनाशी दान कहा गया है, प्राण दान (किसी का उपचार करना या कराना), दया दान, (रोगियों, भूखों क्लीवों, अन्धों, बधिरों और विकलांगों को मधुर वाणी में दिया हुआ आश्वासन तथा द्रव्य दान), प्रत्येक मास के लिए विहितदान, संक्रान्ति के समय देय दान इत्यादि।

इस प्रकार विविध दानों के नाम गिनाकर कहा गया है कि सब दानों से अन्नदान श्रेष्ठ है। विविध वस्तुओं का दान तुला दान के माध्यम से भी करने की रीति रही है, जिसको अन्य देशवासियों ने भी अपनाया। कई सम्राटों द्वारा किये गये तुला दानों का विवरण उनके इतिवृत्तों में मिलता है। पनघट दान और प्याऊ लगाने का महत्व भी सर्वत्र स्वीकार किया गया है। दान की जैसी विशद् व्याख्या भारत में हुई है, वैसी अन्यत्र दुर्लभ है। मान्य धार्मिक आधार देकर ऋषियों ने इस विधि में पावनता का संचार कर दिया है। मुख्यतः उद्देश्य यही रहा है कि समाज के किसी वर्ग को योग क्षेम वहन करने में कठिनाई न हो।

कुछ आधुनिक बुद्धिवादी समाज शास्त्री आलोचकों का कथन है कि ये सब ग्रन्थ ब्राह्मणों के रचे हुए हैं, इसलिए सब प्रकार के दान ब्राह्मणों को देने का विधान किया गया है। यह सही है, परन्तु दृष्टि को कुछ विकसित करके यह जान लेना चाहिए कि आर्य युग में जो गुणकर्म विभागाश्रित वर्ण व्यवस्था की गई थी (चातुवर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्म विभागशः), उसमें ब्राह्मणेतर वर्गों के लिए तो आजीविका के साधन व्याख्यायित कर दिये गये थे और ब्राह्मण को निरपेक्ष रहकर षडङ्ग वेद का अध्ययन- अध्यापन करने का निर्देश देकर छुट्टी कर दी गई थी-

निष्कारणं धर्मो ब्राह्मणेन षडङ्गोवेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च।

फिर शास्त्रोक्त दानानुष्ठान के अतिरिक्त दान अन्य लोगों को देने का भी विधान है। यही नहीं, ब्राह्मण के पास भी आवश्यकता से अधिक धन एकत्र हो कर उसे पथभ्रष्ट न कर दे, इसलिए उसको प्रतिबद्ध किया गया कि जो कुछ मिले (भले ही एक ग्रास ही हो) उसमें से आधा दूसरों को दे दें- **'ग्रासार्धमपि ग्रासं अभ्यर्थिभ्यः किं न दीयते।'** आवश्यकता होने पर वह (ब्राह्मण) केवल साधु (समृद्ध) जनों से ही दान प्रतिग्रहण करे-

'ब्राह्मणः प्रतिगृह्णीयाद् वृत्यर्थ साधुतः सदा।'

इस प्रकार सब तरह के दानों का वर्णन किया गया, जो इष्ट और आपूर्त कर्म करने वाले गृहस्थों को शुभ और शान्ति देने वाला है -

'उक्तानि सर्वदानानि इष्टापूर्तञ्च सत्तमाः॥'

तत्कालीन परिस्थितियों में क्या आर्थिक विषमताओं को दूर करने की यह

आदर्श व्यवस्था नहीं थी?

शान्ति कामना – वृहत्संहिता के ग्यारहवें अध्याय में शान्ति की विधियाँ बतायी गई हैं। जब देवता और ग्रह शान्त और अनुकूल रहते हैं, तब मनुष्य द्वारा किये गये सभी कर्म सिद्ध और फलप्रद होते हैं। इस अध्याय के मुख्य विषय इस प्रकार हैं – विनायक शान्ति, ग्रह शान्ति, अघ्नुत शान्ति (अकस्मात् आयी हुई आपत्तियों के लिये सावित्र जप, होम और विष्णु मन्त्रादि) रुद्रपूजा विधि, रुद्रशान्ति, तडागादि प्रतिष्ठा लक्षहोमविधि और कोटि होम विधि।

इन कर्मों के करने से राष्ट्र में सुवृष्टि, विजय, धनधान्य, आरोग्यता और पुण्य की वृद्धि होती है –

राष्ट्रे सुवृष्टिर्विजयः सुभक्ष्यमारोग्यता स्यात्सुकृतस्य वृद्धि :।

वृहत्पराशर संहिता का अन्तिम और बारहवाँ अध्याय वस्तुतः उपसंहार के रूप में है। इसके प्रमुख विषय राजधर्म प्रकरण, वानप्रस्थ, भिक्षु धर्म और प्रणव ध्यान विधि तथा काल–ज्ञान हैं।

राजधर्म – राजधर्म में कहा गया है कि राजा समाज के शासक के रूप में आवश्यक है। वह इन्द्र, अग्नि, यम, कुबेर, वरुण, मरुत, अश्विनी कुमारों, चन्द्रमा, सूर्य और ब्रह्मादि देवताओं के तेज से समन्वित होता है। तात्पर्य यह है कि उसमें इन सभी देवताओं और उनकी शक्तियों का अधिवास होना चाहिये। शासन–कार्य में उसके सहायक दण्डाधिकारी, सुयोग्य धर्मशास्त्री, वीर सेनानी, प्रज्ञावान्, मुद्राधिकारी, लेखक, अमात्य, मंत्री, दूत, सर्वगुण सम्पन्न पुरोहित और प्राड्विवाक (न्यायाधीश) होने चाहिये। राजा को समझाने वाले सान्धिविग्रहिक भी होने चाहिए। शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिये उनके यहाँ विष प्रयोग और वह्निपात (गोलाबारूद) का प्रयोग करने का उल्लेख है। यह भी कहा गया है कि युद्ध में प्राप्त धन से राजा को यज्ञ करना चाहिये और अर्थी जनों में वितरण कर देना चाहिये। प्रजाओं को पीड़ित न करके कर ग्रहण करना चाहिये। राजा को अपनी स्थिति के विषय में कभी गर्व नहीं करना चाहिये। यह समझ लेना चाहिये कि न किसी का प्रभुत्व सदा बना रहता है न कोई अमर है – **'केषां प्रभुत्वं बहु जीवितं च'** अपने धर्म का पालन करने वाला राजा प्रजाधर्म का पालन करते हुये विष्णु लोक को प्राप्त होता है।

वानप्रस्थ एवं भिक्षु धर्म – भिक्षु धर्म के विषय में कहा गया है कि उत्तरावस्था में भार्या के साथ वन्य–पशुओं के बीच में जाकर कन्द–मूल, फल, शाक और फलों के रस आदि से ही जीवन बिताना चाहिये और विविध प्रकार के शास्त्र में कहे हुये व्रतों का पालन करना चाहिये। भिक्षा से प्राप्त सामग्री से ही व्रतों

का आचरण करना चाहिये। सदैव आत्मा का चिन्तन करते हुये भिक्षु-भाव से समय बिताना चाहिये।

प्रणव ध्यान विधि में बताया गया है कि ओंकार ही ब्रह्म का स्वरूप है। सोलह प्रकार के प्राणायामों का अभ्यास करते हुये ब्रह्मसायुज्य की कल्पना करना चाहिये। प्रणव रूपी चाप पर आत्मा के बाण को चढ़ाकर लक्ष्य-भेद करना चाहिये। इस प्रकार संहिता की समाप्ति पर कहा गया है-

पराशरोदितं शास्त्रं चतुर्वर्णाश्रमाय च।
वेदितव्यं प्रयत्नेन सदा ध्येयं द्विजातिभिः॥

पराशर-संहिता के विहंगावलोकन से ज्ञात होगा कि उनके द्वारा विहित धर्म और नियम आज के परिप्रेक्ष्य में भी सर्वथा व्यावहारिक और उपयोगी हैं।

५. पराशर गीता [१]

महर्षि पराशर द्वारा प्रणीत ग्रन्थों में पराशर गीता का विशेष स्थान है। उनके द्वारा रचित श्री विष्णु पुराण जहाँ निवृत्ति मार्ग वालों के कल्याणार्थ है, वहीं श्री पराशर स्मृति प्रवृत्ति मार्ग वालों के लिए है। निवृत्ति एवं प्रवृत्ति दोनों मार्ग वालों के लिए उन्होंने पराशर गीता की रचना की है।

पराशर गीता[१] ९ अध्यायों में विभक्त है। महर्षि पराशर ने राजा जनक को जो उपदेश दिये हैं, उनका समावेश इस गीता में है। महाभारत के शांति पर्व के २९० से २९८ वें अध्याय में पराशर गीता का संकलन किया गया है।

कल्याण प्राप्ति के उपाय - महर्षि पराशर ने पहले अध्याय में राजा जनक को कल्याण-प्राप्ति का उपदेश दिया है यथा - मनुष्य नेत्र, मन, वाणी और क्रिया के द्वारा चार प्रकार के कर्म करता है और जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसका फल पाता है-

चक्षुषा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम्।
कुरुते यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥१६॥

मनुष्य कर्म के फलरूप से कभी केवल सुख, कभी सुख:दुःख दोनों को एक साथ प्राप्त करता है। पुण्य या पाप कोई भी कर्म क्यों न हो, फल भोगे बिना उसका नाश नहीं होता-

निरन्तरं च मिश्रं च लभते कर्म पार्थिव।
कल्याणं यदि वा पापं न तु नाशोऽस्य विद्यते॥१७॥

इन्द्रिय संयम, क्षमा, धैर्य, तेज, सन्तोष, सत्य-भाषण, लज्जा, अहिंसा,

१. महाभारत - शान्ति पर्व, अध्याय २९०-९८ (पराशर गीता).

दुर्व्यसन का अभाव तथा दक्षता–ये सब सुख देने वाले हैं –

दमः क्षमा धृतिस्तेजः संतोषः सत्यवादिता।
ह्रीरहिंसाव्यसनिता दाक्ष्यं चेति सुखावहाः ॥२०॥

विद्वान् पुरुष को जीवनपर्यन्त पाप या पुण्य में भी आसक्त न होकर अपने मन को परमात्मा के ध्यान में लगाने का प्रयत्न करना चाहिये–

दुष्कृते सुकृते चापि न जन्तुर्नियतो भवेत्।
नित्यं मनः समाधाने प्रयतेत विचक्षणः ॥२१॥

जीव दूसरे के किये हुए शुभ अथवा अशुभ कर्म को नहीं भोगता; वह स्वयं जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल पाता है–

नायं परस्य सुकृतं दुष्कृतं चापि सेवते।
करोति यादृशं कर्म तादृशं प्रतिपद्यते ॥२२॥

विवेकी पुरुष सुख और दुःख को अपने भीतर विलीन करके अन्य मार्ग से अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के मार्ग द्वारा चलता है। जो स्त्री, पुत्र और धन आदि में आसक्त हैं, वे सब संसारी जीव उससे भिन्न दूसरे ही मार्ग पर चलते हैं; अर्थात् जन्मते और मरते रहते हैं–

सुखदुःखे समाधाय पुमानन्येन गच्छति।
अन्येनैव जनः सर्वः संगतो यश्च पार्थिवः।।२३॥

मनुष्य दूसरे के जिस कर्म की निन्दा करे, उसको स्वयं भी न करे। जो दूसरे की तो निन्दा करता है; किन्तु स्वयं उसी निन्द्य कर्म में लगा रहता है, वह उपहास का पात्र होता है–

परेषां यदसूयेत न तत् कुर्यात् स्वयं नरः।
यो ह्यसूयुस्तथायुक्तः सोऽवहासं नियच्छति ॥२४॥

डरपोक क्षत्रिय, (भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करके) सब कुछ खानेवाला ब्राह्मण, धनोपार्जन की चेष्टा से रहित या अकर्मण्य वैश्य, आलसी शूद्र, उत्तम गुणों से रहित विद्वान, सदाचार का पालन न करने वाला कुलीन पुरुष, सत्य से भ्रष्ट हुआ धार्मिक पुरुष, दुराचारिणी स्त्री, विषयासक्त योगी, केवल अपने लिये भोजन बनाने वाला मनुष्य, मूर्ख वक्ता, राजा से रहित राष्ट्र तथा अजितेन्द्रिय होकर प्रजा के प्रति स्नेह न रखने वाला राजा–ये सब के सब शोक करने के योग्य हैं अर्थात् निन्दनीय हैं–

भीरू राजन्यो ब्राह्मणः सर्वभक्ष्यो, वैश्योऽनीहावान् हीनवर्णोऽलसश्च।
विद्वांश्चाशीलो वृत्तहीनः कुलीनः,सत्याद् विभ्रष्टो धार्मिकः स्त्री च दुष्टा ॥२५॥
रागी युक्तः पचमानोऽऽत्महेतोर्मूर्खो वक्ता नृपहीनं च राष्ट्रम्।
एते सर्वे शोच्यतां यान्ति राजन् यश्चायुक्तः स्नेहहीनः प्रजासु ॥२६॥

कर्मफल की अनिवार्यता एवं पुण्य कर्म - पराशर गीता के द्वितीय अध्याय में कर्मफल की अनिवार्यता तथा पुण्य कर्म से लाभ सम्बन्धी उपदेश दिये गये हैं।

महर्षि पराशर राजा जनक को कहते हैं- मनुष्य-शरीर की आयु सुलभ नहीं है-वह दुर्लभ वस्तु है, उसे पाकर आत्मा को नीचे नहीं गिराना चाहिए। मनुष्य को चाहिये कि वह पुण्यकर्म के अनुष्ठान द्वारा आत्मा के उत्थान के लिए सदा प्रयत्न करता रहे-

आयुर्न सुलभं लब्ध्वा नावकर्षेद् विशाम्पते।
उत्कर्षार्थं प्रयतेत नरः पुण्येन कर्मणा॥३॥

पाप से सम्बन्ध रखने वाला जो कर्म है, उसका कितना ही बड़ा लौकिक सुख रूप फल क्यों न हो, बुद्धिमान् पुरुष उसका कदापि सेवन न करे। वह उससे उसी तरह दूर रहे, जैसे पवित्र मनुष्य चाण्डाल से-

पापानुबन्धं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
तन्न सेवेत मेधावी शुचिः कुशलिनं यथा ॥७॥

जो स्वयं जान-बूझकर पाप करने के पश्चात् उसके प्रायश्चित के उद्देश्य से शुभ कर्म का अनुष्ठान करता है, वह शुभ और अशुभ दोनों का पृथक्-पृथक् फल भोगता है-

स्वयं कृत्वा तु यः पापं शुभमेवानुतिष्ठति।
प्रायश्चित्तं नरः कर्तुमुभयं सोऽश्नुते पृथक्॥११॥

परंतु मैं तो ऐसा देखता हूँ कि जो कर्म किया गया है, वह पुण्य हो या पापयुक्त, प्रकट रूप में किया गया हो या छिपाकर (तथा जान-बूझकर किया गया हो या अनजाने में) वह अपना फल अवश्य देता ही है-

अहं तु तावत् पश्यामि कर्म यद् वर्तते कृतम्।
गुणयुक्तं प्रकाशं वा पापेनानुपसंहितम्॥१४॥

देवताओं और मुनियों द्वारा भी जो अनुचित कर्म किये गये हों, धर्मात्मा पुरुष उनका अनुकरण न करे और उन कर्मों को सुनकर उन देवता आदि की निन्दा भी न करे-

कृतानि यानि कर्माणि दैवतैर्मुनिभिस्तथा।
न चरेत् तानि धर्मात्मा श्रुत्वा चापि न कुत्सयेत्॥१७॥

धर्मोपार्जित धन व सदाचार की श्रेष्ठता - पराशर गीता के तीसरे अध्याय में धर्मोपार्जित धन की श्रेष्ठता, अतिथि- सत्कार का महत्व, पाँच प्रकार

के ऋणों से छूटने की विधि, भगवत्स्तवन की महिमा एवं सदाचार तथा गुरुजनों की सेवा से लाभ विषयक उपदेश दिये गये हैं।

श्रेष्ठ पुरुष को दिया हुआ दान और श्रेष्ठ पुरुष से प्राप्त हुआ प्रतिग्रह–इन दोनों का महत्व बराबर है तो भी इन दोनों में से ब्राह्मण के लिये प्रतिग्रह स्वीकार करने की अपेक्षा दान देना अधिक पुण्यमय माना गया है–

विशिष्टस्य विशिष्टाच्च तुल्यौ दानप्रतिग्रहौ।
तयोः पुण्यतरं दानं तद् द्विजस्य प्रयच्छतः ॥३॥

जो धन न्याय से प्राप्त किया गया हो और न्याय से ही बढ़ाया गया हो, उसको यत्नपूर्वक धर्म के उद्देश्य से बचाये रखना चाहिये। यही धर्मशास्त्र का निश्चय है –

न्यायागतं धनं चैव न्यायेनैव विवर्धितम्।
संरक्ष्यं यत्नमास्थाय धर्मार्थमिति निश्चयः ॥४॥

प्रत्येक मुनष्य देवता, अतिथि, भरण–पोषण के योग्य कुटुम्बीजन, पितर तथा अपने–आपका भी ऋणी होकर जन्म लेता है; अतः उसे उस ऋण से मुक्त होने का यत्न करना चाहिये–

देवतातिथिभृत्येभ्यः पितृभ्यश्चात्मनस्तथा।
ऋणवान् जायते मर्त्यस्तस्मादनृणतां व्रजेत् ॥९॥

वेद–शास्त्रों का स्वाध्याय करके ऋषियों के, यज्ञ–कर्म द्वारा देवताओं के, श्राद्ध और दान से पितरों के तथा स्वागत–सत्कार, सेवा आदि से अतिथियों के ऋण से छुटकारा होता है–

स्वाध्यायेन महर्षिभ्यो देवेभ्यो यज्ञकर्मणा।
पितृभ्यः श्राद्धदानेन नृणामभ्यर्चनेन च ॥१०॥

इसी प्रकार वेद–वाणी के पठन, श्रवण एवं मनन से, यज्ञ–शेष अन्न के भोजन से तथा जीवों की रक्षा करने से मनुष्य अपने ऋण से मुक्त होता है। भरणीय कुटुम्बी जन के पालन–पोषण का आरम्भ से ही प्रबन्ध करना चाहिये। इससे उनके ऋण से भी मुक्ति हो जाती है–

वाचा शेषावहार्येण पालनेनात्मनोऽपि च।
यथावद् भृत्यवर्गस्य चिकीर्षेत् कर्म आदितः ॥११॥

धर्म का पालन करते हुए ही जो धन प्राप्त होता है, वही सच्चा धन है। जो अधर्म से प्राप्त होता है, वह धन तो धिक्कार देने योग्य है। संसार में धन की इच्छा से शाश्वत धर्म का त्याग कभी नहीं करना चाहिये–

येऽर्था धर्मेण ते सत्या येऽधर्मेण धिगस्तु तान्।
धर्मं वै शाश्वतं लोके न जह्याद् धनकाङ्क्षया॥१९॥

पुरुष सिंह को अग्नि, आत्मा, माता, जन्म देने वाले पिता तथा गुरु–इन सबकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिये–

अग्निरात्मा च माता च पिता जनयिता तथा।
गुरुश्च नरशार्दूल परिचर्या यथातथम्॥२२॥

जो अभिमान का त्याग करके वृद्ध पुरुषों की सेवा करता है, विद्वान् एवं काम–भोग में अनासक्त होकर सबको प्रेमभाव से देखता, मन में चतुराई न रखकर धर्म में संलग्न रहता है और दूसरों का दमन या हिंसा नहीं करता है, वह मनुष्य इस लोक में श्रेष्ठ है तथा सत्पुरुष भी उसका आदर करते हैं–

मानं त्यक्त्वा यो नरो वृद्धसेवी
विद्वान् क्लीवः पश्यति प्रीतियोगात्।
दाक्ष्येण हीनो धर्मयुक्तो नदान्तो
लोकेऽस्मिन् वै पूज्यते सद्भिरार्यः॥२३॥

सेवावृत्ति का महत्व व सतसङ्ग महिमा – पराशर गीता के चौथे अध्याय में पराशरजी राजा जनक के माध्यम से शूद्र के लिये सेवावृत्ति की प्रधानता, सत्सङ्ग की महिमा और चारों वर्णों के धर्मपालन का महत्व बताते हैं।

धर्म पर दृष्टि रखने वाले सत्पुरुषों के संसर्ग में रहना सदा ही श्रेष्ठ है ; परन्तु किसी भी दशा में दुष्ट पुरुषों का सङ्ग अच्छा नहीं है, यह मेरा (पराशर का) दृढ़ निश्चय है–

सद्भिस्तु सह संसर्गः शोभते धर्मदर्शिभिः।
नित्यं सर्वास्ववस्थासु नासद्भिरिति मे मतिः॥३॥

श्वेत वस्त्र को जिस रंग में रँगा जाता है, वह वैसा ही रूप धारण कर लेता है। इसी प्रकार जैसा सङ्ग किया जाता है, वैसा ही रंग अपने ऊपर चढ़ता है, यह बात मुझसे अच्छी तरह समझ लो–

यादृशेन हि वर्णेन भाव्यते शुक्लमम्बरम्।
तादृशं कुरुते रूपमेतदेवमवेहि मे॥५॥

धर्म के विपरीत कर्म यदि लौकिक दृष्टि से बहुत लाभदायक हो तो भी बुद्धिमान पुरुष को उसका सेवन नहीं करना चाहिये; क्योंकि उसे इस जगत् में हितकर नहीं बताया जाता है –

धर्मादपेतं यत् कर्म यद्यपि स्यान्महाफलम्।
न तत् सेवेत मेधावी न तद्धितमिहोच्यते ॥८॥

जो कार्य धर्म के अनुकूल हो, वह अल्प लाभदायक होने पर भी निःशङ्क होकर कर लेने योग्य है; क्योंकि वह अन्त में सुख देने वाला होता है। जो राजा दूसरों की हजारों गौएँ छीनकर दान करता है और प्रजा की रक्षा नहीं करता, वह नाममात्र का ही दानी और राजा है। वास्तव में तो वह चोर और डाकू है -

धर्मेण सहितं यत् तु भवेदल्पफलोदयम्।
तत् कार्यमविशङ्केन कर्मात्यन्तं सुखावहम्॥
यो हृत्वा गोसहस्राणि नृपो दद्यादरक्षिता।
स शब्दमात्रफलभाग् राजा भवति तस्करः ॥९॥

जो राजा धर्म पूर्वक प्रजा की रक्षा करता है, वह उस धर्माचरण के कारण ही लोक में पूजित होता है। इसी प्रकार जो ब्राह्मण धर्म पूर्वक स्वाध्याय करता है, जो वैश्य धर्म के अनुसार धनोपार्जन में तत्पर रहता है तथा जो शूद्र जितेन्द्रिय भाव से रहकर सर्वदा द्विजातियों की सेवा करता है, वे सभी अपने-अपने धर्माचरण के कारण लोक में सम्मानित होते हैं। नरेन्द्र! इसके विपरीत आचरण करने से सब लोग अपने धर्म से गिर जाते हैं-

तस्माद् यो रक्षति नृपः स धर्मेणेति पूज्यते।
अधीते चापि यो विप्रो वैश्यो यश्चार्जने रतः ॥१४॥
यश्च शुश्रषते शूद्रः सततं नियतेन्द्रियः।
अतोऽन्यथा मनुष्येन्द्र स्वधर्मात् परिहीयते ॥१५॥

प्राणों को कष्ट देकर यदि न्याय से कमायी हुई थोड़ी-सी कौड़ियों का भी दान किया जाय तो वे महान् फल देने वाली होती हैं; फिर जो दूसरी वस्तुएँ हजारों की संख्या में दी जाती हैं, उनकी तो बात ही क्या है -

प्राणसंतापनिर्दिष्टाः काकिण्योऽपि महाफलाः।
न्यायेनोपार्जिता दत्ताः किमुतान्याः सहस्रशः ॥१६॥

अवहेलना अथवा अश्रद्धा से जो कुछ दिया जाता है, उसे सत्यवादी मुनियों ने अधम श्रेणी का दान कहा है। डूबता हुआ मनुष्य जिस तरह नाना प्रकार के उपाय द्वारा समुद्र से पार हो जाता है, वैसे ही तुमको भी सदा ऐसा प्रयत्न करना चाहिये, जिस प्रकार संसार-समुद्र से छुटकारा मिले-

अवज्ञया दीयते यत् तथैवाश्रद्धयापि वा।
तमाहुरधमं दानं मुनयः सत्यवादिनः ॥१९॥
अतिक्रामेन्मज्जमानो विविधेन नरः सदा।
तथा प्रयत्नं कुर्वीत यथा मुच्येत संश्रयात्॥ २०॥

ब्राह्मण इन्द्रिय संयम से, क्षत्रिय युद्ध में विजय पाने से, वैश्य न्यायपूर्वक उपार्जित धन से और शूद्र सदा सेवाकार्य में कुशलता का परिचय देने वाला शोभा पाता है –

दमेन शोभते विप्रः क्षत्रियो विजयेन तु।
धनेन वैश्यः शूद्रस्तु नित्यं दाक्ष्येण शोभते॥ २१॥

सद्वृत्ति व जीविका का महत्व – पराशर गीता के **पाँचवें अध्याय** में जीविका, निन्दनीय कर्मों के त्याग की आज्ञा, मनुष्यों में आसुर भाव की उत्पत्ति, भगवान शिव के द्वारा उनका निवारण तथा सर्व धर्म के अनुसार कर्त्तव्य पालन का आदेश आदि महत्वपूर्ण विषयों का समावेश है, जिसके कतिपय उद्धरणों पर दृष्टिपात करना उचित प्रतीत होता है।

ब्राह्मण के यहाँ प्रतिग्रह से मिला हुआ, क्षत्रिय के घर युद्ध से जीतकर लाया हुआ, वैश्य के पास न्यायपूर्वक (खेती आदि से) कमाया हुआ और शूद्र के यहाँ सेवा से प्राप्त हुआ थोड़ा-सा भी धन हो तो उसकी बड़ी प्रशंसा होती है तथा धर्म के कार्य में उसका उपयोग हो तो वह महान् फल देने वाला होता है –

प्रतिग्रहागता विप्रे क्षत्रिये युधि निर्जिताः।
वैश्ये न्यायार्जिताश्चैव शूद्रे शुश्रूषयार्जिताः॥१॥
स्वल्पाप्यर्थाः प्रशस्यन्ते धर्मस्यार्थे महाफलाः। (२ का पूर्वार्द्ध)

अतः मैं शास्त्र के अनुसार खूब सोच-विचार कर कहता हूँ कि मनुष्य को उन्नत होने का प्रयत्न तो करना चाहिये, किन्तु हिंसात्मक कर्म का त्याग कर देना चाहिये–

तस्मादहं ब्रवीमि त्वां राजन् संचिन्त्य शास्त्रतः।
संसिद्धाधिगमं कुर्यात् कर्म हिंसात्मकं त्यजेत्॥२४॥

बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि वह धर्म करने के लिये न्याय को त्यागकर पाप मिश्रित मार्ग से धन का संग्रह न करे; क्योंकि उसे कल्याणकारी नहीं बताया जाता है–

न संकरेण द्रविणं प्रचिन्वीयाद् विचक्षणः।
धर्मार्थं न्यायमुत्सृज्य न तत् कल्याणमुच्यते॥२५॥

पतन के कारण, तपोबल की श्रेष्ठता एवं स्वधर्म पालन – इस गीता के **छठे अध्याय** में मनुष्य के पतन के कारण तथा तपोबल की श्रेष्ठता का वर्णन करते हुए दृढ़तापूर्वक स्वधर्म पालन का आदेश दिया गया है, जिसके कतिपय श्लोक अवलोकनीय हैं।

नरेश्वर! राग और द्वेष के वशीभूत होकर जब मनुष्य द्रव्य में आसक्त हो

जाता है, तब मोह की कन्या रति उसके पास आ जाती है –

रागद्वेषाभिभूतं च नरं द्रव्यवशानुगम्।
मोहजाता रतिर्नाम समुपैति नराधिप ॥५ ॥

यद्यपि मनुष्य जानता है कि अमुक काम करना पाप है, तो भी वह धन के लिये उसका सेवन करता है। बाल–बच्चों के स्नेह में उसका मन डूबा रहता है और उनमें से जब कोई मर जाता है, तब उनके लिये वह बारंबार संताप करता है–

स जानन्नपि चाकार्यमर्थार्थं सेवते नरः।
बालस्नेहपरीतात्मा तत्क्षयाच्चानुतप्यते ॥८ ॥

वास्तव में जो शुभ कर्मों का अनुष्ठान तो करते हैं, परंतु उनसे सुख पाने की इच्छा को त्याग देते हैं, उन समत्व–बुद्धि से युक्त ब्रह्मवादी पुरुषों को ही सनातन पद की प्राप्ति होती है–

तथा हि बुद्धियुक्तानां शाश्वतं ब्रह्मवादिनाम्।
अन्विच्छतां शुभं कर्म नराणां त्यजतां सुखम् ॥१० ॥

तात! तपस्या में सभी का अधिकार है। जितेन्द्रिय और मनोनिग्रह सम्पन्न हीन वर्ण के लिये भी तप का विधान है, क्योंकि तप पुरुष को स्वर्ग की राह पर लाने वाला है–

तपः सर्वगतं तात हीनस्यापि विधीयते।
जितेन्द्रियस्य दान्तस्य स्वर्गमार्गंप्रवर्तकम् ॥१४ ॥

असंतोष दुःख का ही कारण है। लोभ से मन और इन्द्रियाँ चञ्चल होती हैं, उससे मनुष्य की बुद्धि उसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे बिना अभ्यास के विद्या–

असंतोषोऽसुखायेति लोभादिन्द्रियसम्भ्रमः।
ततोऽस्य नश्यति प्रज्ञा विद्येवाभ्यासवर्जिता ॥२५ ॥

जिसे धर्म, तपस्या, दान और चिकित्सा में संशय उत्पन्न हो जाता है, वह पापकर्म करके नरक में पड़ता है –

धर्मे तपसि दाने च विचिकित्सास्य जायते।
स कृत्वा पापकान्येव निरयं प्रतिपद्यते ॥३० ॥

मनुष्य सुख में हो या दुःख में, जो सदाचार से कभी विचलित नहीं होता, वही शास्त्र का ज्ञाता है–

सुखे तु वर्तमानो वै दुःखे वापि नरोत्तम।
सुवृत्ताद् यो न चल ते शास्त्रचक्षुः स मानवः ॥३१ ॥

इसलिए गृहस्थ पुरुष को सदा बिना प्रयत्न अपने-आप प्राप्त हुए विषयों का ही सेवन करना चाहिए और प्रयत्न करके अपने धर्म का पालन करना चाहिए, यही मेरा मत है-

अप्रयत्नागताः सेव्या गृहस्थैर्विषयाः सदा।
प्रयत्नेनोपगम्यश्च स्वधर्म इति मे मतिः ॥३५॥

गृहस्थ को सर्वथा अपने कर्तव्य का निश्चय करके स्वधर्म का पालन करते हुए कुशलतापूर्वक यज्ञ तथा श्राद्ध आदि कर्मों का अनुष्ठान करना चाहिए-

सर्वात्मनानुकुर्वीत गृहस्थः कर्मनिश्चयम्।
दाक्ष्येण हव्यकव्यार्थं स्वधर्मे विचरन् नृप ॥३८॥

वर्णोत्पत्ति, सत्कर्म की श्रेष्ठता एवं हिंसा रहित धर्म - पराशर गीता के सातवें अध्याय में वर्ण विशेष की उत्पत्ति का रहस्य, तपोबल से उत्कृष्ट वर्ण की प्राप्ति, विभिन्न वर्णों के विशेष और सामान्य धर्म, सत्कर्म की श्रेष्ठता तथा हिंसा रहित धर्म का वर्णन किया है, जिसके महाभारत शांति पर्व के २९६वें अध्याय में समाविष्ट कुछ अंश दिये जा रहे हैं।

क्षत्रिय, अतिरथ, अम्बष्ठ, उग्र, वैदेह, श्वपाक, पुल्कस, स्तेन, निषाद, सूत, मागध, अयोग, करण, व्रात्य और चाण्डाल-ये ब्राह्मण आदि चार वर्णों से अनुलोम और विलोम वर्ण की स्त्रियों के साथ परस्पर संयोग होने से उत्पन्न होते हैं -

क्षत्रियातिरथाम्बष्ठा उग्रा वैदेहकास्तथा।
श्वपाकाः पुल्कसाःस्तेना निषादाः सूतमागधाः ॥८॥

अयोगाः करणा व्रात्याश्चाण्डालाश्च नराधिप।
एते चतुर्भ्यो वर्णेभ्यो जायन्ते वै परस्परात् ॥९॥

क्रूरता का अभाव (दया), अहिंसा, अप्रमाद (सावधानी), देवता-पितर आदि को उनके भाग समर्पित करना अथवा दान देना, श्राद्धकर्म, अतिथि-सत्कार, सत्य, अक्रोध, अपनी ही पत्नी में सन्तुष्ट रहना, पवित्रता रखना, कभी किसी के दोष न देखना, आत्मज्ञान तथा सहनशीलता-ये सभी वर्णों के सामान्य धर्म हैं -

आनृशंस्यमहिंसा चाप्रमादः संविभागिता।
श्राद्धकर्मातिथेयं च सत्यमक्रोध एव च ॥२३॥

स्वेषु दारेषु संतोषः शौचं नित्यानसूयता।
आत्मज्ञानं तितिक्षा च धर्माः साधारणा नृप ॥२४॥

नरश्रेष्ठ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य-ये तीन वर्ण द्विजाति कहलाते हैं। उपर्युक्त धर्मों में इन्हीं का अधिकार है-

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्यास्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
अत्र तेषामधीकारो धर्मेषु द्विपदां वर॥२५॥

नरेश्वर! ये तीन वर्ण विपरीत कर्मों में प्रवृत्त होने पर पतित हो जाते हैं। सत्पुरुषों का आश्रय ले अपने-अपने कर्मों में लगे रहने से जैसे इनकी उन्नति होती है, वैसे ही विपरीत कर्मों के आचरण से पतन भी हो जाता है-

विकर्मावस्थिता वर्णाः पतन्ते नृपते त्रयः।
उन्नमन्ति यथासन्तमाश्रित्येह स्वकर्मसु॥२६॥

यह निश्चय है कि शूद्र पतित नहीं होता तथा वह उपनयन आदि संस्कार का भी अधिकारी नहीं है। उसे वैदिक अग्निहोत्र आदि कर्मों के अनुष्ठान का भी अधिकार नहीं प्राप्त है; परन्तु उपर्युक्त सामान्य धर्मों का उसके लिये निषेध भी नहीं किया गया है-

न चापि शूद्रः पततीति निश्चयो,
न चापि संस्कारमिहार्हतीति वा।
श्रुतिप्रवृत्तं न च धर्ममाप्नुते,
न चास्य धर्मे प्रतिषेधनं कृतम्॥२७॥

वेद-शास्त्रों के ज्ञान से सम्पन्न द्विज शूद्र को प्रजापति के तुल्य बताते हैं (क्योंकि वह परिचर्या द्वारा समस्त प्रजा का पालन करता है); परन्तु नरेन्द्र! मैं तो उसे सम्पूर्ण जगत् के प्रधान रक्षक भगवान् विष्णु के रूप में देखता हूँ (क्योंकि पालन कर्म विष्णु का ही है और वह अपने उस कर्म द्वारा पालनकर्ता श्रीहरि की आराधना करके उन्हीं को प्राप्त होता है)-

वैदेह कं शूद्रमुदाहरन्ति
द्विजा महाराज श्रुतोपपन्नाः।
अहं हि पश्यामि नरेन्द्र देवं
विश्वस्य विष्णुं जगतः प्रधानम्॥२८॥

हीन वर्ण के मनुष्य (शूद्र) यदि अपना उद्धार करना चाहें तो सदाचार का पालन करते हुए आत्मा को उन्नत बनाने वाली समस्त क्रियाओं का अनुष्ठान करें; परन्तु वैदिक मन्त्र का उच्चारण न करें। ऐसा करने से वे दोष के भागी नहीं होते हैं-*

---

* स्वामी दयानन्द सरस्वती ने इस कथन को शास्त्र सम्मत नहीं माना है, उनके मत में मानव मात्र को आत्मोन्नति का अधिकार है तथा वेद एवं अन्य शास्त्रों के पठन-पाठन तथा धार्मिक

सतां वृत्तमधिष्ठाय निहीना उद्दिधीर्षवः।
मन्त्रवर्जं न दुष्यन्ति कुर्वाणाः पौष्टिकीः क्रियाः ॥२९ ॥

जाति से श्रेष्ठ पुरुष भी यदि निन्दित कर्म करता है तो वह कर्म उसे कलङ्कित कर देता है; इसलिए किसी भी दृष्टि से बुरा कर्म अच्छा नहीं है–

जात्या प्रधानं पुरुषं कुर्वाणं कर्म धिक्कृतम्।
कर्म तद् दूषयत्येनं तस्मात् कर्म न शोभनम् ॥३४ ॥

विविध धर्म एवं कर्त्तव्य – पराशर गीता के **आठवें अध्याय** में नाना प्रकार के धर्म और कर्त्तव्यों का पराशरजी द्वारा राजा जनक को माध्यम बनाकर उपदेश दिया गया है।

उपभोग के साधनों से वञ्चित होने पर भी मनुष्य अपने–आपको हीन न समझे। चाण्डाल की योनि में भी यदि मनुष्य–जन्म प्राप्त हो तो वह मानवेतर प्राणियों की अपेक्षा सर्वथा उत्तम है–

उपभोगैरपि त्यक्तं नात्मानं सादयेन्नरः।
चण्डालत्वेऽपि मानुष्यं सर्वथा तात शोभनम् ॥३१ ॥

क्योंकि मनुष्य की योनि ही वह अद्वितीय योनि है, जिसे पाकर शुभकर्मों के अनुष्ठान से आत्मा का उद्धार किया जा सकता है –

इयं हि योनिः प्रथमा यां प्राप्य जगतीपते।
आत्मा वै शक्यते त्रातुं कर्मभिः शुभलक्षणैः ॥३२ ॥

अनुष्ठान करने के सभी अधिकारी हैं। प्राचीन ऋषियों द्वारा शूद्र वर्ण की जातियों को बड़े प्रतिष्ठाजनक सम्बोधन एवं नाम दिये गये हैं, जैसे स्वच्छता एवं मल–मूत्र की सफाई आदि कार्यों में संलग्न शूद्र वर्ण के इस वर्ग को महत्तर शब्द दिया गया जो महान् से भी महान् मनुष्य की श्रेणी में आता है। माता को भी स्वर्गादपि गरीयसी (स्वर्ग से भी महान्) इसी कारण कहा गया है।

प्राचीन काल में वर्ण व्यवस्था गुण कर्म तथा स्वभाव के आधार पर निर्मित थी–

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः।

श्रीद्भगवद्गीता ४/१३

वाल्मीकि का शूद्र वर्ण से ब्राह्मण वर्ण में तथा विश्वामित्र का क्षत्रिय वर्ण से ब्राह्मण वर्ण में सम्मिलित करना इस बात को सिद्ध करता है। शूद्र वर्ण के लोगों में अपने व्यवसाय में लिप्त रहने से तथा खान–पान में सात्विकता एवं शौच या पवित्रता के प्रति जागरूकता न रहने के कारण अशौच का स्थायी, सहज एवं स्वाभाविक दोष उत्पन्न हो जाता है। संभवतया इसी कारण शूद्र के लिए वेदादि के अध्ययन का निषेध किया गया है। सम्यक् प्रकारेण स्नानादि नित्य कर्मों तथा सत् आचार–विचार तथा बाह्यान्तर शौच की स्थिति प्राप्त किये बिना उसे वेदादि धर्मग्रन्थों के पाठ की अनुमति न देना त्रुटिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। यही उसकी मूल (शूद्र) अवस्था कही जायेगी।

जो मानव अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-शरीर को पाकर भी दूसरों से द्वेष करता है और धर्म का अनादर करता है तथा मन से कामनाओं में आसक्त हो जाता है, वह महान् लाभ से वञ्चित होता है-

योदुर्लभतरं प्राप्य मानुष्यं द्विषते नरः।
धर्मावमन्ता कामात्मा भवेत्स खलु वञ्च्यते॥३४॥

जो सब लोगों को सान्त्वना प्रदान करता, भूखों को भोजन देता और प्रिय वचन बोलकर सबका सत्कार करता है, वह सुख-दुःख में सम रहकर (इहलोक और) परलोक में प्रतिष्ठित होता है-

सान्त्वेनान्नप्रदानेन प्रियवादेन चाप्युत।
समदुःखसुखो भूत्वा स परत्र महीयते॥३६॥

विविध प्रश्न एवं शंङ्का समाधान - पराशर गीता के अंतिम **नवें अध्याय** में महर्षि पराशर द्वारा राजा जनक के विविध प्रश्नों एवं शंकाओं के समाधान द्वारा गूढ़ विषयों को समझाने का प्रयास कियां गया है।

पराशरजी निम्न श्लोक में कहते हैं कि आसक्ति का अभाव ही श्रेय का मूल कारण है। ज्ञान ही सबसे उत्तम गति है। स्वयं किया हुआ तप तथा सुपात्र को दिया हुआ दान-ये कभी नष्ट नहीं होते-

असङ्गः श्रेयसो मूलं ज्ञानं चैव परा गतिः।
चीर्णं तपो न प्रणश्येद्वापः क्षेत्रे न नश्यति॥३॥

जो मनुष्य जब अधर्ममय बन्धन का उच्छेद करके धर्म में अनुरक्त हो जाता और सम्पूर्ण प्राणियों को अभय-दान कर देता है, उसे उसी समय उत्तम सिद्धि प्राप्त होती है-

छित्त्वाधर्ममयं पाशं यदा धर्मेऽभिरज्यते।
दत्त्वाभयकृतं दानं तदा सिद्धिमवाप्नुते॥४॥

जो एक हजार गौ तथा एक सौ घोड़े दान करता है तथा दूसरा जो सम्पूर्ण भूतों को अभयदान देता है, वह सदा गौ और अश्व दान करने वाले से बढ़ा-चढ़ा रहता है-

यो ददाति सहस्राणि गवामश्वशतानि च।
अभयं सर्वभूतेभ्यः सदा तमभिवर्तते॥५॥

बुद्धिमान् पुरुष विषयों के बीच में रहता हुआ भी (असङ्ग होने के कारण) उनमें नहीं रहने के बराबर ही है; किन्तु जिसकी बुद्धि दूषित होती है, वह विषयों के निकट न होने पर भी सदा उन्हीं में रहता है-

वसन् विषयमध्येऽपि न वसत्येव बुद्धिमान्।
संवसत्येव दुर्बुद्धिरसत्सु विषयेष्वपि॥६॥

जैसे पानी कमल के पत्ते को लिपायमान नहीं कर सकता, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुषों को अधर्म लिप्त नहीं कर सकता; परन्तु जैसे लाह काठ में चिपकजाती है, उसी प्रकार पाप अज्ञानी मनुष्य में अधिक लिप्त हो जाता है–

नाधर्मः श्लिष्यते प्राज्ञं पयः पुष्करपर्णवत्।
अप्राज्ञमधिकं पापं श्लिष्यते जतुकाष्ठवत्॥७॥

अधर्म फल प्रदान के अवसर की प्रतीक्षा करने वाला है, अतः वह कर्ता का पीछा नहीं छोड़ता। समय आने पर उस कर्ता को उस पाप का फल अवश्य भोगना पड़ता है–

नाधर्मः कारणापेक्षी कर्तारमभिमुञ्चति।
कर्ता खलु यथाकालं ततः समभिपद्यते॥८॥

6. अन्य धर्म-ग्रन्थ

श्री रामानन्द सम्प्रदाय का इतिहास[१] में पराशरजी द्वारा रचित अन्य ग्रन्थों की सूची निम्न प्रकार है–

१. वृहत्पराशरहोराशास्त्र ज्योतिष – (२२००० श्लोकों का)
२. वृहत्पाराशरीय धर्म संहिता – (३३००० श्लोकों का)
३. लघु पाराशरी
४. पाराशरीय वास्तुशास्त्र
५. पाराशरीय नीतिशास्त्र
६. पराशर–संहिता – वैद्यक
७. पराशर–पुराण
८. तत्त्व विचार पुराण रत्न।

महर्षि पराशर की धर्मपत्नी : वत्सला

ऋग्वेद के सातवें मण्डल में महर्षि वसिष्ठ, पिता मित्र–वरुण, उनके यजमान राजा पैजवन सुदास, सुदास–पुत्र सौदास, महर्षि वसिष्ठ के पुत्र शक्ति एवं पौत्र पराशर के नामों की आवृत्ति लगभग सभी सूक्तों के अनेकानेक मन्त्रों में दिखाई देती है, परन्तु इसमें वसिष्ठ–पत्नी का नाम नहीं मिलता है। हाँ, शक्ति–पत्नी अदृश्यन्ती का नाम अवश्य ही दृष्टिगोचर होता है। परन्तु केवल ऋग्वेद के सप्तम् मण्डल के साथ–साथ अन्य मण्डलों में घृताची के नाम का बार–बार उल्लेख

१. श्री रामानंद सम्प्रदाय का इतिहास – स्मृति ग्रंथ पृ. ४६.

आया है। इससे यह अनुमान लगाना कठिन नहीं है कि घृताची नामक स्त्री उनके परिवार की ही सदस्या रही है।

पराशर जी की धर्म-पत्नी का नाम वत्सला था, जिनके बारे में गणेश पुराण में विस्तृत आख्यान आया है। अनेकानेक पुराणों में पराशर जी की पत्नी का नाम काली भी बताया गया है, जिसका पर्याय घृताची भी होता है।

गणेश पुराण में वत्सला

गणेश पुराण में महर्षि पराशर की धर्मपत्नी का नाम वत्सला बताया गया है। गणेश पुराण के द्वितीय क्रीड़ा खण्ड में ''देवाधिदेव गजमुखी गणेशजी'' के अवतार की विस्तारपूर्वक चर्चा है। महर्षि पराशर तथा उनकी सती धर्मपत्नी वत्सला ने इनका पालन किया। दुष्ट असुर सिन्दूर का वध कर इन्होंने त्रैलोक्य की विपत्ति दूर की। इस जन्म में ये वरेण्य तथा उसकी धर्मपत्नी पुष्पिका के पुत्र के रूप में जाने गये।'[१] विचित्र डील-डौल के होने के कारण राजा वरेण्य के आदेश से उनके सेवक बालक गजानन को जंगल में छोड़ आये, जहाँ हिंसक जीव-जन्तु थे।[२]

कल्याण के गणेश अंक में गणेश पुराण के आधार पर पराशर-पत्नी द्वारा गजानन को पालने व स्तनपान कराने का जो प्रसङ्ग दिया है, वह भी दृष्टव्य है।

वत्सला द्वारा गजानन को स्तनपान - गहन कानन में सरोवर के तट पर पड़े नवजात शिशु पर एक जम्बुक की दृष्टि पड़ी। जम्बुक प्रसन्न होकर शिशु की ओर दौड़ा ही था कि उसी मार्ग से महर्षि पराशर आ गये। उन्होंने धरती पर हाथ-पैर उछालते दीप्तिमान् बालक को देखा तो मन-ही-मन सोचने लगे-'मुझे तपभ्रष्ट करने के लिये देवेन्द्र ने कोई माया रची है। मैं स्वाभाविक ही पापभीरु हूँ। जान-बूझकर मैंने कोई पाप किया ही नहीं है। हे दीनानाथ! हे चन्द्रचूड़! मेरी रक्षा कीजिये।'

इस प्रकार मन-ही-मन प्रार्थना करते हुए करुणामूर्ति महर्षि पराशर ने शिशु के समीप पहुँचकर देखा एक 'दिव्य वस्त्रालंकारविभूषित, सूर्यतुल्य तेजस्वी, चतुर्भुज, गजमुख, अलौकिक शिशु।'[२]

महामुनि ने शिशु को बार-बार ध्यानपूर्वक देखा। उसके नन्हे-नन्हे अरुण चरण-कमलों पर दृष्टि डाली-उन पर ध्वज, अंकुश और कमल की रेखाएँ दिखायी दीं।

---

१. कल्याण - पुराणकथाङ्क, वर्ष ६३ (१९८९) पृष्ठ ३९४.
२. कल्याण - गणेश अंक, वर्ष ४८ (१९७४) पृ. ३१९ : गणेश पुराण डॉ. चमनलाल गौतम, पृ. ४३५.

महर्षि को रोमाञ्च हो आया। हर्षातिरेक से हृदय गद्गद्, कण्ठ अवरुद्ध और नेत्र सजल हो गये। आश्चर्यचकित मुनि के मुँह से निकल गया- अरे, ये तो साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर हैं। ये मुझसे छल क्यों करेंगे? इन करुणामय ने देवता और ऋषियों का कष्ट-निवारण करने और मेरा जीवन-जन्म सफल बनाने के लिये अवतार ग्रहण किया है।

महर्षि के नेत्र बरस रहे थे। अपने भाग्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उन्होंने जगद्वन्द्य परम प्रभु के त्रितापनाशक भवाब्धिपोत नन्हें-नन्हें लाल-लाल चरणों को अपने मस्तक से स्पर्श कराया। उन्हें अपने नेत्रों से स्पर्श किया, वक्ष से लगाया और फिर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया। तदनन्तर उन्होंने हाथ जोड़कर स्तुति करते हुए कहा-'मेरा जीवन, जन्म, मेरे माता-पिता और मेरा तप, सभी धन्य हुए। अब मैं जन्म-मृत्यु से मुक्त हो गया; मेरी सम्पूर्ण वाञ्छाओं की पूर्ति हो गई। मैं ही नहीं - यह धरती, यह आकाश, यह पवन, यह निबिड़ वन, यह सरोवर और सरोवर का तट, सभी धन्य हो गये- सभी कृतकृत्य हो गये। आह! किस निष्ठुर अभागे ने इन महामहिम को यहाँ छोड़ दिया।'

महर्षि ने उसे अत्यन्त आदरपूर्वक अङ्क में ले लिया और प्रसन्न-मन द्रुत गति से आश्रम की ओर चले। आश्रम में पहुँचने पर उनकी सहधर्मिणी वत्सला ने शिशु को देखा तो वह अत्यन्त प्रसन्न हुई और जब उसने महर्षि के मुख से उस शिशु की अनिर्वचनीय महिमा सुनी तो उसके आनन्द की सीमा न रही।

वत्सला शिशु को लेकर वक्ष से लगाते ही आनन्द-विभोर हो गयी। हर्षातिरेक से उसने कहा-'स्वामिन्! आपके दीर्घकालीन कठोर तप का फल आज प्रत्यक्ष प्राप्त हो गया। स्नेहाधिक्य के कारण नवजात शिशु गजानन के स्पर्श से सती वत्सला के स्तनों में दूध उतर आया। महर्षि पराशर और वत्सला स्नेहपूर्वक शिशु-पालन में अपने परम सौभाग्य का अनुभव करते थे।

गजानन के चरण-स्पर्श से ही महर्षि पराशर का सुविस्तृत आश्रम अतिशय मनोहर हो गया। वहाँ के सूखे वृक्ष भी पल्लवित और पुष्पित हो उठे। वहाँ की गायें कामधेनु-तुल्य हो गयीं। सुखद पवन बहने लगा। आश्रम दिव्यातिदिव्य हो गया।

सिन्दूर का अभिमान - सिन्दूर नामक दैत्य के दिनोंदिन अत्याचारों से त्रिलोकी त्रस्त थी। मदमत्त सिन्दूर ने एक दिन अपनी सभा में कहा- 'मेरी अतुलनीय शक्ति व्यर्थ गयी। मेरा पौरुष निष्क्रिय रहा। इन्द्रादिकों ने मेरे साथ युद्ध नहीं किया और ब्रह्मा, विष्णु आदि मेरे सम्मुख ही नहीं हुए। मर्त्यलोक के नरेशों में तो मुझसे युद्ध करने की सामर्थ्य ही नहीं। मेरी युद्ध-कामना तृप्त नहीं हो पा रही है।'

उसी समय आकाशवाणी हुई – 'अरे मूर्ख! तू व्यर्थ क्या प्रलाप कर रहा है? तेरी युद्ध–कामना की पूर्ति करने वाला शिव–प्रिया पार्वती के यहाँ प्रकट हो गया है। वह शुक्ल पक्ष के शशि–सदृश उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।'

सर्वथा निरंकुश, परम, उद्दण्ड, शक्तिशाली सिन्दूर का अत्याचार पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। उसके भय से देव–पूजन और यज्ञ–यागादि सब बंद हो गये थे तथा देवता, ऋषि और ब्राह्मण त्रस्त थे, भीत थे। कुछ गिरि–गुफाओं और निविड़ वनों में छिपकर अपने दिन व्यतीत करते थे। अधिकांश सत्त्वगुणसम्पन्न धर्मपरायण देव–विप्रादि सिन्दूर के कारागार में यातना सह रहे थे।

उस उद्धत असुर की इस अनीति का संवाद जब पराशर आश्रम में पहुँचता तो गजानन अधीर और अशान्त हो जाते। त्रैलोक्य की दारुण स्थिति उनके लिये असह्य हो गयी। क्षुब्ध गजानन ने अपने पोष्य पिता पराशर के समीप जाकर उनके चरणों में प्रणाम किया और कहा– 'मुनिवर! सिन्दूरासुर के दुराचार से धरती त्रस्त हो गयी है, सर्वत्र अनीति और अनाचार का साम्राज्य छा गया है; सद्धर्म लुप्त हो गया और सदाचारपरायण जन अत्यन्त पीड़ित हैं। उन्हें अपने त्राण का कोई मार्ग नहीं सूझ रहा है। ऐसी परिस्थिति में मैं उद्विग्न हो उठा हूँ; धरती का बोझ उतारने के लिये मैं अधीर, अशान्त और आकुल हो गया हूँ। आप कृपापूर्वक अपना वरद हस्त मेरे सिर पर रख दें, जिससे मैं अपने पवित्रतम कर्त्तव्य का पालन करूँ।

सिन्दूरासुर का वध– पुलकित महर्षि पराशर ने अपने प्राणप्रिय गजानन के मस्तक पर स्नेहपूरित वरद हस्त रखा तो उनके नेत्र सजल हो गये। अवरुद्ध कण्ठ से उन्होंने कहा– 'चन्द्रचूड़ तुम्हें विजय प्रदान करें।' अन्ततः गजानन ने सिन्दुरासुर का वध कर संसार को उसके अत्याचारों से मुक्ति दिलाई।

इस प्रकार महर्षि पराशर के साथ उनकी पत्नी वत्सला द्वारा गजानन के लालन–पालन का प्रसंग यह सुनिश्चित करने में सहायक है कि महर्षि पराशर की धर्मपत्नी का नाम वत्सला था, जिनका अन्य स्नेहवाची नाम घृताची अथवा काली भी होना संभव है।

❑❑❑

५

शुकदेव

शुकदेव के आविर्भाव तथा जीवन–वृत्त के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत महापुराण, महाभारत, हरिवंश पुराण, वायु पुराण, लिंग पुराण, स्कन्द पुराण, कूर्म पुराण, मत्स्य पुराण, सौर पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण एवं देवी भागवत आदि अनेकानेक पौराणिक ग्रंथों में प्रभूत वैविध्यपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है।

कथाक्रम में कहीं शुकदेव को असंग या वीतराग बताया गया है तो कहीं उनके संतान होना बताया गया है। यह ऐसी विसङ्गति है जो उनके सम्बन्ध में सोचने के लिए बाध्य करती है कि निश्चय ही उक्त पौराणिक ग्रंथों में वर्णित एक से अधिक शुकदेव भिन्न–भिन्न समय में हुए हैं।

उपर्युक्त ग्रंथों के परिशीलन से प्रथमदृष्ट्या निम्न शुकदेव मुनियों का वृत्तान्त मिलता है –

१. अमर कथा के श्रोता–शुकदेव,
२. चेटिका/वटिका के गर्भ से उत्पन्न शुकदेव,
३. छाया शुकदेव,
४. आरणेय शुकदेव, तथा
५. पूर्वकाल के शुकदेव।

१. अमरकथा श्रवण करने वाले शुकदेव

अमर कथा श्रवण करने वाले शुकदेव के सम्बन्ध में कतिपय ग्रन्थों में कुछ अन्तर दिखाई देता है, परन्तु मूल–कथा के प्रयोजन एवं परिणाम में विशेष वैषम्य नहीं आता।

शुकदेव आश्रम से प्रकाशित मुख–पत्र में उक्त शुकदेव जी के विषय में निम्न विवरण प्राप्त होता है–

"द्वितीय शुकदेव के विषय में कहा जाता है किसी काल में श्री महादेव जी ने पार्वती जी को अमर कथा सुनाई। उस समय सुनते–सुनते पार्वती जी को नींद आ गई। परन्तु वटवृक्ष की कोटर में बैठा हुआ शुक पक्षी कथा को सुनता

रहा और हुँकार देता रहा। जब पार्वती जी निद्रा से सचेत हुईं तो उन्होंने शिवजी से कहा कि मुझे तो नींद आ गई थी आपने कहाँ तक कथा कही? तब शंकर जी ने विचार किया कि जब पार्वती जी सो रही थीं तब हुँकार शब्द कौन करता रहा था? उन्होंने इधर-उधर देखा और ज्ञात हुआ कि वटवृक्ष में बैठा हुआ शुक पक्षी कथा सुनता रहा है और हुँकार देता रहा है अतः यह अमर हो जायेगा।

वे तत्काल उस शुक पक्षी को मारने दौड़े। असहाय शुक भयभीत होकर उड़ गया और श्री व्यास-पत्नी के उदर में जाकर छिप गया । १२ वर्ष पश्चात् उसका जन्म हुआ और वह शुक देव नाम से जगत में प्रसिद्ध हुआ।[१]

कल्याण के सन्त अङ्क में उक्त प्रसङ्ग का संक्षेप में निम्न प्रकार उल्लेख किया गया है-[२]

एक समय पार्वती ने जिज्ञासा की कि 'प्रभो! आप मुझे श्रीकृष्ण सम्बन्धी कथा सुनावें। क्योंकि आप उन्हीं का स्मरण-चिन्तन निरन्तर किया करते हैं।' महादेव ने कहा - 'बड़ी गोपनीय बात है। देख लो, कोई दूसरा तो नहीं है? पार्वती ने देखकर कह दिया- 'हाँ कोई दूसरा नहीं है।' वहाँ एक तोते का सड़ा हुआ अंडा अवश्य पड़ा था; परन्तु वह मर गया था, इससे पार्वती ने उसकी चर्चा ही नहीं की। महादेव ने कहा-'अच्छा! हुँकार भरती जाना'। वे कहने लगे। दशम् स्कन्ध तक तो वे सुनती गयीं ओर स्वीकारोक्ति (ओम्) का उच्चारण भी करती गईं। परन्तु अन्त में उन्हें नींद आ गयी। अब तक वह पक्षी का अंडा भागवतामृत का पान करके जीवित हो उठा था। पार्वती को निद्रित देखकर उसने हुँकार भरनी शुरू की। अन्त में जब पार्वती की नींद का पता चला तब महादेव ने उस शुक का पीछा किया। वह भागकर व्यासदेव के आश्रम पर आया और व्यास-पत्नी के मुख में प्रवेश कर गया। महादेव तो लौट गये, फिर यही शुक व्यासदेव के अयोनिज पुत्र के रूप में प्रकट हुए।

२. चेटिका/वटिका के गर्भ से उत्पन्न शुकदेव

व्यास जी की पिंगला नामक पत्नी से शुकदेव जी के जन्म का प्रसंग आता है। कहीं-कहीं उनकी भार्या का नाम चेटिका भी कहा जाता है। व्यास जी के इस पुत्र का जन्म जाबालि की पुत्री चेटिका से विवाह के फलस्वरूप बताया गया है। इस प्रथम पुत्र के वैराग्य धारण कर लेने के कारण वन-गमन के उपरान्त चेटिका ने महादेव जी की तपस्या द्वारा एक दूसरा कपिंजल नामक पुत्र प्राप्त

---

१. शुकतीर्थ सन्देश - श्री शुकदेव आश्रम, पो० शुकतार, जिला मुजफ्फरनगर (उ.प्र.), वर्ष १, अङ्क १, पृ० ३१.

२. कल्याण - सन्त अङ्क वर्ष १२ (१९३७), पृ. २५४-२५५.

किया। इस विषय में स्कन्द पुराण [१] में वर्णित कथा-क्रम किंचित् विस्तारपूर्वक निम्न प्रकार है-

सूतजी कहते हैं - वहीं पर चटकेश्वर नामक महादेव जी हैं, जो मनुष्यों को पुत्र प्रदान करने वाले हैं। पूर्वकाल में चेटिका ने वहाँ तप किया था, उसने व्यास से कपिञ्जल नामक पुत्र पाया था। एक समय की बात है, शान्तचित्त महात्मा व्यास जी के मन मे पत्नी के लिये अभिलाषा हुई। तब उन्होंने जाबालि मुनि से उनकी सुन्दर कन्या माँगी। जाबालि ने चेटिका नाम की कन्या व्यास जी के साथ ब्याह दी। तब व्यास जी उसके साथ वन में रहते हुए मैथुन में प्रवृत्त हुए। ऋतुकाल में सत्यवतीनन्दन व्यास से मैथुन प्राप्त करके चेटिका गर्भवती हुई। उसका दूसरा नाम पिङ्गला भी था। उसके उदर में वह गर्भ दिन-दिन पुष्ट होने लगा। बारह वर्ष बीत गये, किन्तु वह गर्भ उत्पन्न नहीं हुआ। वह भीतर ही रहकर जो कुछ सुनता उसे याद कर लेता था, उसकी बुद्धि बड़ी प्रखर थी। उसने गर्भ में रहते हुए ही अङ्गों सहित सम्पूर्ण वेद पढ़ लिये। स्मृति, पुराण तथा मोक्षशास्त्र का वह दिन-रात पूर्णरूपेण पाठ करता था। वह गर्भ में ज्यों-ज्यों वृद्धि को प्राप्त होता, त्यों-त्यों उसकी माता अत्यन्त पीड़ा को प्राप्त होकर व्याकुल होती जाती थी। तब विस्मय में पड़े हुए व्यास जी ने उस गर्भस्थ बालक से पूछा -'तुम कौन हो, गर्भ का रूप धारण करके मेरी धर्मपत्नी की कुक्षि में आ बैठे हो? बाहर क्यों नहीं निकलते?'

गर्भ बोला - जो चौरासी लाख योनियाँ बतायी गयी हैं, उन सबमें मैंने भ्रमण किया है। अत: नैं क्या बताऊँ कि कौन हूँ। भयङ्कर संसार में भ्रमण करते-करते मुझे बड़ा निर्वेद (वैराग्य) हुआ है। इस समय मनुष्य होकर इस उदर में आया हूँ। अब मेरा विचार मनुष्य लोक में निकलने का नहीं है। यहीं रहकर योगाभ्यास में तत्पर हो मोक्षमार्ग को प्राप्त होऊँगा।

व्यास जी ने कहा- वत्स! यदि तुम्हारी ऐसी अभिलाषा है, तो तुम्हें पाप नहीं लगेगा। इस गर्भवास रूपी घृणित एवं घोर नरक से निकल आओ और योग का आश्रय लेकर कल्याण को प्राप्त होओ।

गर्भ बोला - विप्रवर! जब तक जीव गर्भ में रहता है, तभी तक उसे ज्ञान, वैराग्य तथा पूर्वजन्म का स्मरण बना रहता है। जब वह गर्भ से निकलता है और भगवान् विष्णु की माया उसे स्पर्श करती है, तब सारा ज्ञान भूल जाता है। इसलिये मैं इस गर्भ से किसी तरह बाहर नहीं निकलूँगा।

व्यास जी ने कहा - वैष्णवी माया तुम पर किसी प्रकार भी प्रभाव नहीं

---

१. कल्याण - संक्षिप्त स्कन्दपुराणाङ्क वर्ष २५, १९५१ पृष्ठ ८९८-९००.

डालेगी। अतः तुम मुझे अपना मुख दिखाओ।

तदनन्तर बारह वर्ष के कुमार शुक, जो यौवन के समीप पहुँच चुके थे, गर्भ से बाहर निकले और व्यास तथा माता को प्रणाम करके उसी क्षण वनवास के लिए प्रस्थित हुए। तब मुनिवर व्यास ने कहा–'बेटा! मेरे घर में ठहरो; जिससे तुम्हारे जातकर्म आदि संस्कार तो कर दूँ।'

शुकदेव बोले – मेरे जन्म–जन्म में सैकड़ों संस्कार हो चुके हैं। उन्हीं बन्धनात्मक संस्कारों ने मुझे भवसागर में डाल रक्खा है।

व्यास जी ने कहा – द्विज के बालक को पहले ब्रह्मचारी, फिर गृहस्थ, तत्पश्चात् वानप्रस्थी और अन्त में संन्यासी होना चाहिये। इसके बाद वह मोक्ष को प्राप्त होता है।

शुकदेव जी बोले – यदि ब्रह्मचर्य से ही मोक्ष होता है, तब तो नपुंसकों को वह सदा ही प्राप्त होना चाहिये। यदि गृहस्थाश्रमियों की मुक्ति होती है, तब तो सम्पूर्ण जगत् को ही मुक्त हो जाना चाहिये। यदि कहें, वनवास में अनुरक्त रहनेवालों की मुक्ति होती है, तब तो मृगों की मुक्ति अवश्य हो जानी चाहिये। यदि आपका यह विचार हो कि संन्यास–धर्म का पालन करने वाले मनुष्यों का मोक्ष होता है, तब तो जितने दरिद्र मनुष्य हैं, उन सबकी मुक्ति पहले हो जानी चाहिये।

व्यास जी ने कहा – मनुजी का कथन है कि गृहस्थ–धर्म में अनुरक्त हो सन्मार्ग पर चलने वाले मानवों के लिये यह लोक और परलोक दोनों सुखद होते हैं। गृहस्थाश्रमी पुरुषों के द्वारा गृहस्थ–धर्म का पालन करने के लिये जो संग्रह किया जाता है, वह इहलोक और परलोक में भी सनातन सुख प्रदान करता है।

शुकदेव जी बोले – दैवयोग से कभी अग्नि से भी शीतलता प्राप्त हो सकती है, चन्द्रमा से भी ताप हो सकता है; परन्तु इस मर्त्यलोक में परिग्रह से भी सुख की उत्पत्ति हो, ऐसा न तो कभी हुआ है, न होता है और न आगे कभी होगा ही।

व्यास जी ने कहा – बहुत पुण्य होने से किसी प्रकार इस पृथ्वी पर अत्यन्त दुर्लभ मानव जन्म की प्राप्ति होती है। उसे पाकर यदि मनुष्य गृहस्थ धर्म का तत्त्व जानने वाला हो, तो उसे क्या नहीं मिल जाता?

शुकदेव जी बोले – यदि मनुष्य जन्मकाल में अपनी अवस्था को देखकर ज्ञानयुक्त होता है, तो जन्म लेने के पश्चात् वह सारा ज्ञान भूल जाता है।

व्यास जी ने कहा – मनुष्य का पुत्र हो अथवा गदहे का बच्चा, जब वह शरीर में धूल लपेटे, चञ्चल गति से चलता और तोतली वाणी बोलता है, तब उसका वह शब्द भी लोगों के लिये बड़ा आनन्ददायक होता है।

शुकदेव जी बोले – मुने! धूल में रेंगते और लोटते हुए अपवित्र शिशु से जो यहाँ सन्तुष्ट होते या सुख का अनुभव करते हैं, वे अज्ञानी हैं।

व्यास जी ने कहा – यमलोक में पुं नामक महा भयङ्कर नर्क है, पुत्रहीन मनुष्य ही उसमें जाता है। इसलिये पुत्र की प्रशंसा की जाती है।

शुकदेव जी बोले – महामुने! यदि पुत्र से ही सब लोगों को स्वर्ग की प्राप्ति होती, तब तो सूअरों, कुत्तों और टिड्डियों को विशेष रूप से उसकी प्राप्ति होनी चाहिये?

व्यास जी ने कहा – पुत्र के दर्शन से मनुष्य पितृ-ऋण से मुक्त होता है, पौत्र के दर्शन से वह देव-ऋण से मुक्त होता है और प्रपौत्र को भी देख ले, तब तो वह स्वर्ग का निवासी होता है।

शुकदेव जी बोले – गीध दीर्घजीवी होता है, वह सदा अपनी कई पीढ़ी की सन्तानों को क्रमशः देखता है; किंतु क्या वह मोक्ष को प्राप्त हो जाता है?

सूत जी कहते हैं – इस प्रकार कहकर शुकदेव जी वन में चले गये।

अपने पुत्र शुक को गृहस्थी की ओर से निःस्पृह देख चेटिका ने दुखी होकर व्यास जी से कहा – द्विजश्रेष्ठ! मुझे आज्ञा दीजिये, जिससे मैं पुत्र के लिये तपस्या करूँ और उसके द्वारा महादेव जी को सन्तुष्ट करूँ, जिससे मुझे वंश की वृद्धि करने वाला श्रेष्ठ पुत्र प्राप्त हो। ऐसा निश्चय करके व्यास जी की आज्ञा पाकर पतिव्रता चेटिका ने हाटकेश्वर क्षेत्र में जा तपस्या प्रारम्भ की। उसने भगवान् शङ्कर की स्थापना करके उनके आगे निर्मल जल से भरी हुई एक विशाल वापी निर्माण करायी, जो स्नान करने मात्र से समस्त पातकों का नाश करने वाली है। तदनन्तर उसकी तपस्या से सन्तुष्ट होकर त्रिपुरारि महादेव जी ने प्रत्यक्ष दर्शन दिया और कहा – 'सुव्रते! वरदान माँगो।'

चेटिका बोली – सुरश्रेष्ठ! मुझे ऐसा पुत्र दीजिये, जो मेरे वंश की वृद्धि करनेवाला, सदा ही मित्रों को आनन्द देने वाला, सुशील तथा विनयी हो।

श्रीमहादेवजी ने कहा – शोभने! तुमने जैसे पुत्र के लिये प्रार्थना की है, वैसा ही पुत्र तुम्हें प्राप्त होगा, इसमें सन्देह नही है। ऐसा कहकर महादेव जी अन्तर्धान हो गये और चेटिका ने व्यास जी से कपिञ्जल नामक पुत्र प्राप्त किया

छाया शुक के रूप में जिस दूसरे पुत्र का उल्लेख आता है, वह यही कपिञ्जल नामक व्यास जी का पुत्र होना सम्भव है।

वटिका के गर्भ से १२ वर्ष में शुकदेव का जन्म[१] – शुकदेव की

१. कल्याण – सन्त अङ्क, वर्ष १२ (१९३७), पृ० २५४.

उत्पत्ति की एक अन्य कथा भी है, जिसमें व्यास जी की पत्नी का नाम वटिका बताया गया है। उन्होंने व्यासदेव की अनुमति से पुत्र प्राप्ति के लिए बड़ी तपस्या की। उससे प्रसन्न होकर शंकर ने वर दिया कि तुम्हें एक बड़ा तेजस्वी पुत्र प्राप्त होगा। समय पर गर्भस्थिति हुई, परन्तु बारह वर्ष हो गये, प्रसव नहीं हुआ। वह गर्भस्थ शिशु बातचीत भी करता था। इतना ही नहीं, उसने गर्भ में ही वेद, उपनिषद्, दर्शन, इतिहास, पुराण आदि का सम्यक् ज्ञान भी प्राप्त कर लिया। अब व्यासदेव ने बालक से बड़ी प्रार्थना की कि गर्भ से बाहर निकल आओ, परन्तु उन्होंने यह कहकर गर्भ से बाहर आना अस्वीकार कर दिया कि 'मैंने अब तक अनेक योनियों में जन्म ग्रहण किया है। बहुत भटक चुका हूँ। अब बाहर न निकलकर यहीं भजन करने का विचार है।' व्यासदेव ने कहा- 'तुम नरक रूप इस गर्भ से बाहर आ जाओ। तुम माया के चक्कर में न पड़ोगे। योग का आश्रय लो। भगवान् का भजन करो। तुम्हारा मुख देखकर मैं भी पितृ-ऋण से मुक्त हो जाऊँगा। अन्यथा तुम्हारी माँ मर जावेगी। माँ के मरने की बात सुनकर शुकदेव को दया आ गयी। उनका कोमल हृदय पिघल उठा। उन्होंने कहा- 'यदि श्रीकृष्ण आकर तुम्हारी बातों का समर्थन करें तो मैं निकल सकता हूँ।' इसी बहाने उन्होंने जन्म के समय ही अपने पास श्रीकृष्ण को बुला लिया। व्यास जी की प्रार्थना से श्रीकृष्ण ने आकर कहा कि 'गर्भ से निकल आओ। मैं इस बात का साक्षी हूँ कि माया तुम पर कारगर नहीं होगी।' वे गर्भ से निकल आये। उस समय उनकी अवस्था बारह वर्ष की थी। जन्मते ही श्रीकृष्ण, माँ और पिता को नमस्कार करके उन्होंने जंगल की यात्रा की। उनके श्याम वर्ण के सुगठित, सुकुमार और सुन्दर शरीर को देखकर व्यासदेव मोहित हो गये। उन्होंने बड़ी चेष्टा की, बहुत समझाया कि तुम मेरे पास ही रहो, परन्तु शुकदेव ने एक न मानी। उक्त समस्त वार्तालाप एवं तर्क-वितर्क के पीछे इहलोक की निस्सारता सिद्ध करना भर प्रतीत होता है। यहाँ द्विज या पक्षि-शावक की गर्भावस्था के प्रतीकात्मक अर्थ को अतिरञ्जना पूर्ण बना दिया गया लगता है। परन्तु इस प्रसंग के माध्यम से व्यक्त ज्ञान यथार्थ है। शुक पक्षी एवं उसके १२ वर्ष गर्भ-काल का वास्तविक तात्पर्य अन्यत्र प्रसंगानुसार स्पष्ट किया गया है।

श्रीमद्भागवत महापुराण में शुकदेव - श्रीमद्भागवत पुराण में शुकदेव जी के जन्मादि के सम्बन्ध में साङ्गोपाङ्ग विवरण न होकर स्थान-स्थान पर सूत्र अथवा संक्षिप्त रूप में विवरण प्राप्त होता है।

श्रीमद्भागवत माहात्म्य के अनुसार भी श्री शुकदेव १२ वर्ष ही गर्भ में रहे थे, जो एक ब्राह्मणी के कथा-प्रसङ्ग से स्पष्ट है। धुन्धुली नामक एक ब्राह्मणी किसी संन्यासी द्वारा प्रदत्त फल के खाने से गर्भ-धारण के वरदान से डर गई

और सोचने लगी-

दैवाद् घाटी व्रजेद्ग्रामे पलायेद्गर्भिणी कथम्।
शुकवन्निवसेद्गर्भस्तं कुक्षेः कथमुत्सृजेत्॥४६॥

श्री मद्भा० माहा० ४/४६

अर्थात् दैववश यदि कहीं गाँव में डाकुओं का आक्रमण हो गया तो गर्भिणी स्त्री कैसे भागेगी? यदि शुकदेव जी की तरह यह गर्भ भी पेट में ही रह गया तो इसे बाहर कैसा निकाला जायेगा?

श्रीमद्भागवत महापुराण में शुकदेव जी के सम्बन्ध में सन्दर्भ आया है कि शुकदेव बिना यज्ञोपवीत संस्कार आदि सम्पन्न कराये ही वन-गमन कर गये।

जिस समय शुकदेव जी का यज्ञोपवीत-संस्कार भी नहीं हुआ था तथा लौकिक-वैदिक कर्मों के अनुष्ठान का अवसर भी नहीं आया था, तभी उन्हें अकेले ही संन्यास लेने के उद्देश्य से घर से जाते देखकर उनके पिता व्यास जी कृष्ण द्वैपायन विरह से कातर होकर पुकारने लगे-'बेटा! बेटा! तुम कहाँ जा रहे हो? उस समय वृक्षों ने तन्मय होने के कारण श्रीशुकदेव जी की ओर से (शुकोऽहम् शुकोऽहम्) उत्तर दिया था। ऐसे सर्वभूत हृदयस्वरूप श्री शुकदेव मुनि को नमस्कार-'

यं प्रव्रजन्तमनुपेतमपेतकृत्यं
द्वैपायनो विरहकातर आजुहाव।
पुत्रेति तन्मयतया तरवोऽभिनेदुस्तं
सर्वभूतहृदयं मुनिमानतोऽस्मि॥२॥

श्रीमद्भा० १/२/२

श्रीमद्भागवत में शुकदेव के वीतराग होने की घटना का उल्लेख है। जब शुकदेव बिना कोई संस्कार सम्पन्न कराये ही वन की ओर गमन कर गये, उनके पीछे-पीछे वेदव्यास जी भी उन्हें पुकारते हुये शोक विह्वल मन से भागने लगे। कुछ स्त्रियाँ जल में स्नान कर रही थीं, उन्होंने नग्न शुकदेव को देखकर वस्त्र-धारण कर अपने शरीर को छिपाने का प्रयास नहीं किया, परन्तु व्यास जी को देखकर लज्जा के मारे वस्त्र पहन लिये। इस घटना से व्यास जी बहुत आश्चर्यचकित एवं लज्जित हुये। इस सम्बन्ध में निम्न श्लोक अवलोकनीय है-

तस्य पुत्रो महायोगी समदृङ्निर्विकल्पकः।
एकान्तमतिरुन्निद्रो गूढो मूढ इवेयते॥४॥

दृष्ट्वानुयान्तमृषिमात्मजमप्य नग्नं
देव्यो ह्रिया परिदधुर्न सुतस्य चित्रम्।
तद्वीक्ष्य पृच्छति मुनौ जगदुस्तवास्ति
स्त्रीपुम्भिदा न तु सुतस्य विविक्त दृष्टेः ॥५॥

श्रीमद्भा० पु० १/४/४-५

अर्थात् उनके (व्यास जी के) पुत्र शुकदेव जी बड़े योगी, समदर्शी, भेदभाव रहित, संसार-निद्रा से जगे एवं निरन्तर एकमात्र परमात्मा में ही स्थित रहते हैं। वे छिपे रहने के कारण मूढ़-से प्रतीत होते हैं। व्यास जी जब संन्यास के लिये वन की ओर जाते हुये अपने पुत्र का पीछा कर रहे थे, उस समय जल में स्नान करने वाली स्त्रियों ने नग्न शुकदेव को देखकर तो वस्त्र धारण नहीं किये, परन्तु वस्त्र पहने हुये व्यास जी को देखकर लज्जा से कपड़े पहन लिये थे। इस आश्चर्य को देखकर जब व्यास जी ने उन स्त्रियों से इसका कारण पूछा, तब उन्होंने उत्तर दिया कि आपकी दृष्टि में तो स्त्री-पुरुष का भेद बना हुआ है, परन्तु आपके पुत्र की शुद्ध दृष्टि में यह भेद नहीं है।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत के अनुसार शुकदेव जी वैराग्य-भाव धारण कर वन-गमन कर गये, फिर भी वे गृहस्थों के घरों को तीर्थ-स्वरूप बना देने के लिये उतनी ही देर उनके दरवाजे पर रहते हैं, जितनी देर में एक गाय दुही जाती है-

स गोदोहनमात्रं हि गृहेषु गृहमेधिनाम्।
अवेक्षते महाभागस्तीर्थी कुर्वंस्तदाश्रमम् ॥८॥

श्रीमद्भागवत १/४/८

३. छाया शुकदेव

शुकतीर्थ-सन्देश [१] में छाया शुकदेव के सम्बन्ध में संक्षिप्त विवरण आया है-

"तृतीय शुकदेव जी छाया शुकदेव के रूप में जाने जाते हैं। कहा जाता है कि अग्नि से प्रकट होकर शुकदेव जी वन को जाने लगे तो व्यास जी बहुत विरहातुर हुये, यह देखकर शुकदेव जी ने अपनी परछाई का एक रूप प्रकट करके व्यास जी को दिया। कहा जाता है कि उनका विवाह भी हुआ और इनकी पत्नी ने एक कन्या को भी जन्म दिया था, उसका विवाह किसी ऋषि-पुत्र से हुआ था।"

---

१. शुकतीर्थ सन्देश - श्री शुकदेव आश्रम, पो० शुकतार, जिला मुजफ्फरनगर (उ.प्र.), वर्ष १, अङ्क १, पृ० ३१.

श्रीमद्भागवत महापुराण के नवम स्कन्ध के निम्न श्लोक में शुक-कन्या कृत्वी से नीप के विवाहादि का प्रसङ्ग आया है। परन्तु कोष्ठक में छाया शुक का उल्लेख किया है-

स कृत्व्यां शुककन्यायां ब्रह्मदत्तमजीजनत्।
स योगी गवि भार्यायां विष्वक्सेनमधात् सुतम्॥२५॥

श्रीमद्भागवत ९/२१/२५

अर्थात् नीप ने (छाया) शुक की कन्या कृत्वी से विवाह किया था, उससे ब्रह्मदत्त नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।

व्याख्या के नीचे पाद-टिप्पणी में छाया शुक का विवरण देते हुये यह कहा गया कि शुकदेव जी असङ्ग थे, पर वे वन में जाते समय एक छाया शुक रचकर छोड़ गये थे। उस छाया शुक ने ही गृहस्थोचित व्यवहार किये थे।[१] इन्हीं शुक की कन्या कृत्वी के एक पुत्र ब्रह्मदत्त हुये, ब्रह्मदत्त बड़े योगी थे, उन्होंने अपनी पत्नी सरस्वती के गर्भ से विष्वकसेन नामक पुत्र उत्पन्न किया।

महाभारत में छाया शुक का वर्णन - महाभारत में छाया शुक का वर्णन आया है कि जब शुकदेव ब्रह्मभूत होकर अन्तरिक्ष-गमन के लिये कैलाश की ओर प्रस्थान कर गये तब उनके पीछे-पीछे शोकाकुल होकर वेदव्यास जी भी गये और ऋषियों से अपने पुत्र के ऊर्ध्व गमन का वृत्तान्त सुनकर बड़े जोर से रुदन करने लगे-

शशंसुर्ऋषयस्तत्र कर्म पुत्रस्य तत् तदा।
ततः शुकेति दीर्घेण शब्देनाक्रन्दितस्तदा॥२२॥

महा० शां० प० ३३३/२२

तब शोकार्त वेदव्यास जी को ढाढस बंधाते हुये भगवान् शंकर ने कहा कि महामुने! तुम मेरे प्रसाद से इस जगत् में सदा अपने पुत्र सदृश छाया का दर्शन करते रहोगे, वह सब ओर दिखाई देगी, कभी तुम्हारी आँखों से ओझल न होगी-

छायां स्वपुत्रसदृशीं सर्वतोऽनपगां सदा।
द्रक्ष्यसे त्वं च लोकेऽस्मिन् मत्प्रसादान्महामुने॥३८॥

महा० शां० प० ३३३/३८

४. आरणेय अथवा अरणी से प्रादुर्भूत शुकदेव

महाभारत एवं विभिन्न पुराणों में शुकदेव जी का आविर्भाव अरणि से

१. श्रीमद्भागवत महापुराण ९/२१/२४-२५ की पाद टिप्पणी, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ० ९५.

बताया गया है। इस सम्बन्ध में दो प्रकार की अरणी/अरणि का उल्लेख आता है। कई ग्रन्थों में अरणि-काष्ठ के मंथन से यज्ञाग्नि उत्पन्न करते समय उस काष्ठ पर वीर्यपात् से शुकदेव जी का जन्म बताया जाता है। कतिपय पुराणकारों एवं टीकाकारों ने व्यास जी की पत्नी का नाम अरणी भी बताया है।

पौराणिक कोश[१] की निम्न व्याख्या इस विषय में विशेष रूप से उल्लेखनीय है-

अरणि - (१) यज्ञ में अग्नि उत्पन्न करने के लिए अश्वत्थ और शमी के यज्ञीय काष्ठ के दो टुकड़े जो अधरारणि और उत्तरारणि कहे जाते हैं। भाग० ३/२७/२३; विष्णु० ४.६.८७-९०; वायु० ९१.४४। (२) द्वैपायन (व्यास) की पत्नी तथा शुकदेव की माता का नाम (ब्रह्मा० पु० ३.८.९२; १०.७९-८०; वायु पु० ७०.८४)।

अरणीसुत (अरणिसुत) - शुकदेव का एक नाम। ऐसा लिखा है कि व्यास जी का वीर्यपात अरणी पर हुआ था, जिससे शुकदेव जी की उत्पत्ति हुई। ब्रह्माण्ड और वायु पुराण के उपर्युक्त उद्धरणों के अनुसार अरणी या अरणि कृष्ण द्वैपायन (व्यास) जी की पत्नी थी, उन्हीं के गर्भ से शुकदेव जी की उत्पत्ति हुई, इसीलिए वे अरणी पुत्र या आरणेय कहे जाते हैं।

अरणिः काष्ठ-अर्थ में - वायु पुराण के निम्न श्लोक में अरणि से तात्पर्य काष्ठ लिया गया है-

तमादाय कुमारं तु नगरायोपचक्रमे।
निक्षिप्य तमरण्यां च सपुत्रस्तु गृहान्ययौ ॥४४ ॥

वायु पु० ९१/४४

अर्थात् तदनन्तर राजा पुरूरवा ने उर्वशी के गर्भ से समुत्पन्न बालक को लेकर नगर को चलने का उपक्रम किया और उस अग्नि को अरणि में रखकर पुत्र सहित अपने घर को चला गया।

महाभारत के निम्न श्लोक में अरणि का अर्थ काष्ठ ही प्राप्त होता है-

स लब्ध्वा परमं देवाद् वरं सत्यवतीसुतः।
अरणी सहिते गृह्य ममन्थाग्निचिकीर्षया ॥१ ॥

महा० शां० प० ३२४/१

अर्थात् महादेव जी से उत्तम वर पाकर एक दिन सत्यवतीनन्दन कृष्ण

---

१. पौराणिक कोश - राणाप्रसाद शर्मा, १९८६ संस्करण, पृ. २९.

द्वैपायन अग्नि प्रकट करने की इच्छा से दो अरणी काष्ठ लेकर उनका मन्थन करने लगे।

विष्णु पुराण के निम्न उद्धरण से भी अरणि का अर्थ काष्ठ ही होता है-

तदेनमेवाहमग्निरूपमादाय स्वपुरमभिगम्यारणीं कृत्वा
तदुत्पन्नाग्नेरुपास्तिं करिष्यामीति॥

विष्णु पु० ४/६/८७

अर्थात् इस अग्नि रूप अश्वत्थ को अपने नगर में ले जाकर इसकी अरणि बना कर उससे उत्पन्न हुये अग्नि की ही प्रार्थना करूँ।

पौराणिक कोश में शुकदेव का जन्म अरणी नामक स्त्री से होने सम्बन्धी ब्रह्माण्ड पुराण के निम्न श्लोक का सन्दर्भ दिया गया है-

काल्यां पराशराज्जज्ञे कृष्ण द्वैपायनः प्रभुः।
द्वैपायनादरण्यां वै शुको जज्ञे गुणान्वितः॥

ब्रह्मा० पु० उपो० पादः ३/८/९२

अर्थात् पराशर से काली में कृष्ण द्वैपायन भगवान हुये तथा द्वैपायन से अरणी नामक स्त्री में गुणज्ञ श्री शुकदेव उत्पन्न हुये।

वायु पुराण के निम्न श्लोक में भी इसी प्रकार शुकदेव का जन्म अरणी नामक स्त्री से माना है, जो ब्रह्माण्ड पुराण के उपर्युक्त श्लोक के लगभग समान है-

कालीं पराशराज्जज्ञे कृष्ण द्वैपायनं प्रभुम्।
द्वैपायनादरण्यां वै शुको जज्ञे गुणान्वितः॥

वायु० पु० ७०/८४

अर्थात् काली ने पराशर के संयोग से परम ऐश्वर्यशाली कृष्ण द्वैपायन को उत्पन्न किया। द्वैपायन के संयोग से अरणी में परम गुणवान् शुकदेव की उत्पत्ति हुई।

कल्याण के सन्त अङ्क में वेदव्यास जी द्वारा अरणि-मंथन करते समय उत्पन्न शुकदेव के सम्बन्ध में संक्षेप में विवरण दिया गया है-[१]

एक दिन वे अरणि मन्थन कर रहे थे। उसी समय घृताची अप्सरा वहाँ आ गयी। संयोग ही ऐसा था, या यों कहें कि यही बात होने वाली थी, उनका वीर्य अरणि में ही गिर पड़ा। उसी से शुकदेव का जन्म हुआ। उनके शरीर से

१. कल्याण - सन्त अङ्क, वर्ष १२ (१९३७), पृ० २५३.

निर्धूम अग्नि की भाँति निर्मल ज्योति फैल रही थी। वे उस समय बारह वर्ष के बालक की भाँति थे। स्त्री रूप धारण करके गंगाजी वहाँ आयीं, बालक को उन्होंने स्नान कराया। आकाश से काला मृगचर्म और दण्ड आया। गन्धर्व, अप्सरा, विद्याधर आदि गाने, बजाने और नाचने लगे। देवताओं ने पुष्पवर्षा की। सारा संसार आनन्दमग्न हो गया। भगवान् शंकर और पार्वती ने स्वयं पधारकर उनका उपनयन-संस्कार कराया। उसी समय सारे वेद, उपनिषद्, इतिहास आदि मूर्त्तिमान होकर उनकी सेवा में उपस्थित हुए। अब वे ब्रह्मचारी होकर तपस्या करने लगे। उनकी प्रवृत्ति धर्म, अर्थ और काम की ओर न थी; वे केवल मोक्ष का ही विचार करते रहते थे।

देवी भागवत के अनुसार शुकदेव - देवी भागवत के अनुसार सत्यवती-पुत्र कृष्ण द्वैपायन व्यास द्वारा मेरु पर्वत पर पुत्र-प्राप्ति की कामना से कठोर तपस्या की गई। उनकी तपस्या से इन्द्र भयभीत हो उठा तथा भगवान् शिव ने इन्द्र का भय यह कह कर दूर किया कि वे पुत्र-प्राप्ति हेतु तपस्या में रत हैं-[१]

मेरुश्रृंगे महारम्ये व्यासः सत्यवती सुतः।
तपश्चचार सोऽत्युग्रं पुत्रार्थं कृतनिश्चयः॥१॥

जपन्नेकाक्षरं मन्त्रं वाग्बीजं नारदाच्छ्रुतम्।
ध्यायन्परां महामायां पुत्रकामस्तपोनिधिः॥२॥

अतिष्ठत्स गताहारः शतसवत्सरः प्रभुः।
आराधयन्महादेवं तथैव च सदाशिवम्॥३॥

ततोऽस्य तेज आलक्ष्य भयमाप शचीपतिः।
तुरासाहं ततो दृष्ट्वा भयत्रस्तं श्रमातुरम्॥४॥

उवाच भगवान् रुद्रो मघवंतं तथा स्थितम्।
कथमिन्द्राद्य भीतोऽसि किं दुःखं ते सुरेश्वर॥५॥

अमर्षो नैव कर्त्तव्यस्तापसेषु कदाचन।
तपश्चरन्ति मुनयो ज्ञात्वा मां शक्तिसंयुतम्॥६॥

न त्वेतेऽहितमिच्छन्ति तापसाः सर्वथैव हि।
इत्युक्तवचनः शक्रस्तमुवाच वृषध्वजम्॥७॥

कस्मात्तपस्यति व्यासः कोऽर्थस्तस्य मनोगतः।
पाराशर्यस्तु पुत्रार्थी तपश्चरति दुश्करम्॥८॥

---

१. देवी भागवत - प्रथम खण्ड, पं. श्री राम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९९७, पृ. ६४-६५.

अर्थात् पुत्र प्राप्ति का निश्चय करके व्यासजी सुमेरु पर्वत की सुरम्य चोटी पर घोर तपस्या करने लगे। नारद जी के कहे अनुसार एकाक्षर वाग्बीज मन्त्र को जपते हुए महामाया का ध्यान करते थे। इस प्रकार उन्होंने निराहार रहकर शिवजी और सदाशिवा भगवती की आराधना की। उनके तप-बल से इन्द्र भयभीत हो उठा। यह देखकर शिवजी ने उससे कहा- हे सुरराज, आप क्यों डर रहे हैं? ऋषिगण शक्तियुक्त होकर तपस्या करते हैं, इसलिये उनके तप से ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये। शिवजी से यह सुनकर इन्द्र कहने लगा। हे भगवान् फिर यह कठोर तपस्या क्यों कर रहे हैं? शिवजी बोले-पुत्र प्राप्ति की कामना से।

कृष्ण द्वैपायन की तपस्या से प्रसन्न होकर महादेव द्वारा उन्हें श्रेष्ठ लक्षण युक्त पुत्र प्राप्त करने का वरदान दिया गया-[1]

पूर्णवर्ष शतं जातं ददाम्यद्य सूतं शुभम्।
इत्युक्त्वा वासवं दयया मुदिताननः॥ ९ ॥
गत्वा ऋषिसमीपं तु तमुवाच जगद्गुरुः।
उत्तिष्ठ वासवीपुत्र पुत्रस्ते भविता शुभः॥१०॥
शूलपाणिं नमस्कृत्य जगामाश्रममात्मनः।
स गत्वाऽऽश्रममेवाशु बहुवर्षश्रमातुरः॥११॥
अरणीसंहितं गुह्यं ममन्थाग्निचिकीर्षया।
मन्थनं कुर्वतस्तस्य चित्ते चिंताभरस्तदा॥१२॥
प्रादुर्बभूव सहसा सुतोत्पत्तौ महात्मनः।
मन्थानारणिसंयोगान्मन्थनाच्च समुद्भवः॥१३॥
पावकस्य यथा तद्वत्कथं मे स्यात्सुतोद्भवः।
पुत्रारणिस्तु या ख्याता सा न विद्यते मम॥१४॥

अर्थात् इनको तपस्या करते सौ वर्ष व्यतीत हो गये हैं, अब मैं इन्हें पुत्र-प्राप्ति का शुभ वर प्रदान करूँगा। यह कहकर शिवजी व्यासजी के पास जाकर बोले- हे वासवीपुत्र, उठो, तुम्हें श्रेष्ठ लक्षण सम्पन्न पुत्र की प्राप्ति होगी। सूतजी बोले कि व्यासजी ने भगवान शङ्कर को प्रणाम किया और अपने आश्रम को चले गये। फिर वे अग्नि प्रकट करने के लिए अरणि मन्थन करने लगे। उस समय उनका मन अत्यन्त चिंतित था। अरणि के संयोग से उत्पन्न अग्नि को देखकर यह विचार करने लगे कि जैसे अरणि मंथन से अग्नि उत्पन्न हुआ, वैसे ही मेरे द्वारा

१. देवी भागवत - प्रथम खण्ड, पं. श्री राम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९९७ पृ० ६५-६६.

पुत्रोत्पत्ति किस प्रकार से हो, क्योंकि मेरे पास पुत्रोत्पत्ति की साधिका अरणि (स्त्री) तो है ही नहीं।

व्यास जी ऊपर के श्लोकों में अरणि-मंथन से अग्नि उत्पन्न करने में संलग्न होकर इस बीच पुत्र की प्राप्ति बाबत चिन्ता करने लगे और सोचने लगे कि मेरे पास पुत्र-उत्पत्ति के उद्देश्य को साधने वाली अरणि तो है ही नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि अरणि नामक स्त्री उस समय उनके पास नहीं रही होगी। परन्तु निम्न श्लोकों में पुत्र-प्राप्ति हेतु अरणि-मंथन करते समय घृताची अप्सरा को देखकर कृष्ण द्वैपायन द्वारा कामासक्त होकर अरणि पर शुक्र-पात का उल्लेख है, जिसमें उपर्युक्त श्लोकों से विरोधाभासी वृत्तान्त दिखाई देता है- [1]

कथं करोम्यहं चात्र दुर्घटं च गृहाश्रमम्।
एवं चिंतयतस्तस्य घृताची दिव्यरूपिणी ॥१५॥
प्राप्ता दृष्टिपथं तत्र समीपे गगने स्थिता।
तां दृष्ट्वा वा चञ्चलापांगीं समीपस्थां वराप्सराम् ॥१६॥
पञ्चबाण परीतांगस्तूर्णमासीद्धृतव्रतः।
चिंतयामास च तदां किं करोम्यद्य सङ्कटे ॥१७॥
दृष्ट्वा तामसितापांगीं व्यासश्चिंतापरोऽभवत्।
किं करोमि न मे योग्या न देवकन्येयमप्सरा ॥१८॥
एवं चिंतयमानं तु दृष्ट्वा व्यासं तदाऽप्सराः।
भयभीता हि संजाता शापं मा विसृजेदयम् ।।१९॥
सा कृत्वाऽथ शुकीरूपं निर्गता भयविह्वला।
कृष्णस्तु विस्मयं प्राप्तो विहङ्गीं तां विलोकयन् ॥२०॥
मन्थनं कृवतस्तस्य मुनेरग्निचिकीर्षया।
अरण्यामेव सहसा चास्य शुक्रमथापतत् ॥२१॥

अर्थात् अब मुझे क्या करना चाहिए। गृहस्थाश्रम का पालन भी अत्यन्त दुष्कर कार्य है। व्यासजी यह सोच ही रहे थे, तभी उन्हें आकाश में घृताची नाम की एक अप्सरा दिखाई दी। तब वे कामबाण से बिद्ध होकर सोचने लगे कि अब मुझे क्या करना चाहिए? सूतजी ने कहा कि उस अप्सरा को देखकर व्यासजी चिन्तित हो उठे। वे सोचने लगे कि यह अप्सरा मेरे योग्य नहीं हो सकती, अब मैं क्या करूँ? वह अप्सरा भी व्यासजी को विचार-मग्न देखकर शाप भय से भीत हो गई और शुकी का रूप धारण करके उड़

१. देवी भागवत - प्रथम खण्ड, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९९७ पृ० ६६-६७.

गई, तब व्यास जी को बड़ा आश्चर्य हुआ। तभी अग्नि की प्राप्ति के लिये अरणि-मन्थन करते समय कामवशात् उनका शुक्र-पात हो गया। इस प्रसंग में अरणि को उनकी पत्नी मान लेने से मंथन के परिणामस्वरूप अरणि के गर्भ में शुक्रपात करने सम्बन्धी शब्दावली वास्तविक मन्तव्य को प्रकट करती है।

शिव के वरदान से व्यास जी को शुकदेव के रूप में पुत्र प्राप्ति होने आदि का निम्न श्लोकों में प्रसङ्ग आया है- [१]

सोऽविचिंत्य तथा पातं ममन्थारणिमेव च।
तस्माच्छुकः समुद्भूतो व्यासाकृतिमनोहरः॥२२॥

विस्मयं जनयन्बालः सजातस्तदरण्यजः।
यथाऽध्वरे समिद्धोऽग्निर्भाति हव्येन दीप्तिमान्॥२३॥

व्यासस्तु सुतमालोक्य विस्मयं परमं गतः।
किमेतदिति संचिंत्य वरदानाच्छिवस्य वै॥२४॥

तेजोरूपो शुको जातोऽप्यरणीगर्भसंभवः।
द्वितीयोऽग्निरिवात्यर्थं दीप्यमानः स्वतेजसा॥२५॥

उत्पन्नमात्रं तं वेदाः सरहस्याः ससंग्रहाः।
उपतस्थुर्महात्मानं यथाऽस्य पितरं तथा॥२६॥

वृहस्पतिमुपाध्यायं कृत्वा व्याससुतस्तदा।
व्रतानि ब्रह्मचर्यस्य चकार विधिपूर्वकम्॥२७॥

अर्थात् इस पर ध्यान दिये बिना ही व्यास जी अरणि मन्थन के कार्य में लगे रहे, जिससे तुरन्त ही व्यास जी के समान आकृति वाले एक शिशु (शुक) की तुरन्त उत्पत्ति हुई। जैसे हव्य प्रदान द्वारा यज्ञ में तेजयुक्त अग्नि उत्पन्न होती है, वैसे ही अरणी से उत्पन्न होने वाले शिशु ने व्यास जी को आश्चर्य चकित कर दिया। उस शिशु को आश्चर्य से देखते हुए व्यास जी सोचने लगे कि संभवतः शिवजी के वरदान से ही यह बालक उत्पन्न हुआ। अरणी से उत्पन्न शुकदेव अत्यन्त तेजस्वी हुए, उनकी दीप्ति अग्नि के समान असाधारण थी। उत्पन्न होते ही उस बालक को रहस्यादि सहित चारों वेद अपने पिता के समान ही कण्ठस्थ हो गये। फिर शुकदेव जी ने देवताओं के गुरु बृहस्पति को गुरु बनाया और उन्होंने विधिवत् ब्रह्मचर्य का पालन किया।

१. देवी भागवत - प्रथम खण्ड, पं. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति संस्थान, बरेली, १९९७ पृ० ६७-६८.

महाभारत में आरणेय शुकदेवः[१]

महाभारत शान्ति पर्व के ३२४ वें अध्याय में इस विषय में विस्तृत विवरण दिया गया है। महादेव जी से उत्तम वर पाकर एक दिन सत्यवतीनन्दन व्यासजी अग्नि प्रकट करने की इच्छा से दो अरणी काष्ठ लेकर उनका मन्थन करने लगे–

स लब्ध्वा परमं देवाद् वरं सत्यवतीसुतः।
अरणी सहिते गृह्य ममन्थाग्निचिकीर्षया॥१॥

इसी समय उन भगवान महर्षि व्यास ने वहाँ आयी हुई घृताची नामक अप्सरा को देखा, जो अपने तेज से परम मनोहर रूप धारण किये हुये थी–

अथ रूपं परं राजन् विभ्रतीं स्वेन तेजसा।
घृताचीं नामाप्सरसमपश्यद् भगवानृषिः॥२॥

उस वन में उस अप्सरा को देखकर ऋषि भगवान् व्यास सहसा काम से मोहित हो गये। उस समय व्यासजी का हृदय काम से व्याकुल हुआ देख घृताची अप्सरा शुकी होकर उनके पास आयी–

ऋषिरप्सरसं दृष्ट्वा सहसा काममोहितः।
अभवद् भगवान् व्यासो वने तस्मिन् युधिष्ठिर॥३॥
सा च दृष्ट्वा तदा व्यासं कामसंविग्नमानसम्।
शुकी भूत्वा महाराज घृताची समुपागमत्॥४॥

उस अप्सरा को दूसरे रूप से छिपी हुई देख उनके सम्पूर्ण शरीर में काम वेदना व्याप्त हो गयी–

तामप्सरसं दृष्ट्वा रूपेणान्येन संवृताम्।
शरीरजेनानुगदः सर्वगात्रातिगेन ह॥५॥

मुनिवर व्यास महान धैर्य के साथ अपने कामवेग को रोकने लगे, परंतु अप्सरा की ओर गये हुए मन को रोकने में वे किसी तरह समर्थ न हो सके–

स तु धैर्येण महता निगृह्णन् हृच्छयं मुनिः।
न शशाक नियन्तुं तद् व्यासः प्रविसृतं मनः॥६॥

होनहार होकर ही रहती है; इसलिये व्यासजी घृताची के रूप में आकृष्ट हो गये। अग्नि प्रकट करने की इच्छा से अपने कामवेग को यत्नपूर्वक रोकते हुए महर्षि व्यास का वीर्य सहसा उस अरणी काष्ठ पर ही गिर पड़ा–

---

१. महाभारत–शांति प० अध्याय ३२४, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ० ५२९९–५३०१.

भावित्वाच्चैव भावस्य घृताच्या वपुषा हृतः।
यत्नान्नियच्छतस्तस्य मुनेरग्निचिकीर्षया॥७॥
अरण्यामेव सहसा तस्य शुक्रमवापतत्।

उस समय भी द्विजश्रेष्ठ ब्रह्मर्षि व्यास निःशङ्क मन से दोनों अरणियों के मन्थन में ही लगे रहे। उसी समय अरणी से शुकदेव जी प्रकट हो गये-

सोऽविशंकेन मनसा तथैव द्विजसत्तमः॥८॥
अरणी ममन्थ ब्रह्मर्षिस्तस्यां जज्ञे शुको नृप।

अरणी के साथ-साथ शुक्र का भी मन्थन होने से महातपस्वी तथा महायोगी परम ऋषि शुकदेव जी का जन्म हो गया। वे अरणी के ही गर्भ से प्रकट हुए-

शुक्रे निर्मथ्यमाने स शुको जज्ञे महातपाः॥९॥
परमर्षिर्महायोगी अरणीगर्भसम्भवः।

जैसे यज्ञ में हविष्य का वहन करने वाली प्रज्वलित अग्नि प्रकाशित होती है, वैसे ही रूप से शुकदेव जी प्रकट हुए थे। वे अपने तेज से मानों जाज्वल्यमान हो रहे थे-

यथाध्वरे समिद्धोऽग्निर्भाति हव्यमुदावहम्॥१०॥
तथारूपः शुको जज्ञे प्रज्वलन्निव तेजसा।

अपने पिता के समान ही परम उत्तम रूप और कान्ति धारण किये पवित्रात्मा शुकदेव धूमरहित अग्नि के समान देदीप्यमान हो रहे थे-

बिभ्रत् पितुश्च कौरव्य रूपवर्णमनुत्तमम्॥११॥
बभौ तदा भावितात्मा विधूम इव पावकः।

उसी समय सरिताओं में श्रेष्ठ श्रीगङ्गाजी मूर्तिमती होकर मेरु पर्वत पर आयीं और उन्होंने अपने जल से शुकदेव जी को तृप्त किया-

तं गङ्गा सरितां श्रेष्ठा मेरुपृष्ठे जनेश्वर॥१२॥
स्वरूपिणी तदाभ्येत्य तर्पयामास वारिणा।

आकाश से महात्मा शुकदेव के लिये दण्ड और काला मृगचर्म-ये दोनों वस्तुएँ पृथ्वी पर गिरीं-

अन्तरिक्षाच्च कौरव्य दण्डः कृष्णाजिनं च ह॥१३॥
पपात भूमिं राजेन्द्र शुकस्यार्थे महात्मनः।

गन्धर्व गाने और अप्सराएँ नृत्य करने लगीं। देवताओं की दुंदुभियां बड़े जोर-जोर से बज उठीं। विश्वावसु, तुम्बरु, नारद, हाहा और हूहू आदि गन्धर्व

शुकदेवजी के जन्म की बधाई गाने लगे–

जेगीयन्ते स्म गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः ॥१४॥
देवदुन्दुभयश्चैव प्रावाद्यन्त महास्वनाः।
विश्वावसुश्च गन्धर्वस्तथा तुम्बुरुनारदौ ॥१५॥
हाहा हूहूश्च गन्धर्वौ तुष्टुवुः शुकसम्भवम्।

इन्द्र आदि सम्पूर्ण लोकपाल, देवता, देवर्षि और ब्रह्मर्षि भी वहाँ आये–

तत्र शक्रपुरोगाश्च लोकपालाः समागताः ॥१६॥
देवा देवर्षयश्चैव तथा ब्रह्मर्षयोऽपि च।

वायु ने सब प्रकार के दिव्य पुष्पों की वर्षा की। चर और अचर सारा संसार हर्ष से खिल उठा–

दिव्यानि सर्वपुष्पाणि प्रववर्ष च मारुतः ॥१७॥
जङ्गमाजङ्गमं चैव प्रहृष्टमभवज्जगत्।

तब महातेजस्वी महात्मा भगवान् शङ्कर ने देवी पार्वती के साथ स्वयं प्रसन्नतापूर्वक पधार कर महर्षि व्यास के उस नवजात पुत्र का विधिपूर्वक उपनयन संस्कार किया–

तं महात्मा स्वयं प्रीत्या देव्या सह महाद्युतिः ॥१८॥
जातमात्रं मुनेः पुत्रं विधिनोपानयत् तदा।

प्रभो! उस समय देवेश्वर इन्द्र ने उन्हें प्रेमपूर्वक दिव्य एवं अद्भुत कमण्डलु तथा देवोचित वस्त्र प्रदान किये–

तस्य देवेश्वरः शक्रो दिव्यमद्भुतदर्शनम् ॥१९॥
ददौ कमण्डलुं प्रीत्या देववासांसि वा विभो।

सहस्रों हंस शतपत्र, सारस, शुक और नीलकण्ठ आदि पक्षी उनकी प्रदक्षिणा करने लगे–

हंसाश्च शतपत्राश्च सारसाश्च सहस्रशः ॥२०॥
प्रदक्षिणमवर्तन्त शुकाश्चाषाश्च भारत।

तदनन्तर महातेजस्वी अरणिसम्भूत शुक वह दिव्य जन्म पाकर ब्रह्मचर्य की दीक्षा ले वहीं रहने लगे। वे बड़े बुद्धिमान्, व्रतपालक तथा चित्त को एकाग्र रखने वाले थे–

आरणेयस्ततो दिव्यं प्राप्य जन्म महाद्युतिः ॥२१॥
तत्रैवोवास मेधावी व्रतचारी समाहितः।

शुकदेवजी के जन्म लेते ही रहस्य ओर संग्रह सहित सम्पूर्ण वेद उसी प्रकार उनकी सेवा में उपस्थित हो गये, जैसे वे उनके पिता वेदव्यास की सेवा में उपस्थित हुए थे-

उत्पन्नमात्रं तं वेदाः सरहस्याः ससंग्रहाः ॥२२॥
उपतस्थुर्महाराज यथास्य पितरं तथा।

वेद-वेदाङ्गों की विस्तृत व्याख्या के ज्ञाता शुकदेवजी ने धर्म का विचार करके बृहस्पति को अपना गुरु बनाया-

बृहस्पतिं च बव्रे स वेदवेदाङ्गभाष्यवित् ॥२३॥
उपाध्यायं महाराज धर्ममेवानुचिन्तयन्।

महामुनि शुकदेव ने उनसे रहस्य और संग्रह-सहित सम्पूर्ण वेदों का, समूचे इतिहास का तथा राजशास्त्र का भी अध्ययन करके गुरु को दक्षिणा दे समावर्तन संस्कार के पश्चात् घर को प्रस्थान किया-

सोऽधीत्य निखिलान् वेदान् सरहस्यान् ससंग्रहान् ॥२४॥
इतिहासं च कार्त्स्न्येन राजशास्त्राणि वा विभो।
गुरवे दक्षिणां दत्त्वा समावृत्तो महामुनिः ॥२५॥

उन्होंने एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए उग्र तपस्या प्रारम्भ की। महातपस्वी शुकदेव ज्ञान और तपस्या के द्वारा बाल्यकाल में भी देवताओं तथा ऋषियों के आदरणीय और उन्हें सलाह देने योग्य हो गये थे-

उग्रं तपः समारेभे ब्रह्मचारी समाहितः।
देवतानामृषीणां च बाल्येऽपि स महातपाः।
सम्मन्त्रणीयो मान्यश्च ज्ञानेन तपसा तथा ॥२६॥

वे मोक्ष धर्म पर ही दृष्टि रखते थे; अतः उनकी बुद्धि गार्हस्थ्य आश्रम पर अवलम्बित रहने वाले तीनों आश्रमों में प्रसन्नता का अनुभव नहीं करती थी-

न त्वस्य रमते बुद्धिराश्रमेषु नराधिप।
त्रिषु गार्हस्थ्यमूलेषु मोक्षधर्मानुदर्शिनः ॥२७॥

उपर्युक्त समस्त कथानकों से यह विदित होता है कि अमरकथा के श्रोता शुकदेव, चेटिका/वटिका के गर्भ से उत्पन्न शुकदेव, छाया शुकदेव व आरणेय शुकदेव सभी महाभारतकालीन हैं।

महाभारत एवं पुराणों में द्वैपायन-सुत शुकदेव

वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन के पुत्र शुकदेव वीतराग थे। आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत

का पालन कर उन्होंने परलोक गमन किया। राजा परीक्षित को इन्होंने ही श्रीमद्भागवत कथा सुनाई थी, ऐसा सर्वविदित है। परन्तु महाभारत में इनसे पूर्वकाल के शुकदेव जी का भी विस्तार सहित प्रसङ्ग आता है, जिससे यह प्रकट होता है कि एक शुकदेव महाभारत काल से भी पूर्व-काल में हुये हैं, अथवा दूसरे शब्दों में उनका आविर्भाव महाभारत कालीन शुकदेव से बहुत पहले हुआ था।

वायु पुराण के निम्न श्लोक से ऐसा प्रतीत होता है कि महर्षि वसिष्ठ, उनके पुत्र शक्ति एवं पौत्र पराशर के साथ-साथ कृष्ण द्वैपायन एवं उनके पुत्र शुकदेव उत्तरोत्तर पाँच पीढ़ियों के प्रतिनिधि हैं-

अरुन्धत्यां वसिष्ठस्तु शक्तिमुत्पादयद्द्विजाः।
सागरं जनयच्छक्तेरदृश्यन्ती पराशरम्॥८३॥
काली पराशराज्जज्ञे कृष्णद्वैपायनं प्रभुम्।
द्वैपायनादरण्यां वै शुको जज्ञे गुणान्वितः॥८४॥

वायु० पु० ७०/८३-८४

अर्थात् वसिष्ठ ने अरुन्धती से शक्ति को उत्पन्न किया, अदृश्यन्ती ने शक्ति से पराशर को जन्म दिया तथा काली एवं पराशर के संयोग से कृष्ण द्वैपायन का जन्म हुआ। द्वैपायन द्वारा अरणी में परम गुणवान् शुकदेव मुनि उत्पन्न हुये।

प्रायः इसी प्रकार का प्रसङ्ग अन्य पुराणों में भी मिलता है। इसी आधार पर शुकदेव के सम्बन्ध में यह सामान्य धारणा है कि वे मैत्रावरुणि वसिष्ठ के सुपौत्र शाक्त्य पराशर के पौत्र तथा कृष्ण द्वैपायन के पुत्र हैं। मैत्रावरुणि वसिष्ठ दाशरथि राम से भी कई पीढ़ी पूर्व हुये हैं, जिनके पुत्र शक्ति तथा पौत्र शाक्त्य पराशर हैं। इस दृष्टि से कृष्ण द्वैपायन एवं उनके पुत्र वीतराग शुकदेव का मैत्रावरुणि वसिष्ठ-पौत्र पराशर का क्रमशः पुत्र एवं पौत्र होना संभव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि शाक्त्य पराशर एवं कृष्ण द्वैपायन तथा उनके पुत्र शुकदेव के मध्य सहस्रों वर्षों का अन्तराल है।

कृष्ण द्वैपायन सत्यवती के पुत्र हैं, जिनका विवाह कालान्तर में महाराज शान्तनु से उनके पुत्र देवव्रत (भीष्म) के विशेष प्रयासों से संभव हुआ था-

शान्तनुः खलु गङ्गां भागीरथीमुपयेमे
तस्यामस्य जज्ञे देवव्रतो नामः यमाहुर्भीष्ममिति॥४७॥

भीष्म खलु पितुः प्रियचिकीर्षया सत्यवतीं
मातरमुदवाहयतः यामाहुर्गन्धकालीति॥४८॥

महा० आदि प० ९५/४७-४८

अर्थात् शान्तनु ने भागीरथी गङ्गा को अपनी पत्नी बनाया, जिसके गर्भ से उन्हें देवव्रत नामक पुत्र प्राप्त हुआ, जिसे लोग भीष्म कहते हैं। भीष्म ने अपने पिता का प्रिय करने की इच्छा से उनके साथ माता सत्यवती का विवाह कराया, जिसे गन्धकाली भी कहते हैं।

शान्तनु से विवाह के पूर्व कौमार्यावस्था में इन्हीं सत्यवती को ऋषि पराशर के संयोग से कृष्ण द्वैपायन नामक पुत्र की प्राप्ति हुई, जो आगे चलकर अट्ठाईसवें वेदव्यास के रूप में प्रसिद्ध हुये। सत्यवती को मत्स्यगन्धा भी कहा जाता है। कहते हैं पराशर के वरदान स्वरूप उनकी मत्स्य की गन्ध समाप्त हुई और उनमें सुगन्ध व्याप्त हो गई, जो एक योजन की दूरी से ही अनुभव की जा सकती थी। इसी कारण मत्स्यगन्धा कालान्तर में योजनगन्धा भी कहलाई।

शान्तनु से विवाह के पूर्व ऋषि पराशर के संयोग से यमुना के द्वीप में सत्यवती ने वेदव्यास कृष्ण को जन्म दिया, जो यमुना के द्वीप में जन्म होने के कारण 'द्वैपायन' नाम से प्रसिद्ध हुये-

एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात्।
न्यस्तो द्वीपे स यद् बालस्तस्माद् द्वैपायनः स्मृतः ॥८६॥

महा० आदि प० ६३/८६

इन्हीं सत्यवती-सुत कृष्ण द्वैपायन के पुत्र महाभारतकालीन शुकदेव हैं, जिन्होंने सदैव के लिये वैराग्य ग्रहण कर वन-गमन किया। कालान्तर में अभिमन्यु-पुत्र परीक्षित को उपदेश दिया एवं उन्हें श्रीमद्भागवत की कथा सुनाई, जैसा कि उल्लेख किया गया है। उन्होंने श्रीमद्भागवत का विस्तार भी किया-

स्वसुखनिभृतचेतास्तद्व्युदस्तान्यभावो
ऽप्यजितरुचिरलीलाकृष्टसारस्तदीयम्।
व्यतनुत कृपया यस्तत्त्वदीपं पुराणं
तमखिलवृजिनघ्नंव्याससूनुं नतोऽस्मि॥

श्रीमद्भागवत १२/१२/६८

अर्थात् शुकदेवजी अपने आत्मानन्द में ही निमग्न थे। इस अखण्ड अद्वैत स्थिति से उनकी भेददृष्टि सर्वथा निवृत्त हो चुकी थी। फिर भी प्रभु की मधुमयी, मङ्गलमयी मनोहारिणी लीलाओं ने उनकी वृत्तियों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया और उन्होंने जगत के प्राणियों पर कृपा करके भागवततत्त्व को प्रकाशित करने वाले इस पुराण का विस्तार किया। उन्हीं सर्व पापहारी व्यास-पुत्र शुकदेव को नमस्कार।

ये शुकदेव युधिष्ठिर की राज्यसभा में भी विराजमान होते थे।

५. पूर्वकाल के शुकदेव

महाभारत में द्वैपायन-सुत शुकदेव के अतिरिक्त एक अन्य शुकदेव के पूर्वकाल में होने का भी प्रसङ्ग आता है। महाभारत के शांति पर्व के ३२१वें अध्याय में पुराकाल के शुकदेवजी का वृत्तान्त आया है-

युधिष्ठिर ने पूछा-पितामह! पूर्वकाल में व्यास पुत्र शुकदेव को किस प्रकार वैराग्य प्राप्त हुआ था? मैं यह सुनना चाहता हूँ। इस विषय में मुझे बड़ा कौतूहल हो रहा है। कुरुनन्दन! इसके सिवा आप मुझे व्यक्त और अवयक्त तत्त्वों का बुद्धि द्वारा निश्चित किया हुआ स्वरूप बतलाइये तथा अजन्मा भगवान् नारायण का जो चरित्र है, उसे भी सुनाने की कृपा करें-

कथं निर्वेदमापन्नः शुको वैयासकिः पुरा।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे॥१॥

अव्यक्तव्यक्ततत्त्वानां निश्चयं बुद्धिनिश्चयम्।
वक्तुमर्हसि कौरव्य देवस्याजस्य या कृतिः॥२॥

महा० शां० प० ३२१/१-२

इस सम्बन्ध में युधिष्ठिर द्वारा भीष्म से शुकदेव की माता व जन्म से सम्बन्धित अन्य घटनाओं के सम्बन्ध में पूछने विषयक निम्न श्लोक भी द्रष्टव्य हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि एक शुकदेव युधिष्ठिर के समकालीन शुकदेव से भी पूर्व में हुये हैं-

कथं व्यासस्य धर्मात्मा शुको जज्ञे महातपाः।
सिद्धिं च परमां प्राप्तस्तन्मे ब्रूहि पितामह॥१॥
कस्यां चोत्पादयामास शुकं व्यासस्तपोधनः।
न ह्यस्य जननीं विद्म जन्म चाग्र्यं महात्मनः॥२॥
कथं च बालस्य सतः सूक्ष्मज्ञाने गता मतिः।
यथानान्यस्य लोकेऽस्मिन् द्वितीयस्येह कस्यचित्॥३॥

महा० शां० प० ३२३/१-३

अर्थात् युधिष्ठिर ने भीष्म से पूछा- पितामह! व्यास जी के यहाँ महातपस्वी और धर्मात्मा शुकदेव जी का जन्म कैसे हुआ तथा उन्होंने परम सिद्धि कैसे प्राप्त की? यह मुझे बताइये। तपस्या के धनी व्यास जी ने किस स्त्री के गर्भ से शुकदेव जी को उत्पन्न किया? हमें उन महात्मा शुकदेव जी की माता का नाम भी ज्ञात नहीं है और हम उनके जन्म का वृत्तान्त भी नहीं जानते हैं। शुकदेव जी अभी

बालक थे, तो भी सूक्ष्म-ज्ञान में उनकी बुद्धि कैसे लगी? उनके अतिरिक्त संसार में और किसी की ऐसी बुद्धि नहीं देखी गई।

उपर्युक्त श्लोकों से यह स्पष्ट हो जाता है कि युधिष्ठिर जिन शुकदेव जी के बारे में पूछ रहे हैं, उनके बारे में उन्हें कोई ज्ञान नहीं है। वे न तो उनका जन्म कैसे हुआ, इस सम्बन्ध में जानते हैं और न ही उनकी माता के सम्बन्ध में। वे तो उन शुकदेव जी की माता का नाम तक नहीं जानते।

इस संदर्भ में महाभारत के पराशर गीता का निम्न श्लोक भी दृष्टव्य है, जिसमें भीष्म पिता कहते हैं कि हे युधिष्ठिर! इस विषय में तुम्हें प्राचीनकाल का अथवा प्राचीन प्रसङ्ग सुनाऊंगा। एक बार महान् यशस्वी राजा जनक ने पराशर पे पूछा -

अत्र ते वर्तयिष्यामि यथापूर्वं महायशाः।
पराशरं महात्मानं पपृच्छ जनको नृपः॥

महा० शां० प० २९०/३

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ये पराशर शाक्त्य पराशर ही हैं, जिन्होंने राजा जनक को उपदेश दिया था और पराशर ने अपने पुत्र शुकदेव को राजा जनक के पास ज्ञान-प्राप्ति हेतु भेजा था।

निम्न वंश-वृक्ष से युधिष्ठिर, व्यास, सत्यवती एवं भीष्म की वंशावली का अवलोकन करना इस दृष्टि से समीचीन प्रतीत होता है-

उपर्युक्त वंश-वृक्ष के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि एक शुकदेव कृष्ण द्वैपायन के पुत्र हैं तथा कृष्ण द्वैपायन के नियोग से ही धृतराष्ट्र, पाण्डु एवं विदुर का जन्म हुआ है। इस प्रकार ये शुकदेव दुर्योधन, युधिष्ठिर आदि कौरव-पाण्डवों के चाचा अथवा ताऊ हैं।
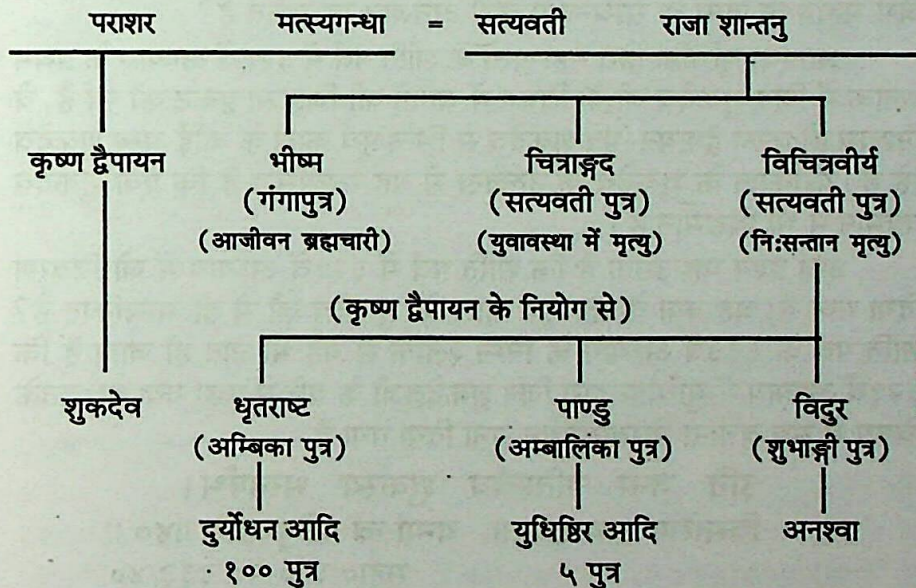
धर्मराज युधिष्ठिर के राज्यारोहण के उपरान्त उन्होंने मय द्वारा निर्मित दिव्य सभाभवन में अपनी ही प्रकृति के अनुकूल महान् विभूतियों एवं ऋषियों को यथा-योग्य स्थान दिया था, उनमें शुकदेव जी भी सम्मिलित हैं।

निम्न श्लोक के अनुसार युधिष्ठिर की सभा में दल्भ-पुत्र बक तथा स्थूल-शिरा के साथ वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन एवं शुकदेव विराजते हैं। यही नहीं, इस सभा में व्यास जी के शिष्य सुमन्तु, जैमिनि, पैल तथा वैशम्पायन आदि भी स्थान ग्रहण करते हैं-

बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः।
सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यास शिष्यास्तथा वयम्॥११॥

महा० सभा पर्व ४/११

उक्त समस्त घटनाक्रम एवं धर्मग्रन्थों के उद्धरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि धर्मावतार युधिष्ठिर जैसे विद्वान एवं महापुरुष द्वारा अपने समकालीन एवं सम्बन्ध में चाचा या ताऊ तथा ताई (जो शुकदेव की माँ हैं) के नाम आदि के विषय में कुछ पूछने का कोई कारण दिखाई नहीं देता है, क्योंकि वे अपने ही परिवार की निकटस्थ सम्बन्धी महिला के नाम आदि एवं शुकदेव जैसे महर्षि के जन्म के सम्बन्ध में कैसे अनजान रह सकते हैं?

अतएव, युधिष्ठिर द्वारा महाभारत के शांति पर्व में ३२१वें अध्याय के प्रथम श्लोक में जिन शुकदेव जी के विषय में जानने की जिज्ञासा प्रकट की गई है, वे निश्चय ही कृष्ण द्वैपायन-पुत्र शुकदेव से भिन्न पूर्व काल के कोई अन्य शुकदेव रहे हैं। पुराकाल के शुकदेव के उल्लेख से यह स्वयंसिद्ध है कि एक शुकदेव वर्तमान में भी विद्यमान हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि शांति पर्व में ३२१वें अध्याय में जो विवरण दिया गया है, वह क्या केवल पूर्व काल के शुकदेव जी से ही सम्बन्धित है? शांति पर्व के ३३३वें अध्याय के निम्न श्लोक से यह भी ज्ञात हो जाता है कि ३२१वें अध्याय में युधिष्ठिर द्वारा जिन शुकदेवजी के बारे में पूछा गया था, उनके विषय में सब वृत्तान्त विस्तारपूर्वक सुना दिया गया है-

इति जन्म गतिश्चैव शुकस्य भरतर्षभ।
विस्तरेण समाख्याता यन्मां त्वं परिपृच्छसि॥४०॥

महा० शां० प० ३३३/४०

अर्थात् भीष्म कहते हैं कि हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठर! तुम मुझसे (अध्याय ३२१ के प्रथम श्लोक में) जिसके विषय में पूछ रहे थे, उन शुकदेवजी के जन्म और परमपद-प्राप्ति की कथा तुम्हें विस्तार से सुनाई है।

शुकदेव के पिता के समानार्थी नामों की आवृत्ति - शान्ति पर्व के उपर्युक्त १३ अध्यायों में शुकदेवजी एवं उनके पिता के पर्यायवाची शब्दों का वैविध्यपूर्ण प्रयोग दिखाई देता है। इन नामों पर दृष्टिपात करने से एक द्विविधाजनक स्थिति यह दिखाई देती है कि जहाँ पाराशर्य, वासिष्ठ, वैयासकि आदि अधिकांश नामों की संगति पूर्वकाल के शुकदेव जी से बैठती है, वहीं कृष्ण द्वैपायन तथा द्वैपायन-सुत आदि नामों की आवृत्ति से महाभारत कालीन शुकदेव का सन्दर्भ प्रतीत होता है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शान्ति पर्व के ३२१वें अध्याय से ३३३वें अध्याय तक आये समस्त वृत्तान्त में कहीं पूर्वकाल के शुकदेव का वर्णन है तो कहीं महाभारत कालीन शुकदेव का।

इस सम्बन्ध में विवेचन एवं विश्लेषण से पूर्व उपर्युक्त नामों की आवृत्ति पर विहंगावलोकन कर लेना उचित प्रतीत होता है।

शांतिपर्व के ३२१वें अध्याय के अन्तिम श्लोक में 'द्वैपायन' शब्द का प्रयोग दिखाई देता है। ३२२वें अध्याय में व्यास जी अथवा द्वैपायन शब्द का प्रयोग नहीं है। ३२३वें अध्याय में २-३ बार केवल व्यास शब्द आया है, एक स्थान पर द्वैपायन शब्द का भी प्रयोग है। ३२४वें अध्याय में दो स्थानों पर व्यास तथा एक स्थान पर सत्यवती-सुत का उल्लेख है। ३२५वें अध्याय में केवल एक श्लोक में 'व्यास' शब्द का प्रयोग हुआ है। ३२६वें अध्याय में व्यास जी के नामोल्लेख सम्बन्धी कोई प्रसंग ही नहीं है। ३२७ वें अध्याय में आरणेय तथा अरणीसुत के साथ-साथ दो बार पाराशर्य तथा दो-तीन बार केवल व्यास शब्द की आवृत्ति है। ३२८ वें अध्याय में केवल १६ वें श्लोक में कृष्ण द्वैपायन शब्द आया है, ६ बार केवल व्यास शब्द का प्रयोग है, दो श्लोकों में पराशर-सुत तथा एक १२ वें श्लोक में वासिष्ठ शब्द आया है। अध्याय ३२९ एवं ३३० में नारद द्वारा उपदेश है, नामोल्लेख का कोई प्रसंग नहीं है। ३३१वें अध्याय में शुकदेव द्वारा कृष्ण द्वैपायन को प्रणाम करने का केवल एक प्रसङ्ग आता है। ३३२वें अध्याय में दो बार द्वैपायन-सुत (आत्मज) शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा एक बार व्यास-पुत्र तथा एक बार वैयासकि (व्यास-पुत्र) आया है। ३३३वें अध्याय में एक बार कृष्ण द्वैपायन शब्द का प्रयोग किया गया है।

महाभारत के शान्ति पर्व के अध्याय ३२१ से ३३३ में जहाँ शुकदेव जी के लिए अधिकांशतया व्यास-पुत्र या वैयासकि शब्द का प्रयोग किया गया है, वहीं कहीं-कहीं कृष्ण द्वैपायन अथवा द्वैपायन-पुत्र भी अभिहित किया गया है। इसी

प्रकार शुकदेव जी के पिता के लिये अधिकांश श्लोकों में व्यास शब्द प्रयुक्त किया गया है, परन्तु कतिपय श्लोकों में कृष्ण द्वैपायन शब्द का प्रयोग भी पाया जाता है। दो-तीन बार आरणेय अथवा अरणि सुत का भी प्रयोग हुआ है।

यह सुस्थापित तथ्य है कि वेदव्यास परम्परा में वसिष्ठ, शक्ति एवं पराशर भी अपने समय में वेदव्यास हुए हैं। महाभारतकालीन शुकदेव वीतराग थे, अतः वे गृहस्थाश्रम में प्रवृत्त नहीं हुये। ऐसी परिस्थिति में महाभारत के उपर्युक्त अध्यायों में प्रसङ्गानुसार वसिष्ठ एवं पराशर-नामों की आवृत्ति से पूर्वकाल के शुकदेव मैत्रावरुणि वसिष्ठ के प्रपौत्र एवं उनके पौत्र शाक्त्य पराशर के ही पुत्र प्रतीत होते हैं।

नारद जी को गुरु बनाना

नारद ऋषि एक ऐसे शाश्वत व्यक्तित्व का रूप ग्रहण कर चुके हैं, जो लगभग सभी कालों एवं प्रमुख घटनाक्रम में दिखाई देते हैं।

पौराणिक कोश [१] में महर्षि नारद के विषय में विस्तृत परिचय दिया गया है, जिसके अनुसार नारद एक देवर्षि का नाम है, जो ब्रह्मा के मानस पुत्र कहे जाते हैं। इतिहास और पुराणों में इन्हें परम भगवद्भक्त एवं भगवदगुण गायक देवर्षि कहा गया है और ये इस लोक का समाचार उस लोक में दिया करते हैं एवं अत्याचारी दैत्य, दानव तथा राक्षसों के अत्याचार और जनता के उत्पीड़न का वृत्तान्त भगवान् के कान तक पहुँचाया करते हैं। भागवत में इन्हें अगाध बोध, सकल रहस्यों के वेत्ता, पर और अपर ब्रह्म में निष्णात, सूर्य की भाँति त्रिलोकी-पर्यटक, वायुवत् सबके अन्दर विचरण करने वाले और आत्म-साक्षी कहा गया है। शुकदेव जी उन्हीं नारद जी की सेवा में उपस्थित होकर निवेदन करते हैं-

स वै भवान् वेद समस्त गुह्यमुपासितो यत्पुरुषः पुराणः।
परावरेशो मनसैव विश्वं सृजत्यवत्यत्ति गुणैरसङ्गः ॥६॥
त्वं पर्यटन्नर्क इव त्रिलोकीमन्तश्चरो वायुरिवात्मसाक्षी।
परावरे ब्रह्मणि धर्मतो व्रतैः स्नातस्य मे न्यूनमलं विचक्ष्व ॥७॥

श्रीमद्भागवत पु० १/५/६-७

अर्थात् नारद जी! आप समस्त गोपनीय रहस्यों को जानते हैं; क्योंकि आपने उन पुराण पुरुष की उपासना की है, जो प्रकृति और पुरुष दोनों के स्वामी हैं और असङ्ग रहते हुये ही अपने संकल्प मात्र से गुणों के द्वारा संसार की सृष्टि और प्रलय करते रहते हैं। आप सूर्य की भाँति तीनों लोकों में भ्रमण करते रहते हैं

१. पौराणिक कोश - राणापसाद शर्मा, ज्ञान मण्डल लि., वाराणसी, सं. १९८६, पृ. २६९(२७०).

और योगबल से प्राणवायु के समान सबके भीतर रहकर अन्तःकरणों के साक्षी भी हैं। योगानुष्ठान और नियमों के द्वारा परब्रह्म और शब्द ब्रह्म दोनों की पूर्ण प्राप्ति कर लेने पर भी मुझमें जो बड़ी कमी है, उसे आप कृपा करके बतलाइये।

विष्णुपुराणानुसार ब्रह्मा ने अपने सब पुत्र, पौत्रों आदि को सृष्टि करने में लगाया। दक्ष प्रजापति ने वीरण नामक प्रजापति की पुत्री असिक्नी से पाँच हजार पुत्र उत्पन्न किये और उन्हें प्रजा-सृष्टि में लगाया, पर नारद ने उन्हें निवृत्ति परक उपदेश देकर सृष्टि-मार्ग से विरत कर दिया। यह सुनकर उन्होंने पुनः अपनी सहधर्मिणी असिक्नी के गर्भ से कई हजार पुत्र उत्पन्न किये। उन्हें भी नारद ने निवृत्ति-मार्ग दिखाकर सृष्टि-सृजन से विरत कर दिया।[१] इससे रुष्ट होकर दक्ष ने शाप दिया, 'तुम सदा सब लोकों में घूमा करोगे, एक स्थान पर स्थिर होकर न रह सकोगे'-

तांश्चापि नष्टान् विज्ञाय पुत्रान् दक्षः प्रजापतिः।
क्रोधं चक्रे महाभागो नारदं स शशाप च॥

विष्णु पु० १/१५/१०१

प्रजापिता ब्रह्मा से नारदादि की उत्पत्ति - वायु पुराण के अनुसार प्राचीन काल में नारद नामक पर्वत पर प्रजापिता ब्रह्मा के रेतःस्खलन से नारद और पर्वत नामक दो ऋषि उत्पन्न हुये, इन दोनों भाइयों की छोटी बहिन अरुन्धती ब्रह्मा की तीसरी सन्तति के रूप में उत्पन्न हुई-

पर्वते नारदे पूर्व रेतः स्कन्नं प्रजापतेः।
पर्वतस्तत्र संभूतो नारदश्चैव तावुभौ॥६४॥
तयोर्यवीयसी चैव तृतीयाऽरुन्धती स्मृता।
देवरुख्यो सूर्यजन्म तस्मिन्नारदपर्वतौ॥६५॥

वायु पु० ६९/६४-६५

शिक्षा - महाभारत के अनुसार इन्होंने ब्रह्मा से संगीत की शिक्षा ग्रहण की थी। देवर्षि नारद वेदान्त, योग, ज्योतिष, वैद्यक, संगीत शास्त्रादि के आचार्य हैं तथा भक्ति के मुख्याचार्य हैं। नारद ही एक ऐसे हैं, जिनका सुर-असुर समान रूप से आदर करते हैं।[१]

नारद जी द्वारा बहिन अरुन्धती का विवाह - वायु पुराण में कश्यप से पुत्र नारद एवं पर्वत तथा पुत्री अरुन्धती उत्पन्न हुई। नारद जी ने (बहिन)

---

१. पौराणिक कोश - राणापसाद शर्मा, ज्ञान मण्डल लि., वाराणसी, सं. १९८६, पृ. २७०.

अरुन्धती को वसिष्ठ को (विवाह में) समर्पित किया। नारद महान् तेजस्वी एवं नैष्ठिक ब्रह्मचर्य व्रत परायण थे-

कश्यपान्नारदश्चैव पर्वतोऽरुन्धती तथा।
जज्ञिरे च त्वरुन्धत्यास्तान्निबोधत सत्तमाः ॥७९॥
वायु पु० ७०/७९

नारदजी का शुकदेव को उपदेश

महाभारत के शांति पर्व के ३२९ वें अध्याय में शुकदेव जी को जिन नारदजी से उपदेश दिये जाने का प्रसङ्ग आया है, पूर्व में वर्णित घटनाक्रम के आधार पर देवी अरुन्धती के भ्राता प्रतीत होते हैं। इस कारण उन्हें उपदेश देने वाले अरुन्धती के भ्राता से भिन्न कोई दूसरे मुनि दिखाई नहीं देते। यदि महाभारतकालीन किन्हीं नारद का उल्लेख आता है तो स्पष्टतया वे नारद मैत्रावरुणि वसिष्ठ के साले एवं पराशर के मामा नहीं हो सकते। पूर्व काल के शुकदेव मुनि द्वारा जिन महर्षि नारद से उपदेश प्राप्त करने का प्रसङ्ग आता है, वे निश्चय ही वसिष्ठ जी के साले एवं देवी अरुन्धती के भ्राता हैं। पूर्व काल के शुकदेव को अधिकांशतया व्यास पुत्र अथवा वैयासकि के रूप में अभिहित किया गया है। चूँकि महर्षि पराशर स्वयं वेदव्यास हैं, अतएव घटना एवं कथा-क्रमानुसार पूर्व काल के शुकदेव जी का इन्हीं वेद व्यास पराशर का पुत्र होना उचित प्रतीत होता है।

शुकदेव ज़ी को नारदजी द्वारा जो उपदेश दिया गया, वह महाभारत के शांति पर्व के ३२९ से ३३१ वें अध्याय में समाविष्ट है।

नारदजी द्वारा शुकदेव जी को वैराग्य और ज्ञान (महा० शां० प० अ० ३२९), सदाचरण एवं अध्यात्म (अध्याय ३३०), तथा आगे के अध्याय में कर्म-फल की प्राप्ति में परतन्त्रता सम्बन्धी उपदेश देने का प्रसङ्ग आया है।

'जनक' शब्द मिथिला नरेशों की एक उपाधि या विशेषण के रूप में सुस्थापित हो गया है। इस कारण मिथिला का जो भी राजा बना, वह जनक ही कहा गया है, परन्तु उनका इस उपाधि या विशेषण से पृथक अपना व्यक्तिगत नाम भी रहा है, जैसे कि सीताजी के पिता मिथिला-नरेश का नाम सीरध्वज था। इस प्रकार महाभारतादि ग्रन्थों में प्राप्त विवरण एवं विवेचन के अनुसार हमारे समक्ष दो प्रमुख शुकदेव हैं- १. पुराकाल के तथा २. महाभारत कालीन कृष्णद्वैपायन-पुत्र अथवा भागवत के शुकदेव।

जैसा कि उल्लेख किया गया है, पूर्व काल के शुकदेव मैत्रावरुणि वसिष्ठ के प्रपौत्र एवं वेदव्यास पराशर के पुत्र प्रतीत होते हैं, जबकि महाभारत कालीन शुकदेव वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन के पुत्र, जो वीतराग हैं।

यहाँ यह विचारणीय है कि किस शुकदेव ने राजा जनक से शिक्षा ली एवं ये मिथिला-नरेश जनक कौन से हैं।

जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया गया है, महाभारत के शांति पर्व के ३२१वें अध्याय के प्रथम श्लोक में युधिष्ठिर द्वारा भीष्म पितामह से पूछा जा रहा है कि पूर्वकाल में व्यास-पुत्र शुकदेव को किस प्रकार वैराग्य प्राप्त हुआ था, मैं यह सुनना चाहता हूँ, मुझे इस विषय में बड़ा कौतूहल है-

कथं निर्वेदमापन्नः शुको वैयासकिः पुरा।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं परं कौतूहलं हि मे ॥१॥

महा० शां० प० ३२१/१

महाभारत के शांति पर्व के ३२१वें अध्याय में जिन पुराकाल के शुकदेव जी का उल्लेख है, विषयासक्ति से दूर रखने के उद्देश्य से उनके पिता व्यास जी उन्हें समझाते हुये कहते हैं कि हे पुत्र! तुम सदा धर्म का सेवन करते रहो और जितेन्द्रिय होकर कड़ी से कड़ी गर्मी-सर्दी, भूख-प्यास को सहन करते हुये प्राणवायु पर विजय प्राप्त करो-

धर्मं पुत्र निषेवस्व सुतीक्ष्णौ च हिमातपौ।
क्षुत्पिपासे च वायुं च जय नित्यं जितेन्द्रियः ॥४॥

महा० शां० प० ३२१/४

महर्षि पराशर ने शुकदेव को राजा जनक के पास भिजवाने से पूर्व उपदेश दिया कि बहुत समय तक भारी तपस्या करने से ब्राह्मण का शरीर मिला है, उसे पाकर विषयानुराग में फंसकर बरबाद नहीं करना चाहिये। अतः यदि तुम अपना कल्याण चाहते हो तो कुशलप्रद कर्म में संलग्न हो सदा स्वाध्याय, तपस्या और इन्द्रिय संयम में पूर्णतः तत्पर रहने का प्रयत्न करो-

ब्राह्मण्यं बहुभिरवाप्यते तपोभि-
स्तल्लब्ध्वा न रतिपरेण हेलितव्यम्।
स्वाध्याये तपसि दमे च नित्ययुक्तः
क्षेमार्थी कुशलपरः सदा यतस्व ॥२४॥

महा० शां० प० ३२१/२४

चूँकि उपर्युक्त पुराकाल के शुकदेव मैत्रावरुणि वसिष्ठ-पौत्र पराशर के पुत्र हैं, अतएव वे जिस मिथिला नरेश जनक के पास शिक्षा प्राप्त करने हेतु गये थे, वे काल-क्रम की दृष्टि से सीताजी के पिता सीरध्वज ही होने चाहिये। ये सीरध्वज जनक सीताजी के पिता स्वयं राजा होते हुये भी निस्पृह भाव से राज्य का

सञ्चालन करते थे, विषयों से दूरी न रहने पर भी वे आसक्ति के भाव से जल-कमलदलवत विरत थे तथा राजर्षि जनक के रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध थे।

महाभारत काल एवं जनक - यदि हम सीताजी के पिता सीरध्वज से आगे की पीढ़ियों पर दृष्टिपात् करते हैं तो उनका वंश तो महाभारत काल से पूर्व ही समाप्त हो गया प्रतीत होता है।

मिथिला नरेश सीरध्वज का वंश उनकी ३२वीं पीढ़ी में समाप्त हो गया था, जैसा कि विष्णु पुराण के निम्न उद्धरणों से स्पष्ट होता है-

सीरध्वजस्य भ्राता साङ्काश्याधिपतिः कुशध्वजनामासीत्॥२९॥ सीरध्वजस्यापत्यं भानुमान् भानुमतश्शतद्युम्नः तस्य तु शुचिः तस्माच्चोर्जनामा पुत्रो जज्ञे॥३०॥ तस्यापि शतध्वजः, ततः कृतिः कृतेरञ्जनः, तत्पुत्रः कुरुजित् ततोऽरिष्टनेमिः तस्माच्छ्रुतायुः श्रुतायुषः सुपार्श्वः तस्मात्सृञ्जयः, ततः क्षेमावी क्षेमाविनोऽनेनाः तस्माद्भौमरथः, तस्य सत्यरथः, तस्मादुपगुरुपगोरुपगुप्तः, तत्पुत्रः स्वागतस्तस्य च स्वानन्दः, तस्माच्च सुवर्चाः, तस्य च सुपार्श्वः, तस्यापि सुभाषः, तस्य सुश्रुतः तस्मात्सुश्रुताज्जयः तस्य पुत्रो विजयो विजयस्य ऋतः, ऋतात्सूनयः सुनयाद्वीतहव्यः तस्माद्धृतिर्धृतेर्बहुलाश्वः, तस्य पुत्रः कृतिः॥३१॥ कृतौ सन्तिष्ठतेऽयं जनकवंशः॥३२॥ इत्येते मैथिलाः॥३३॥ प्रायेणैते आत्मविद्याश्रयिणो भूपाला भवन्ति॥३४॥

श्रीविष्णु पु० ४/५/२९-३४

अर्थात् सीरध्वज का भाई सांकाश्यनरेश कुशध्वज था॥२९॥ सीरध्वज के भानुमान् नामक पुत्र हुआ। भानुमान् के शतद्युम्न, शतद्युम्न के शुचि, शुचि के ऊर्जनामा, ऊर्जनामा के शतध्वज, शतध्वज के कृति, कृति के अञ्जन, अञ्जन के कुरुजित्, कुरुजित् के अरिष्टनेमि, अरष्टिनेमि के श्रुतायु, श्रुतायु के सुपार्श्व, सुपार्श्व के सृञ्जय, सृञ्जय के क्षेमावी, क्षेमावी के अनेना, अनेना के भौमरथ, भौमरथ के सत्यरथ, सत्यरथ के उपगु, उपगु के उपगुप्त, उपगुप्त के स्वागत, स्वागत के स्वानन्द, स्वानन्द के सुवर्चा, सुवर्चा के सुपार्श्व, सुपार्श्व के सुभाष, सुभाष के सुश्रुत, सुश्रुत के जय, जय के विजय, विजय के ऋत, ऋत के सुनय, सुनय के वीतहव्य, वीतहव्य के धृति, धृति के बहुलाश्व और बहुलाश्व के कृति नामक पुत्र हुआ॥३०-३१॥ कृति में ही इस जनक वंश की समाप्ति हो जाती है॥३२॥ ये ही मैथिल भूपालगण हैं॥३३॥ प्रायः ये सभी राजा लोग आत्मविद्या को आश्रय देने वाले होते हैं॥३४॥

इस प्रकार सीरध्वज जनक के पश्चात् ३२वीं पीढ़ी में मिथिला-नरेश कृति

उनके अन्तिम वंशज हैं तथा इसके पश्चात् उनका वंश समाप्त हो गया। सीरध्वज जनक का वंश ३२ पीढ़ियों के पश्चात् लगभग १५० वर्ष में समाप्त हुआ। इस कारण महाभारत काल में मिथिला-नरेश जनक द्वारा किसी को उपदेश देने की कोई संभावना दिखाई नहीं देती है। राजा जनक से उपदेश ग्रहण करने वाले शुकदेव तो पुरा काल के व्यास अर्थात् प्रसंगानुसार पराशर के पुत्र ज्ञात होने के नाते महाराजा दशरथ के जीवन-काल के आसपास थे ही, स्वयं सीरध्वज जनक भी उसी काल में विद्यमान थे। अतएव, सीता के पिता सीरध्वज द्वारा ही शुकदेव को उपदेश देना उचित एवं इतिहास-सम्मत दिखाई देता है।

राजा जनक का शुकदेव को उपदेश

राजा जनक ने शुकदेव को ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन कर लेने पर समावर्तन पर क्या करना चाहिये, इस सम्बन्ध में समझाते हुये कहा कि घर आने पर व्यक्ति विवाह करके गार्हस्थ्य धर्म का पालन करे और अपनी ही स्त्री के प्रति अनुराग रखे। दूसरों के दोष न देख कर सबके साथ यथोचित बर्ताव करे और अग्नि की स्थापना करके प्रतिदिन अग्निहोत्र करता रहे। उन्होंने आगे समझाया कि वहाँ (गृहस्थाश्रम में) पुत्र-पौत्र उत्पन्न करके पुत्र को गार्हस्थ्य धर्म का भार सौंप कर वन में जा वानप्रस्थ आश्रम में रहे। उस समय भी शास्त्रविधि के अनुसार उन्हीं गार्हपत्य आदि अग्नियों की आराधना करते हुये अतिथियों का प्रेमपूर्वक सत्कार करे-

समावृत्तश्च गार्हस्थ्ये स्वदारनिरतो वसेत्।
अनसूयुर्यथान्यायमाहिताग्निस्तथैव च॥१७॥
उत्पाद्य पुत्रपौत्रं तु वन्याश्रमपदे वसेत्।
तानेवाग्नीन् यथा शास्त्रमर्चयन्नतिथिप्रियः॥१८॥

महा० शां० प० ३२६/१७-१८

राजा जनक ने शुकदेव के प्रश्नों एवं शंङ्काओं का समाधान करते हुये गुरु के महत्व के विषय में बताया कि जैसे ज्ञान-विज्ञान के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, उसी प्रकार सद्गुरु से सम्बन्ध हुये बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। गुरु इस संसार-सागर से पार उतारने वाले हैं और उनका दिया हुआ ज्ञान यहाँ नौका के समान बताया जाता है। मनुष्य उस ज्ञान को पाकर भव-सागर से पार और कृतकृत्य हो जाता है। जैसे नदी को पार कर लेने पर मनुष्य नाव और नाविक दोनों को छोड़ देता है, उसी प्रकार मुक्त हुआ पुरुष गुरु और ज्ञान दोनों को भी छोड़ देता है-

न विना ज्ञान-विज्ञाने मोक्षस्याधिगमो भवेत्।
न विना गुरुसम्बन्धं ज्ञानस्याधिगमः स्मृतः ॥२२॥
गुरुः प्लावयिता तस्य ज्ञानं प्लव इहोच्यते।
विज्ञाय कृतकृत्यस्तु तीर्णस्तदुभयं त्यजेत् ॥२३॥

महा० शां० प० ३२६/२२-२३

शुक-रम्भा वृत्तान्त

शुक-रम्भा के मध्य प्रसिद्ध संवाद भी स्पष्टतया इन्हीं शुकदेव से सम्बन्धित प्रतीत होता है।

यह उल्लेखनीय है कि महात्मा शुकदेव एवं एक प्रसिद्ध अप्सरा रम्भा के मध्य निवृत्ति एवं प्रवृत्ति मार्ग के खण्डन-मण्डन को लेकर हुआ वाद-विवाद 'शुक-रम्भा संवाद' के नाम से प्रसिद्ध है। रम्भा दशानन रावण के अग्रज कुबेर के पुत्र नल कूबर की भार्या किंवा प्रेमिका थी, जिसका रावण द्वारा बलात् शील-भङ्ग किया गया था।

रावण का रम्भा से बलात् प्रसङ्ग - वाल्मीकि रामायण में उल्लेख है कि जब हाथी की सूँड के समान उतार-चढ़ाव वाली जघनों तथा ऐसे कोमल हाथों वाली, मानों वे (देह रूपी रसाल की डाल के) नव पल्लव हों, रम्भा जब सेना के मध्य होकर जा रही थी तो रावण ने उसे देख लिया-

ऊरू करिकराकारौ करौ पल्लवकोमलौ।
सैन्यमध्येन गच्छन्ती रावणेनोपलक्षिता ॥१९॥

वाल्मी० रा० उत्तर का० २६/१९

रम्भा को देखकर रावण कामदेव के बाणों का शिकार हो गया और खड़ा होकर उसने अन्यत्र जाती हुई रम्भा का हाथ पकड़ लिया। बेचारी अबला लज्जा से गड़ गई; परन्तु वह निशाचर मुस्कुराता हुआ उससे बोला-

तां समुत्थाय गच्छन्तीं कामबाणवशं गतः।
करे गृहीत्वा लज्जन्तीं स्मयमानोऽभ्यभाषत ॥

वा० रामा० उ० का० २६/२०

अन्त में रावण ने रम्भा से प्रणय-याचना करते हुये कहा कि तीनों लोकों के स्वामी का भी स्वामी तथा विधाता यह दशमुख रावण आज इस प्रकार विनीत भाव से हाथ जोड़कर तुमसे याचना करता है। सुन्दरी! मुझे स्वीकार करो-

तदेवं प्राञ्जलिः प्रह्वो याचते त्वां दशाननः।
भर्तुर्भर्ता विधाता च त्रैलोक्यस्य भजस्व माम्॥२७॥

वा० रामा० उ० का० २६/२७

तब रम्भा ने रावण को यह समझाया कि राक्षस शिरोमणे! धर्म के अनुसार मैं आपके पुत्र की ही भार्या हूँ। आपके बड़े भाई कुबेर के पुत्र नलकूबर मुझे प्राणों से भी बढ़कर प्रिय हैं। यह सारा शृंगार मैंने उन्हीं के लिये किया है, जैसे उनका मेरे प्रति अनुराग है, उसी प्रकार मेरा भी उनके प्रति प्रगाढ़ प्रेम है, दूसरे किसी के प्रति नहीं–

धर्मतस्ते सुतस्याहं भार्या राक्षसपुङ्गव।
पुत्र प्रियतरः प्राणैर्भ्रातुर्वैश्रवणस्य ते॥३२॥
तमुद्दिश्य तु मे सर्वं विभूषणमिदं कृतम्।
यथा तस्य हि नान्यस्य भावो मां प्रति तिष्ठति॥३५॥

वा० रामा० उ० का० २६/३२, ३५

परन्तु रावण ने पुत्रवधू होने के तर्क को नकारते हुये कहा– "रम्भे! तुम अपने को जो मेरी पुत्रवधू बता रही हो, वह ठीक नहीं जान पड़ता। यह नाता-रिश्ता उन स्त्रियों के लिये लागू होता है, जो एक पुरुष की पत्नी हो। तुम्हारे देवलोक की तो स्थिति ही दूसरी है। वहाँ सदा से यही नियम चला आ रहा है कि अप्सराओं का कोई पति नहीं होता। वहाँ कोई एक स्त्री के साथ विवाह करके नहीं रहता है।" यह कहकर उस राक्षस ने रम्भा को बलपूर्वक शिला पर बैठा लिया और कामभोग में आसक्त हो उसके साथ सहवास किया, उसके पुष्पहार टूट कर गिर गये और सारे आभूषण अस्त व्यस्त हो गये।

स्नुषास्मि यदवोचस्त्वमेकपत्नीष्वयं क्रमः।
देवलोकस्थितिरियं सुराणां शाश्वती मता॥३९॥
पतिरप्सरसां नास्ति न चैकस्त्रीपरिग्रहः।
एवमुक्त्वा स तां रक्षो निवेश्य च शिलातले॥४०॥
कामभोगाभिसंरक्तो मैथुनायोपचक्रमे।
सा विमुक्तो ततो रम्भा भ्रष्टमाल्य विभूषणा॥४१॥

वा० रामा० उ० का० २६/३९-४१

इस प्रकार उक्त प्रकरण में रावण, कुबेर, कुबेर-पुत्र नलकूबर आदि के साथ प्रसङ्ग से शुकदेव के साथ रम्भा का सम्वाद ऐतिहासिक प्रतीत होता है तथा

शुकदेव का दशरथ, जनक सीरध्वज का समकालीन होना भी असंदिग्ध दिखाई देता है।

शुक-रम्भा संवाद – स्वाभाविकतया रम्भा भौतिकता, शारीरिक सौन्दर्य एवं कामेच्छा आदि विषयों का पक्ष लेती है और वैराग्यपूर्ण जीवन जीने वाले महापुरुषों का जीवन व्यर्थ बताती है। इसके विपरीत शुकदेव मानव-शरीर की क्षणभंगुरता का तर्क देते हुये एक ईश्वर में ध्यान और भक्ति को ही कल्याणकारी बताते हैं। दोनों के मध्य वाद-विवाद का प्रयोजन प्रवृत्ति-निवृत्ति के पक्ष-विपक्ष अथवा खण्डन-मण्डन का रहा है।

शुकदेव ने राजा जनक की शिक्षा एवं आत्म-चिन्तन के फलस्वरूप मन एवं इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया था। विषय-वासना में आसक्ति उनमें लेशमात्र भी नहीं रह गयी थी।

अनन्य रूप-सौन्दर्य एवं अनुपम लावण्यमयी रम्भा का अङ्ग-अङ्ग, अनङ्ग का संचार कर रहा था। उसने अपने मदिराचषक चक्षुओं से शुकदेव को भी सम्मोहित कर लेना चाहा, परन्तु शुकदेव जैसे निस्पृह ऋषि के सामने उसकी एक न चल सकी। उनकी परमात्ममयी बुद्धि में तरुणी स्त्री की कोई कल्पना ही नहीं रह गई थी। उन्होंने अपनी सहज वाणी द्वारा ब्रह्मभक्ति का रम्भा को उपदेश दिया-

अचिन्त्यरूपो भगवान्निरञ्जनो
विश्वम्भरो ज्योतिमयश्चिदात्मा।
न भावितो येन हृदि क्षणं वा
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥

अर्थात् हे देवि! मन तथा वाणी के परे अखिल विश्व का रञ्जन और पालन-पोषण करने वाले, ज्ञानरूपी प्रकाश से युक्त सच्चिदानन्द ब्रह्म का जिसने भक्तियुक्त हृदय से ध्यान नहीं किया, उस मनुष्य का जीवन व्यर्थ चला गया। अतः काम-क्रोधादि से बचकर सदा ब्रह्म का ही चिन्तन करना चाहिये, मानव-जीवन का यही सार है।

'नारीषु रम्भा!' रम्भा भी कोई साधारण स्त्री नहीं थी, जो इतने पर ही निराश हो जाती। शुकदेवजी से भी मधुर और आकर्षक स्वर में उसने अपनी विषयभोगमयी बुद्धि से भोगों में ही मनुष्य-जीवन की सार्थकता की घोषणा की। वह बोली-

'तुम भूलते हो युवक! सुन्दर देह, मोहक स्वरूप और नवीन तरुणाई का

ही समन्वय पाकर नहीं, अपितु संसार की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी तरुणी को एकान्त में अनुरक्त देखकर भी तुम इस प्रकार की निस्सार बातें करते हो –

> **पीनस्तनी चन्दनचर्चिताङ्गी,**
> **विलोलनेत्रा तरुणी सुशीला।**
> **नालिङ्गिता प्रेमभरेण येन**
> **वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥**

अर्थात् उन्नत वक्षःस्थलयुक्त शरीर पर चन्दन का लेप होने से जिसका सम्पूर्ण शरीर सुगन्धित हो रहा हो और जिसके विशाल नेत्रों में खञ्जन के सदृश चञ्चलता एवं कमल के तुल्य सुन्दरता हो, ऐसी सुशीला युवती का जिसने गाढ़ प्रेमालिङ्गन नहीं किया, मैं सत्य कहती हूँ, संसार में उसका जीवन तो व्यर्थ ही गया।

'यहां तो बन्धन है देवि! मोक्ष कहाँ? यम-नियमादि आठ अङ्गों वाले योग के द्वारा जिसका मन निर्मल और इन्द्रियाँ वश में हो चुकी हैं तथा ईश्वर की अविचलित अनन्य भक्ति के कारण शुभाशुभ-दोनों प्रकार के कर्मों से जिस की आसक्ति नष्ट हो चुकी है, मुक्ति का अधिकारी तो वही मनुष्य हो सकता है।' अतः –

> **चतुर्भुजः शङ्खगदार्युदायुधः**
> **पीताम्बरः कौस्तुभमालयावृतः।**
> **ध्याने धृतो येन समाधिना नहि**
> **वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥**

अर्थात् जिसकी चारों भुजाओं में शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म सुशोभित हैं तथा वक्षःस्थल पर जिसके कौस्तुभमणि एवं वनमाला विभूषित हो रही है, ऐसे पीताम्बरधारी हृदयहारी श्रीविष्णु के ध्यान में जिसने समाधि नहीं लगायी, अनघे! जीवन तो उसी का व्यर्थ गया।

प्रस्तुत का निषेध और शून्य का, जो कुछ नहीं है, समर्थन तो अज्ञान है। सुनो तरुण! अङ्गनाऽलिङ्गन जन्य इन्द्रिय-सुख ही स्वर्ग है और देह का नाश ही मुक्ति। इसलिये-

> **कामातुरा पूर्णशशाङ्कवक्त्रा**
> **बिम्बाधरा कामलतेव गौरी।**
> **नालिङ्गिता स्वे हृदये भुजाभ्यां**
> **वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥**

अर्थात् जिसका मुखमण्डल पूर्णिमा के चन्द्रमा की कान्ति के समान सुखदायक हो एवं जिसके बिम्बफल की तरह आरक्त अधरों में अमृत की आशङ्का हो, ऐसी काम-लता के समान कामातुरा कोमलाङ्गी बाला को जिसने दोनों हाथों में भरके अपने हृदय से नहीं लगाया, उसका जीवन तो व्यर्थ ही गया।

नहीं! निश्छल भक्ति के द्वारा शुद्ध चैतन्यरूप निरञ्जन निराकार जगन्नियन्ता ब्रह्म की अद्वैतभावेन प्राप्ति का नाम 'मोक्ष' है और वह इस नश्वर जगत् के सम्पूर्ण प्रपञ्चों को छोड़े बिना असम्भव है। उनमें भी काम, क्रोध, मोह और लोभ तो मनुष्य के महान् शत्रु हैं। अतः इनसे दूर रहकर नील कमल के समान सुन्दर नेत्रों वाले सर्वान्तर्यामी प्रभु नारायण के, जिनके आकर्षक अङ्गों पर केयूर-हारादि शोभायमान हो रहे हैं, चरण-कमलों में जिसने भक्तिपूर्वक अपने को अर्पण करके इस आवागमन के चक्र को नहीं काट दिया, उसका यह मनुष्य देह धारण करना व्यर्थ ही है-

नारायणः पङ्कजलोचनः प्रभुः
केयूरहारैः परिशोभमानः।
भक्त्या युतो येन सुपूजितो नहि
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥

इतने पर भी असफलता का वरण न करने वाली रम्भा ने अपना भाव और स्पष्ट करके मुनिवर पर अपना इन्द्रजाल बिछाना चाहा। वह बोली- 'चित्र-विचित्र आकर्षक वेषयुक्त नव-यौवना के एला-लवङ्गादि तथा कर्पूर से सुवासित मुख का जिसने कचविन्यास का सहारा लेकर एकरस हो पूर्ण रूप से स्पर्श नहीं किया, उसने संसार में जन्म लेने का भला फल ही क्या पाया। फिर काम तो पुरुषार्थ का द्योतक है, उसकी इस प्रकार अवहेलना करना तो ईश्वर का बहिष्कार है। जिस कल्पित रूपराशि पर तुम मुग्ध हो गये हो, उसे अन्तरिक्ष में खोजना निरा हठ नहीं तो और क्या है? अरे वह रूप तो तुम्हारे चरणों में दासत्व की दीन याचना कर रहा है। उसे स्वीकार करके कृतकृत्य करो, मुनिराज!'

'काम का अर्थ केवल स्त्री-सहवास नहीं है, देवि! काम पुरुषार्थ है, यदि उसका माध्यम 'धर्म' और लक्ष्य 'भगवत्सायुज्य' हो। अन्यथा विपरीत कर्म मनुष्य के अभ्युदय तथा निःश्रेयस् दोनों पर पानी फेर देते हैं और जिसे तुम कल्पित कहती हो, उसी के इंगित से तो वायु बहती है, सूर्य तपते हैं, मेघ बरसते हैं और अग्नि जलाती हैं। मनुष्य का चरम लक्ष्य उन्हीं देवाधिदेव भगवान् की प्राप्ति है तथा उस लक्ष्य की सिद्धि के लिये संसार में हरि-भक्ति के सिवाय अन्य कोई कल्याणमय पंथ ही नहीं है, जिसने इन भगवान की पूजा-अर्चना नहीं, उस मनुष्य का जीवन सर्वथा व्यर्थ है -

श्रीवत्सलक्ष्मीकृतहृत्प्रदेश -
स्ताक्ष्र्यध्वजश्चक्र धरः परात्मा।
ना सेवितो येन क्षणं मुकुन्दो
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥

अब तो रम्भा का रङ्ग फीका पड़ गया और उसकी चञ्चलता चंपत हो गयी। भक्त की अहैतुकी भक्ति के समक्ष भक्त के ज्ञान-वैराग्य से प्राप्त दिव्य-दृष्टि के समक्ष तथा जिनके हृदय में श्रीवत्स और लक्ष्मी का निवास है, ऐसे नयनाभिराम विशुद्ध रूप-सौन्दर्य के उन्मत्त शुक की भक्ति के समक्ष वासना में ओत-प्रोत स्वार्थ भरे रूप ने सर्वथा हार मानकर घुटने टेक दिये। रम्भा ने व्याकुल होकर निर्लज्ज भाव से तथा साहस का संचय करके एक बार और शुकदेवजी को विचलित करने का प्रयास किया। वह अपने उन्नत स्तनों की ओर इङ्गित कर मुनि पर उनका प्रहार करती हुई-सी बोली -

ताम्बूलरागा कुसुमप्रकीर्णा
सुगन्धितैलेन सुवासितायाः।
नामर्दितौ गृह्य कुचौ निशायां
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥

अर्थात् हे मुने! सुगन्धित पान की ललाई से सुशोभित, उत्तम पुष्पों तथा सुगन्धित तेल और अन्य पदार्थों से सुवासित शरीर वाली कामिनी का कुचमर्दन जिसने रात्रि में नहीं किया, उसका जीवन व्यर्थ ही गया।

परंतु तीनों लोकों को पवित्र करने वाले भक्त-शिरोमणि को इस पर भी जल-कमलवत् लेशमात्र भी विकार का स्पर्श न हुआ। उनके तो नेत्र बंद हो गये। सच्चिदानन्दघन स्वरूप की अमृतवाणी उन्हें न जाने किस लोक में ले गयी-

विषयान् ध्यायतश्चित्तं विषयेषु विषज्जते।
मामनुस्मरतश्चित्तं मय्यैव प्रविलीयते॥२७॥
स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।
क्षेमे विविक्त आसीनश्चिन्तयेन्मामतन्द्रितः॥२९॥

श्रीमद्भा० ११/१४/२७, २९

अर्थात् जो पुरुष निरन्तर विषय-चिन्तन किया करता है, उसका चित्त विषयों में फँस जाता है और जो मेरा स्मरण करता है, उसका चित्त मुझ में लीन

हो जाता है। संयमी पुरुष स्त्रियों ओर स्त्रियों के प्रेमियों का सङ्ग दूर से ही छोड़ कर पवित्र एकान्त स्थान में बैठकर बड़ी सावधानी से मेरा ही चिन्तन करे।

उनका मुखमण्डल अनन्त तेज से विभूषित हो उठा। वे अपने तेज से साक्षात् सूर्य की भाँति प्रज्वलित हो उठे। गद्गद् वाणी से वे श्रीभगवद्-भक्ति की महिमा का पुनः-पुनः गान कर उठे-

विश्वम्भरो ज्ञानमयः परेशो
जगन्मयोऽनन्तगुणप्रकाशः
आराध्य येनैव धृतो न योगे
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवनम्॥

अर्थात् जो सम्पूर्ण विश्व का पालन करने वाला है, जो ज्ञान से परिपूर्ण परब्रह्म है, संसार स्वरूप अनन्त गुणों को प्रकट करने वाला है, ऐसे भगवान की आराधना जिसने नहीं की तथा योग में जिनका ध्यान नहीं किया, उस पुरुष का समस्त जीवन व्यर्थ ही गया।

अलौकिक रूप-लावण्य से देवताओं तक के हृदयों पर विजय-पताका फहराने वाली कामासक्त रम्भा शुकदेव पर प्रवृत्तिमूलक पञ्चशरों का बार-बार सन्धान करके भी उन्हें लेशमात्र डिगाने में सफल नहीं हुई और अन्ततः परास्त होकर उसे अपनी राह पकड़ने को विवश होना पड़ा।

शुकदेव की सन्तान

श्रीमद्भागवत महापुराण एवं महाभारत में श्री शुकदेव के सन्तान होने का कहीं उल्लेख नहीं आया है। परन्तु विभिन्न पुराणों में शुकदेवजी के सन्तान बताई गई है, यद्यपि उनकी संख्या में समानता दृष्टिगोचर नहीं होती। सभी पुराणों में उनकी पुत्री की संख्या एक ही है, जिसका नाम कृत्वी है, कहीं कीर्तिमती भी है। जहाँ तक शुकदेव जी के पुत्रों की संख्या का प्रश्न है, विभिन्न पुराणों में उनकी संख्या में विषमता दिखाई देती है, जो चार-पाँच से लेकर बारह तक बताई गई है।

वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन के शुकदेव नाम के एक पुत्र हुये, जो वीतराग होकर वन में गमन कर गये। उनके पीछे कातर भाव से व्यास जी दौड़ कर गये, परन्तु शुकदेवजी के लौट कर न आने से वे शोक-विह्वल हो गये। तब उन्हें भगवान् शङ्कर ने शुकदेव द्वारा छाया रूप में दर्शन देने का वरदान दिया। पुराणों में शुकदेवजी के पुत्रादि उत्पन्न होने का उल्लेख देख कर ही सम्पादक द्वारा सम्भवतया श्रीद्भागवत की पाद-टिप्पणी में छाया-शुक की कल्पना कर उनके द्वारा गृहस्थोचित व्यवहार करना बताया है। पाद-टिप्पणी में भी सन्तानोत्पादन

का उल्लेख नहीं है, गृहस्थोचित कार्य-व्यवहार बहुत विशद अर्थ वाला शब्द-समुच्चय है।[१] अतएव, जिन शुकदेवजी के सन्तान होना बताया गया है, वे महाभारत के ३२१वें अध्याय में पुरा काल के शुकदेव ही होने चाहिये, उनके ही सन्तान होना प्रतीत होता है।

विभिन्न पुराणों में शुकदेवजी के सन्तान होने सम्बन्धी मूल विवरण के अवलोकन से इस विषय पर मार्ग-दर्शन में सहायता मिल सकेगी, इसी दृष्टि से कतिपय पुराणों के सन्दर्भों को उद्धृत करना समीचीन प्रकट होता है।

ब्रह्माण्ड पुराण

ब्रह्माण्ड पुराण में शुकदेव की सन्तति का विवरण है, जिसमें मित्र-वरुण, मैत्रावरुणि वसिष्ठ, शक्ति, पराशर आदि सभी का विवरण है। कृष्ण द्वैपायन को पराशर-सुत बताते हुये शुकदेव और उनकी पत्नी पीवरी से उत्पन्न पुत्र-पुत्रियों का भी उल्लेख है-

अरुन्धत्यां वसिष्ठस्तु शक्तिमुत्पादयत्सुतम।
स्वांगज जनयच्छक्तिरदृश्यंत्यां पराशरम् ॥९१॥

काल्यां पराशराज्जज्ञे कृष्णद्वैपायनः प्रभुः।
द्वैपायनादरण्यां वै शुको जज्ञे गुणान्वितः ॥९२॥

उदपद्यंत षडिमे पीवर्यां शुकं सूनवः।
भूरिश्रवाः प्रभुः शंभुः कृष्णो गौरश्च पंचमः ॥९३॥

कन्या कीर्तिमती चैव योगमाता धृतव्रता।
जननी ब्रह्मदत्तस्य पत्नी सा त्वणुहस्य च ॥९४॥

श्वेताः कृष्णाश्च गौराश्च श्यामधूम्राश्च चंडिनः।
ऊष्मादा दारिकाश्चैव नीलाश्चैव पराशराः ॥९५॥

पराशराणामष्टौ ते पक्षाः प्रोक्ता महात्मनाम्।
अत ऊर्द्ध निबोध त्वमिंद्रप्रमति संभवम् ॥९६॥

वसिष्ठस्य कपिंजल्यां घृताच्यामुदपद्यत।
कुणीति यः समाख्यात इंद्रप्रमतिरुच्यते ॥९७॥

पृथोः सुतायां संभू तः पुत्रस्तस्याभवद्वसुः।
उपमन्युः सुतस्तस्य यस्येमे ह्यौपमन्यवः ॥९८॥

---

१. श्रीमद्भागवत महापुराण - गीताप्रेस गोखरपुर, द्वितीय खण्ड, संस्करण सं० २०४८, पृष्ठ ९५ (पाद टिप्पणी)।

मित्रावरुणयोश्चैव कुंडिनेयाः परिश्रुताः।
एकार्षेयास्तथा चान्ये वसिष्ठा नाम विश्रुताः॥९९॥
ब्रह्मा० पु० उपो० पा० ३/८/९१-९९

अर्थात् वसिष्ठ ने अरुन्धती से शक्ति को उत्पन्न किया। शक्ति एवं अदृश्यन्ती के संयोग से पुत्र पराशर का जन्म हुआ। पराशर ने काली में महान् ऋषि कृष्ण द्वैपायन को उत्पन्न किया तथा द्वैपायन द्वारा अरणी में शुकदेव का जन्म हुआ। शुक एवं पीवरी से शुक की ये छः सन्तान उत्पन्न हुईं। भूरिश्रवा, प्रभु, शंभु, कृष्ण तथा पाँचवें गौर (पुत्रगण) व शुकदेव के कीर्तिमती नाम की योगपरायणा तथा व्रत-धारण करने वाली कन्या का भी जन्म हुआ, जो अणुह की पत्नी तथा ब्रह्मदत्त की माता हुई। श्वेत, कृष्ण, गौर, श्याम, धूम्र, चंडी, ऊष्मा पान करने वाले दारक तथा नील ये सभी विद्वानों द्वारा पराशर के आठ पक्ष कहे गये हैं। अब इसके उपरान्त इन्द्रप्रतिम के पुत्रों का विवरण सुनिये। कपिञ्जली घृताची में वसिष्ठ के कुणीति नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो इन्द्रप्रतिम नाम से प्रसिद्ध है। पृथु की पुत्री में उनके वसु नामक एक अन्य पुत्र हुआ, उसके उपमन्यु हुआ, जिसके वंश में उत्पन्न होने से ये औपमन्यु हैं। मित्र-वरुण के वंश में उत्पन्न होने वाले जो कुण्डी नाम से विख्यात वंशधर हैं, वे एक ही मूल ऋषि के वंशधर हैं तथा अन्य वसिष्ठ नाम से विख्यात हैं।

ऊपर जो 'छह' सन्तान (षड्मे शुक सूनवः अर्थात् शुकदेव के छह पुत्रों) का उल्लेख है, उसमें छह पुत्रों के स्थान पर छह सन्तान को जन्म देना समझा जाना चाहिये, जिनके एक पुत्री कीर्तिमती भी सम्मिलित है।

मत्स्य पुराण

मत्स्य पुराण के पन्द्रहवें अध्याय में शुकदेव एवं पीवरी के संयोग से उत्पन्न सन्तानों का विस्तृत वर्णन है।

मत्स्य पुराण के चौदहवें अध्याय में मत्स्यगंधा के पूर्व जन्मों में पितृलोक में निवास करने वाली पितृ-कन्या अच्छोदा का जीवन-वृत्त बताया गया है, जिसमें अच्छोदा के पितृ-लोक से पतन तथा पितृगण द्वारा उसकी प्रार्थना पर पुनरुद्धार करने का प्रसङ्ग आया है।

कूर्मपुराण[१]

कूर्म पुराण के अठारहवें अध्याय (पूर्व विभाग)में मैत्रावरुणि वसिष्ठ,

---

१. कल्याण - कूर्म पुराण पू. विभाग/अध्याय १८ (कल्याणः कूर्म पुराणाङ्क), वर्ष ७१, (१९७७) पृ० १०९.

उनके पुत्र व पौत्र क्रशमः शक्ति तथा पराशर, कृष्ण द्वैपायन व शुकदेव के वंश/वंशजों के बारे में वर्णन आता है-

अरुन्धत्यां वसिष्ठस्तु शक्तिमुत्पादयत् सुतम्।
शक्तेः पराशरः श्रीमान् सर्वज्ञस्तपतां वरः ॥२३॥

कूर्म पु० पू. वि. १८/२३

अर्थात् वसिष्ठ ने अरुन्धती से शक्ति नामक पुत्र उत्पन्न किया। शक्ति के पराशर हुए जो श्री सम्पन्न, सर्वज्ञ तथा तपस्वियों में श्रेष्ठ थे।

द्वैपायनाच्छुको जज्ञे भगवानेव शंकरः।
अंशांशेनावतीर्योर्व्यां स्वं प्राप परमं पदम् ॥२५॥
शुकस्याप्यभवन् पुत्राः पञ्चात्यन्ततपस्विनः।
भूरिश्रवाः प्रभुः शम्भुः कृष्णो गौरश्च पञ्चमः।
कन्या कीर्तिमती चैव योगमाता धृतव्रता ॥२६॥

कूर्म पु० पू० वि०/१८/२५-२६

अर्थात् भगवान् शंकर ही शुक नाम से द्वैपायन के पुत्र हुए। पृथ्वी पर अपने अंशांशरूप से उत्पन्न होकर (पुनः) अपने परम पद को प्राप्त हुए। शुक के महान् तेजस्वी पाँच पुत्र हुए, वे भूरिश्रवा, प्रभु, शम्भु, कृष्ण तथा पाँचवें गौर नाम वाले थे। साथ ही कीर्तिमती नाम की एक कन्या भी हुई, जो योगमाता और व्रतपरायणा थी।

इस प्रकार कूर्म पुराण में भी रामायणकालीन वसिष्ठ, उनके पुत्र शक्ति एवं पौत्र पराशर और महाभारत में विद्यमान वेद व्यास कृष्ण द्वैपायन के मध्य पीढ़ियों के हजारों वर्ष के अन्तर को अविच्छिन्न रूप से मिलाने से जो स्थिति बनती है वह काल-क्रम की दृष्टि से असंगत ज्ञात होती है।

वायु पुराण

वायु पुराण में भी वसिष्ठ, पराशर, शुकदेव आदि के सम्बन्ध में ब्रह्माण्ड पुराण के समान ही विवरण है। श्लोकों की शब्दावली भी लगभग समान है।

अरुन्धत्यां वसिष्ठस्तु शक्तिमुत्पादयद्द्विजाः।
सागरं जनयच्छक्तेरदृश्यन्ती पराशरम् ॥८३॥
काली पराशराज्जज्ञे कृष्णद्वैपायनं प्रभुम्।
द्वैपायनादरण्यां वै शुको जज्ञे गुणान्वितः ॥८४॥

उत्पद्यन्ते च पीवर्यां षडिमे शुकसूनवः।
भूरिश्रवाः प्रभुः शंभुः कृष्णो गौरश्च पञ्चमः॥८५॥
कन्या कीर्तिमती चैव योगमाता दृढवृता।
जननी ब्रह्मदत्तस्य पत्नी सात्वगुहस्य* च ॥८६॥
श्वेताः कृष्णाश्च गौराश्च श्यामा धूम्राः समूलिकाः।
ऊष्मपा द्वारकाश्चैव नीलाश्चैव पराशराः॥
पाराशराणामष्टौ ते पक्षाः प्रोक्ता महात्मनाम्॥८७॥
अत ऊर्ध्वं निबोधध्वमिन्द्रप्रतिमसंभवम्।
वसिष्ठस्य कपिञ्जल्यां घृताच्यां समपद्यत॥
कुशीतिया समाख्यात इन्द्रप्रतिम उच्यते॥८८॥
पृथोः सुतायाः संभूतः पुत्रस्तस्याभवद्वसुः।
उपमन्युः सुतस्तस्य यस्येमे उपमन्यवः॥८९॥
मित्रावरुणयोश्चैव कुण्डिनो ये परिश्रुताः।
एकार्षेयास्यथैवान्ये वसिष्ठा नाम विश्रुताः॥९०॥

वायु पुराण – ७०/८३–९०

अर्थात् हे द्विजवृन्द! वसिष्ठ ने अरुन्धती में शक्ति को उत्पन्न किया। अदृश्यन्ती ने शक्ति के संयोग से पराशर को जन्म दिया। काली ने पराशर के संयोग से परम ऐश्वर्यशाली कृष्ण द्वैपायन को उत्पन्न किया। द्वैपायन के संयोग से अरणी में परम गुणवान् शुक की उत्पत्ति हुई। पीवरी में शुक की ये छह सन्तानें उत्पन्न हुईं – भूरिश्रवा, प्रभु, शंभु, कृष्ण और पाँचवें गौर–पुत्रगण तथा कीर्तिमती नामक कन्या, जो योगाभ्यास में सदा निरत रहने वाली तथा दृढ़व्रत परायणा थी, वह ब्रह्मदत्त की माता और सात्वगुह* की स्त्री हुई। श्वेत, कृष्ण, गौर, श्याम, धूम्र, समूलिक, ऊष्मपान करने वाले दारक तथा नील ये आठ पराशर पक्ष में उत्पन्न होने वाले महापुरुषों के गोत्रकर्ता हैं। अब इसके उपरान्त इन्द्रप्रतिम के पुत्रों का वर्णन सुनिये। कपिञ्जली घृताची में वसिष्ठ के कुशीति (क्रणति) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो इन्द्रप्रतिम के नाम से प्रसिद्ध है। पृथु की पुत्री में उनके वसु नामक एक अन्य पुत्र उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र उपमन्यु हुआ, जिसके

* अन्य पुराणों में सामान्यतया 'अणुह' नाम आया है। वास्तव में यहाँ मुद्रण की त्रुटि प्रतीत होती है। इस शब्द में 'णु' के स्थान पर 'गु' हो गया लगता है। 'णु' होने पर यह सात्वणुहस्य (सा तु अणुहस्य) हो जाता।

वंश में उत्पन्न होने वाले ये उपमन्यु गोत्रीय हैं। मित्रावरुण के वंश में उत्पन्न होने वाले जो कुण्डी नाम से विख्यात वंशधर हैं, वे एक ही मूल ऋषि के वंशधर हैं और अन्य वसिष्ठ नाम से विख्यात हैं।

लिंगपुराण

लिंग पुराण में शुकदेव के ५ पुत्र एवं एक कन्या होने का उल्लेख है-

भूरिश्रवाः प्रभुः शम्भुः कृष्णो गौरस्तु पञ्चमः।
कन्या कीर्तिमती चैव योगमाता धृतव्रता॥८६॥
जननी ब्रह्मदत्तस्य पत्नी सा त्वणुहस्य च।
श्वेतः कृष्णश्च गौरश्च श्यामो धूम्रस्तथारुणः॥८७॥
नीलो बादरिकश्चैव सर्वे चैते पराशराः।
पराशराणामष्टौ ते पक्षा प्रोक्ता महात्मनाम्॥८८॥

लिंग पुराण - ४६/८५-८८

अर्थात् शुक ने पीवरी से भूरिश्रवा, प्रभु, शम्भु, कृष्ण एवं ५ गौर ये पाँच पुत्र तथा उनके योगपरायणा तथा दृढ़व्रत धारण करने वाली कन्या कीर्तिमती को उत्पन्न किया। वह ब्रह्मदत्त की माता तथा अणुह की पत्नी है।

श्वेत, कृष्ण, गौर, श्याम, धूम्र, समूलिक, ऊष्मा पान करने वाले दारक तथा नील ये आठ पराशर-गोत्र में उत्पन्न होने वाले महापुरुषों के गोत्रकर्ता हैं। लिंग पुराण में वायु पुराण एवं अन्य पुराणों के समान ही वसिष्ठ के अन्य पुत्रों की सन्तति का विवरण दिया गया है।[1]

सौर पुराण[2]

सौर पुराण के अनुसार भूरिश्रवा, प्रभु, शम्भु, कृष्ण और गौर नाम के पाँच पुत्र थे तथा कीर्तिमती नामक एक कन्या थी। ये सब ही अपने वंश की कीर्ति बढ़ाने वाले थे -

भूरिश्रवाः प्रभुः शम्भुः कृष्णो गौरस्तु पञ्चमः।२६॥ उत्त०
कन्या कीर्तिमती नाम वंशायैते प्रकीर्तिता। २७। पूर्वा०

सौर पुराण १६/२६-२७

कन्या कीर्तिमती भरद्वाज वंशज काम्पिल्य नगर के नृप अणुह जी को ब्याही गई थी। महान् योगी और सब जीवों की बोली को समझने वाले ब्रह्मदत्त

---

१. लिंग पुराण (प्रथम खण्ड) - सम्पा. श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्करण २०००, पृ. ३५४.
२. सौर (सूर्य) पुराण - सम्पा. डा० चमन लाल गौतम, संस्करण १९९७, पृ. १२८.

जी का जन्म इसी कीर्तिमती के उदर से हुआ था।

देवी भागवत

देवी भागवत में भी शुकदेव के पुत्र-पुत्रियों के बारे में विस्तारपूर्वक विवरण उपलब्ध होता है।

निम्न श्लोक से यह ज्ञात होता है कि पराशर पुत्र व्यास ने पुत्र-प्राप्ति के लिये कठोर तपस्या की थी-

कस्मात्तपस्यति व्यासः कोऽर्थस्तस्य मनोगतः।
पाराशर्यस्तु पुत्रार्थी तपश्चरति दुश्करम्॥

देवी भागवत [१] प्रथम ख० ५/८

अर्थात् इन्द्र ने शिवजी से पूछा : पराशर पुत्र व्यास द्वारा इस कठोर तपस्या का मन्तव्य क्या है? तब शिवजी ने कहा – पुत्र-प्राप्ति की कामना।

शुकदेव ने पितरों की कन्या पीवरी को अपनी पत्नी बनाया, जिसने शुकदेवजी के पुत्र-पुत्रियों को जन्म दिया-

पितृणां सुभगा कन्या पीवरी नाम सुन्दरी।
शुकश्चकार पत्नीं तां योगमार्गस्थितोऽपि हि॥३५॥
स तस्यां जनयामास पुत्राश्चतुर एव हि।
कृष्णं गौरप्रभं चैव भूरिं देवश्रुतं तथा॥३६॥
कन्यां कीर्तिं समुत्पाद्य व्यासपुत्रः प्रतापवान्।
ददौ विभ्राजपुत्राय त्वणुहाय महात्मने॥३७॥
अणुहस्य सुतः श्रीमान्ब्रह्मदत्तः प्रतापवान्।
ब्रह्मज्ञः पृथिवीपालः शुककन्यासमुद्भवः॥३८॥
कालेन कियता तत्र नारदस्योपदेशतः।
ज्ञानं परमेकं प्राप्य योगमार्गमनुत्तमम्॥३९॥

देवी भागवत [२] प्रथम ख०/६/३५-३९

अर्थात् योगमार्ग में स्थित रहते हुये भी शुकदेवजी ने पितरों की पीवरी नामक सुन्दर कन्या से विवाह किया। उनसे उन्हें चार पुत्र – कृष्ण, गोर प्रभ, भूरि और देवश्रुत नामक चार पुत्र उत्पन्न हुये। उन्होंने कीर्ति नाम की एक कन्या को जन्म दिया, जिसका विवाह विभ्राज-पुत्र अणुह के साथ किया गया। इस

---

१. देवी भावगत प्रथम खण्ड – सम्पा० पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, सं० १९९२, पृ० ६५.
२. देवी भावगत प्रथम खण्ड – सम्पा० पं० श्रीराम शर्मा आचार्य, सं० १९९२, पृ० ७५.

शुकदेव की कन्या से अणुह द्वारा परम प्रतापी एवं ब्रह्मज्ञानी राजा ब्रह्मदत्त उत्पन्न हुये। कुछ काल के अनन्तर ब्रह्मदत्त नारद जी से उपदेश प्राप्त करके अत्युत्तम ज्ञान सहित योग-मार्ग को पा सके।

श्री हरिवंश पुराण

हरिवंश पुराण के १८वें अध्याय में पीवरी का पितरों (बर्हिषद्) की मानसी कन्या एवं पराशर के कुल में परम् तेजस्वी शुकदेव के जन्म होने का प्रसङ्ग निम्नानुसार है-

एतेषां मानसी कन्या पीवरी नाम विश्रुता।
योगी च योगिपत्नी च योगिमाता तथैव च ॥४९॥
भवित्री द्वापरं प्राप्य युगं धर्मभृतां वरा।
पराशरकुलोद्भूतः शुको नाम महातपाः ॥५०॥
भविष्यति युगे तस्मिन् महायोगी द्विजर्षभः।
व्यासादरण्यां सम्भूतो विधूमोऽग्निरिव ज्वलन् ॥५१॥

हरिवंश पुराण हरिवंश पर्व/१८/४९-५१ [१]

अर्थात् इन (बर्हिषद् पितरों) की मानसी कन्या पीवरी नाम से विख्यात है। पीवरी स्वयं योगिनी, योगी की पत्नी तथा योगियों की माता है। धर्मधारिणी स्त्रियों में श्रेष्ठ यह पीवरी द्वापर में उत्पन्न होने वाली है। उसी युग में पराशर के कुल में व्यासजी के द्वारा अरणी से आविर्भूत धूमरहित अग्नि के समान प्रकाशमान्, महातपस्वी, महायोगी, द्विजश्रेष्ठ शुक उत्पन्न होंगे-[१]

स तस्यां पितृकन्यायां पीवर्यां जनयिष्यति।
कन्यां पुत्रांश्च चतुरोयोगाचार्यान् महाबलान् ॥५२॥
कृष्णं गौरं प्रभुं शम्भुं कृत्वीं कन्यां तथैव च।
ब्रह्मदत्तस्य जननीं महिषीं त्वणुहस्य च ॥५३॥

हरिवंश पुराण/हरिवंश पर्व /१८/५२-५३

अर्थात् वे ही शुकदेव पितरों की इस कन्या पीवरी में कृष्ण, गौर, प्रभु और शम्भु-इन चार महाबली योगाचार्य पुत्रों तथा ब्रह्मदत्त की जननी और अणुह की पत्नी कृत्वी नामवाली कन्या को उत्पन्न करेंगे।

एतानुत्पाद्य धर्मात्मा योगाचार्यान् महाव्रतान्।
श्रुत्वा स्वजनकाद् धर्मान् व्यासादमितबुद्धिमान् ॥५४॥

१. हरिवंश पुराण, हरिवंश पर्व अध्याय १८, (गीताप्रेस गोरखपुर), सं. २०४५, पृष्ठ ६५.

महायोगी ततो गन्तापुनरावर्तिनीं गतिम्।
यत्तत्पदमनुद्विग्नमव्ययं ब्रह्म शाश्वतम्॥५५॥

हरिवंश पुराण/हरिवंश पर्व/१८/५४-५

अर्थात् वे धर्मात्मा इन महाव्रतधारी योगाचार्यों को उत्पन्न कर अपने पिता व्यासजी से धर्मों का रहस्य सुनेंगे। तदनन्तर अपार बुद्धि वाले महायोगी शुक अपुनरावर्तिनी गति को प्राप्त होंगे। वह परमगति उद्वेगरहित, कभी नष्ट न होने वाली तथा सनातन ब्रह्मपद रूप है।

वसिष्ठ-पुत्र एवं पौत्र : मंत्र-द्रष्टा

"ऋग्वेदादि में महर्षि वसिष्ठ के ऐसे बारह पुत्रों का उल्लेख है, जो मन्त्रदृष्टा रहे हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं-[१]

१. मन्यु २. उपमन्यु ३. व्याघ्रपात् ४. मृळीक ५. वृषगण ६. प्रथ ७. इन्द्रप्रमति (अनेक पुराणों में इन्द्रप्रतिम) ८. द्युम्नीक ९. चित्रमहा १०. कर्णश्रुत ११. वसुक्र तथा १२. शक्ति।

इनके साथ ही वसिष्ठजी के चार पौत्र भी हैं, जो सभी मन्त्र-दृष्टा ऋषि हैं-

१. वसुकृद् वासुक्र २. वसुकर्ण वासुक्र ३. पराशर शाक्त्य तथा ४. गौरवीति शाक्त्य।"

मैत्रावरुणि वसिष्ठ के दो पुत्रों (वसुक्र तथा शक्ति) के दो-दो पुत्र किंवा वसिष्ठ-पौत्र भी मन्त्र-द्रष्टा ऋषि रहे हैं, जिनका पूर्व अध्याय में विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है।

वसिष्ठ जी की शाखा का वर्णन

मत्स्य पुराण में मैत्रावरुणि वसिष्ठ की शाखा का कथन किया गया है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि शाखा का तात्पर्य उस वेद की शाखा से है, जिनमें वे स्वयं को मानते आ रहे हैं।

गुरु-शिष्य सम्बन्ध भी शाखा व गोत्र का आधार- भारतवर्ष में ऋषि-परम्परा की यह एक सुस्थापित परिपाटी है कि शिष्य भी गुरु की शाखा व गोत्र का अधिकारी हो जाता है तथा स्वयं को गुरु के वंश का घोषित करता है।

मानस-पुत्र की मान्यता- साधारणतया हम विभिन्न पुराणों आदि ग्रन्थों में मानसिक-पुत्रत्व के अनेकानेक प्रसङ्ग पाते हैं, जैसे ब्रह्मा के मानस-पुत्र।

वास्तव में औरस-पुत्र के अतिरिक्त मानस-पुत्र का भी अपना स्वतंत्र

---

१. कल्याण - वेदकथाङ्क, वर्ष ७३ (१९९९) पृ. २३.

अस्तित्व होता है, यह सामान्यतया गुरु-शिष्य सम्बन्ध से अधिक व्यावहारिक दिखाई देता है। एक शिष्य गुरु से भावात्मक लगाव रखता है तथा पूर्ण निष्ठा एवं समर्पण-भाव से उनसे कुछ सीखता है। निरन्तर उनके सान्निध्य में रहकर उनसे शिक्षा, संस्कार, ज्ञान-विज्ञान, अध्यात्म एवं योग-विद्या आदि का गुह्यतम ज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार एक शिष्य गुरु के पुत्र से भी अधिक अपने गुरु से घनिष्ठ एवं अन्तर्तम सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। इस प्रकार शारीरिक दृष्टि से अपने मूल वंश का प्रतिरूप होते हुये भी वह आध्यात्मिक स्तर पर अपने गुरु के व्यक्तित्व को सम्पूर्णता से ग्रहण कर लेता है तथा वैचारिक, भावात्मक एवं आध्यात्मिक धरातल पर अपने गुरु का सर्वाधिक सामीप्य प्राप्त करता है।

अतएव, शिष्य के मानसिक एवं आध्यात्मिक व्यक्तित्व का निर्माण करने वाले गुरु उसके सर्वस्व हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में एक शिष्य अपने गुरु के गोत्र एवं वंश का उनकी स्वीकृति के पश्चात् अधिकारी हो सकता है।

महर्षि पराशर का वंश

मत्स्य पुराण के अध्याय दो सौ एक में महर्षि पराशर के वंश का वर्णन निम्न प्रकार किया गया है-

वसिष्ठस्तु महातेजा निमेः पूर्वपुरोहितः।
बभूवुः पार्थिवश्रेष्ठ यज्ञास्तस्य समंततः ॥१॥
श्रान्तात्मा पार्थिवश्रेष्ठ विशश्राम तदा गुरुः।
तं गत्वा पार्थिवश्रेष्ठो निमिर्वचनमब्रवीत् ॥२॥
भगवन् यष्टुमिच्छामि तन्मां याजय मा चिरम्।
तमुवाच महातेजा वसिष्ठः पार्थिवोत्तमम् ॥३॥
कंचित्कालं प्रतीक्षस्व तव यज्ञैः सुसत्तमैः।
श्रान्तोऽस्मि राजन् विश्रम्य याजयिष्यामि ते नृप ॥४॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच वसिष्ठं नृपसत्तमः।
पारलौकिककार्ये तु कः प्रतीक्षितुमुत्सहेत् ॥५॥
न च मे सौहृदं ब्रह्मन् कृतान्तेन बलीयसा।
धर्मकार्ये त्वरा कार्या चलं यस्माद्धि जीवितम् ॥६॥
धर्मपथ्यौदनो जन्तुर्मृतोऽपि सुखमश्नुते।
श्वः कार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चापराह्णिकम् ॥७॥

न हि प्रतीक्षते मृत्युः कृतं चास्य न वाकृतम्।
क्षेत्रापणगृहासक्तमन्यत्र गतमानसम् ॥८॥
वृकीवोरणमासाद्य मृत्युरादाय गच्छति।
न कालस्य प्रियः कश्चिद् द्वेष्यश्चास्य न विद्यते॥९॥
आयुष्ये कर्मणि क्षीणे प्रसह्य हरते जनम्।
प्राणवायोश्चलत्वं च त्वया विदितमेव च॥१०॥
यदत्र जीव्यते ब्रह्मन् क्षणमात्रं तदद्भुतम्।
शरीरं शाश्वतं मन्ये विद्याभ्यासे धनार्जने॥११॥
अशाश्वतं धर्मकार्ये ऋणवानस्मि संकटे।
सोऽहं सम्भृतसम्भारो भवन्मूलमुपागतः॥१॥
न चेद् याजयसे मां त्वमन्यं यास्यामि याजकम्।

मत्स्य पुराण २०१/१-१२

अर्थात् राजसत्तम! महातेजस्वी वसिष्ठजी निमि के पूर्व पुरोहित थे। उनके सदा चारों ओर यज्ञ होते रहते थे। पार्थिवश्रेष्ठ! किसी समय यज्ञों का सम्पादन कराने से श्रान्त हुए गुरु वसिष्ठ विश्राम कर रहे थे, उसी समय राजाओं में श्रेष्ठ निमि ने उनके पास जाकर इस प्रकार कहा–'भगवन्! मैं यज्ञ करना चाहता हूँ, अतः मेरा यज्ञ कराइये, देर मत कीजिये।'

यह सुनकर महातेजस्वी वसिष्ठ जी ने राजश्रेष्ठ निमि से कहा–'राजन्! मैं आपके श्रेष्ठ यज्ञों का अनुष्ठान कराने से थक गया हूँ, अतः कुछ काल तक प्रतीक्षा कीजिये। नरेश! विश्राम कर लेने के बाद मैं पुनः आपका यज्ञ कराऊँगा।' ऐसा कहे जाने पर राजश्रेष्ठ निमि ने वसिष्ठजी को इस प्रकार उत्तर दिया– ब्रह्मन्! परलोक–सम्बन्धी कार्य में कौन मनुष्य प्रतीक्षा करना चाहेगा? बलवान् यमराज से मेरी कोई मित्रता तो है नहीं, अतः धर्मकार्य में शीघ्रता ही करनी चाहिये; क्योंकि जीवन क्षणभङ्गुर है। धर्मरूप ओदन को पथ्य बनाने वाला प्राणी मरने पर भी सुख का भोग करता है। इसलिये कल होने वाले कार्य को आज ही एवं दूसरे प्रहर में सम्पादित होने वाले कार्य को पूर्व प्रहर में ही सम्पन्न कर लेना चाहिये; क्योंकि मृत्यु इस बात की प्रतीक्षा नहीं करती कि इसने अपना कार्य कर लिया है अथवा नहीं। अतः मृत्यु खेत, बाजार और गृह में आसक्त या अन्यत्र कहीं आसक्त मन वाले मनुष्य को उसी प्रकार लेकर चल देती है, जैसे भेड़िया मृग के बच्चे को लेकर चला जाता है। काल का न तो कोई प्रिय है और न कोई द्वेष्य ही है। आयु

के साधक कर्म के क्षीण होते ही वह बलपूर्वक मनुष्य का अपहरण कर लेता है। प्राणवायु की चञ्चलता तो आप भी जानते ही हैं। ब्रह्मन्! ऐसी दशा में जो क्षण भर भी जीवित रहता है, यही आश्चर्य है। विद्या के अभ्यास और धन के उपार्जन में शरीर को चिरस्थायी समझना चाहिये, किंतु धर्म-कार्य में उसे क्षणभङ्गुर मानना चाहिये। ऐसे संकट के समय मैं ऋणी बन गया हूँ, अतः मैं सभी द्रव्यों का आयोजन कर आपके चरणों के निकट आया हूँ। यदि इस समय आप मेरा यज्ञ नहीं करायेंगे तो मैं किसी अन्य याजक के पास जाऊँगा।'

एवमुक्तस्तदा तेन निमिना ब्राह्मणोत्तमः ॥१३॥
शशाप तं निमिं क्रोधाद् विदेहस्त्वं भविष्यसि।
श्रान्तं मां त्वं समुत्सृज्य यस्मादन्यं द्विजोत्तमम् ॥१४॥
धर्मज्ञस्तु नरेन्द्र त्वं याजकं कर्तुमिच्छसि।
निमिस्तं प्रत्युवाचाथ धर्मकार्यरतस्य मे ॥१५॥
विघ्नं करोषि नान्येन याजनं च तथेच्छसि।
शापं ददामि तस्मात् त्वं विदेहोऽथ भविष्यसि ॥१६॥
एवमुक्ते तु तौ जातौ विदेहौ द्विजपार्थिवौ।
देहहीनौ तयोर्जीवौ ब्रह्माणमुपजग्मतुः ॥१७॥
तावागतौ समीक्ष्याथ ब्रह्मा वचनमब्रवीत्।
अद्यप्रभृति ते स्थानं निमिजीव ददाम्यहम् ॥१८॥
नेत्रपक्ष्मसु सर्वेषां त्वं वसिष्यसि पार्थिव।
त्वत्सम्बन्धात् तथा तेषां निमेषः सम्भविष्यति ॥१९॥
चालयिष्यन्ति तु तदा नेत्रपक्ष्माणि मानवाः।
एवमुक्तो मनुष्याणां नेत्रपक्ष्मसु सर्वशः ॥२०॥
जगाम निमिजीवस्तु वरदानात् स्वयम्भुवः।

मत्स्य पुर० २०१/१३-२०½

अर्थात् तब उन निमि द्वारा इस प्रकार कहे जाने पर ब्राह्मणश्रेष्ठ वसिष्ठ ने क्रोधपूर्वक निमि को शाप देते हुए कहा- 'नरेन्द्र! ' यदि तुम धर्म के ज्ञाता होकर भी मुझ थके हुए पुरोहित का परित्याग कर किसी अन्य ब्राह्मणश्रेष्ठ को याजक बनाना चाहते हो तो तुम शरीर रहित हो जाओगे।' तब निमि ने उत्तर दिया- 'मैं धार्मिक कार्य के लिये उद्यत हूँ, किंतु आप इसमें विघ्न डाल रहे हैं तथा दूसरे के

द्वारा यज्ञ सम्पन्न होने देना भी नहीं चाहते, अतः मैं भी आपको शाप दे रहा हूँ कि आप भी विदेह हो जायेंगे।' ऐसा कहते ही राजा और ब्राह्मण दोनों शरीर-रहित हो गये। तब उन दोनों के देहहीन जीव ब्रह्मा के पास गये।

उन दोनों को आया हुआ देखकर ब्रह्मा इस प्रकार बोले- 'निमिरूप जीव! आज से मैं तुम्हारे लिये एक स्थान दे रहा हूँ। राजन्! तुम सभी प्राणियों के नेत्रों की पलकों में निवास करोगे। तुम्हारे संयोग से ही उनके निमेष-उन्मेष (आँख का खुलना और बन्द होना) होंगे।' आप सभी मानव नेत्रों के पलकों को चलाते रहेंगे। इस प्रकार कहे जाने पर निमि का जीव ब्रह्मा के वरदान से सभी मनुष्यों के नेत्र-पलकों पर स्थित हो गया ॥१३-२०½ ॥

वसिष्ठजीवो भगवान् ब्रह्मा वचनमब्रवीत् ॥२१ ॥
मित्रावरुणयोः पुत्रो वसिष्ठ त्वं भविष्यसि।
वसिष्ठेति च ते नाम तत्रापि च भविष्यति ॥२२ ॥
जन्मद्वयमतीतं च तत्रापि त्वं स्मरिष्यसि।
एतस्मिन्नेव काले तु मित्रश्च वरुणस्तथा ॥२३ ॥
बदर्याश्रममासाद्य तपस्तेपतुरव्ययम्।
तपस्यतोस्तयोरेवं कदाचिन्माधवे ऋतौ ॥२४ ॥
पुष्पितद्रुमसंस्थाने शुभे दयितमारुते।
उर्वशी तु वरारोहा कुर्वती कुसुमोच्चयम् ॥२५ ॥
सुसूक्ष्मरक्तवसना तयोर्दृष्टिपथं गता।
तां दृष्ट्वेन्दुमुखीं सुभ्रूं नीलनीरजलोचनाम् ॥२६ ॥
उभौ चुक्षुभतुर्देवौ तद्रूपपरिमोहितौ।
तपस्यतोस्तयोर्वीर्यमस्खलच्च मृगासने ॥२७ ॥
स्कन्नं रेतस्ततो दृष्ट्वा शापभीता वराप्सरा।
चकार कलशे शुक्रं तोयपूर्णे मनोरमे ॥२८ ॥
तस्माद्दषिवरौ जातौ तेजसाप्रतिमौ भुवि।
वसिष्ठश्चाप्यगस्त्यश्च मित्रावरुणयोः सुतौ ॥२९ ॥
वसिष्ठस्तूपयेमेऽथ भगिनीं नारदस्य तु।
अरुंधतीं वरारोहां तस्यां शक्तिमजीजनत् ॥३० ॥

शक्तेः पराशरः पुत्रस्तस्य वंशं निबोध मे।
यस्य द्वैपायनः पुत्रः स्वयं विष्णुरजायत॥३१॥
प्रकाशो जनितो लोके येन भारतचन्द्रमाः।
येनाज्ञानमोऽन्धस्य लोकस्योतन्मीलनं कृतम्।
पराशरस्य तस्य त्वं शृणु वंशमनुत्तमम्॥३२॥

मत्स्य पु० २०१/२०½ -३२

अर्थात् तदनन्तर भगवान ब्रह्मा ने वसिष्ठ के जीव से कहा- वसिष्ठ! तुम मित्र-वरुण के पुत्र होओगे। वहाँ भी तुम्हारा नाम वसिष्ठ ही होगा और तुम्हें बीते हुए दो जन्मों का स्मरण बना रहेगा। इसी समय मित्र और वरुण- दोनों बदरिकाश्रम में आकर दुष्कर तपस्या में तत्पर थे। इस प्रकार उन दोनों के तपस्या में रत रहने पर किसी समय वसन्त ऋतु में जब सभी वृक्ष और लताएँ पुष्पित थीं, मन्द-मन्द मनोहर पवन प्रवाहित हो रहा था, सुन्दरी उर्वशी पुष्पों को चुनती हुई वहाँ आयी। वह महीन लाल वस्त्र धारण किये हुए थी। संयोगवश वह उन दोनों तपस्वियों की आँखों के सामने आ गयी। उसके नेत्र नील कमल के समान थे तथा मुख चन्द्रमा के समान सुन्दर था। उस सुन्दर भौहों वाली उर्वशी को देखकर उसके रूप पर मोहित हो उन दोनों तपस्वियों का मन क्षुब्ध हो उठा। तब तपस्या करते हुए ही उन दोनों का वीर्य मृगासन पर स्खलित हो गया। तब शाप से भयभीत हुई सुन्दरी उर्वशी ने उस वीर्य को जलपूर्ण मनोरम कलश में रख दिया।[१]

उस कलश से वसिष्ठ और अगस्त्य नामक दो ऋषि श्रेष्ठ उत्पन्न हुए, जो भूतल पर अनुपम तेजस्वी थे। वे मित्र और वरुण के पुत्र कहलाये। तदनन्तर वसिष्ठ ने देवर्षि नारद की बहन सुन्दरी अरुन्धती से विवाह किया और उसके गर्भ से शक्ति नामक पुत्र को उत्पन्न किया। शक्ति के पुत्र पराशर हुए। अब मुझसे उनके वंश का वर्णन सुनिये। स्वयं भगवान विष्णु पराशर के पुत्र-रूप में द्वैपायन नाम से उत्पन्न हुए, जिन्होंने इस लोक में भारतरूपी चन्द्रमा को प्रकाशित किया, जिससे अज्ञानान्धकार से अन्धे हुए लोगों के नेत्र खुल गये। (यहाँ भी वही विसंगति दिखाई देती है। यह सम्भव है कि कृष्णद्वैपायन सहस्त्रों वर्षों पश्चात् शाक्त्य पराशर के वंश में जन्मे हों, इस कारण पराशर के वंश में उत्पन्न होने से उन्हें पराशर-पुत्र कहा गया हो, जैसे श्री रामचन्द्र को रघु-नन्दन भी कह दिया जाता है। सम्भावना

१. यहाँ प्रतीकात्मक रूप से उर्वशी द्वारा गर्भ-धारण की स्थिति को ही दर्शाया गया है। गरुड़ एवं अन्य पुराणों में स्त्री-कुक्षि को घट का पर्याय कहा गया है। यह सर्वविदित है कि शुक्रपात् से सदैव ही सन्तान उत्पन्न नहीं होती, वह व्यर्थ भी हो जाता है। यहाँ घट में रख देने का अर्थ गर्भ-धारण ही समझा जाना चाहिये।

यही है कि कृष्ण द्वैपायन शाक्त्य पराशर से भिन्न इसी नाम के अन्य ऋषि के पुत्र हैं)। अब उन पराशर के श्रेष्ठ वंश की परम्परा सुनिये-

काण्डशयो वाहनपो जैह्मपो भोमतापनः।
गोपालिरेषां पञ्चम् एते गौराः पराशराः॥३३॥
प्रपोहया वाह्यमयाः ख्यातेयाः कौतुजातयः।
हर्यश्विः पञ्चमो ह्येषां नीला ज्ञेयाः पराशराः॥३४॥
कार्ष्णायनाः कपिमुखाः काकेयस्था जपातयः।
पुष्करः पञ्चमश्चैषां कृष्णा ज्ञेयाः पराशराः॥३५॥
श्राविष्ठायनबालेयाः स्वायष्टाश्चोपयाश्च ये।
इषीकहस्तश्चैते वै पञ्च श्वेताः पराशराः॥३६॥
वाटिको बादरिश्चैव स्तम्बा वै क्रोधनायनाः।
क्षैमिरेषां पञ्चमस्तु एते श्यामाः पराशराः॥३७॥
खल्यायना वार्ष्णायनास्तैलेयाः खलु यूथपाः।
तन्तिरेषां पञ्चमस्तु एते धूम्राः पराशराः॥३८॥
पराशराणां सर्वेषां त्र्यार्षेयः प्रवरो मतः।
पराशरश्च शक्तिश्च वसिष्ठश्च महातपाः॥३९॥

मत्स्य पु० २०१/३३-३९

अर्थात् काण्डशय, वाहनप, जैह्मप, भौमतापन और पाँचवें गोपालि-ये गौर पराशर नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रपोहय, वाह्यमय, ख्यातेय, कौतुजाति और पाँचवें हर्यश्वि--इन्हें नील पराशर जानना चाहिये। कार्ष्णायन, कपिमुख, काकेस्थ, जपाति और पाँचवें पुष्कर-इन्हें कृष्ण पराशर समझना चाहिये। श्राविष्ठायन, बालेय, स्वायष्ट, उपय और इषीकहस्त-ये पाँच श्वेत पराशर हैं। वाटिक, बादरि, स्तम्ब, क्रोधनायन और पाँचवें क्षैमि ये श्याम पराशर हैं। खल्यायन, वार्ष्णायन, तैलेय, यूथप और पाँचवें तन्ति-ये धूम्र पराशर हैं। इन सभी पराशरों के पराशर, शक्ति और महातपस्वी वसिष्ठ-ये तीन ऋषि प्रवर माने गये हैं।

पुराणों में पराशर की वंश-परम्परा अथवा पुत्रों के वर्णन में सर्वत्र पराशर नाम की ही आवृत्ति है, कृष्ण द्वैपायन नाम का एक बार भी उल्लेख नहीं है; इस तथ्य को भी दृष्टिगत करते हुये निरपेक्ष-भाव से वस्तुस्थिति का अनुमान लगाया जाना चाहिये।

विभिन्न पुराणों में शुकदेव के वंशजों का वर्णन

जैसा कि उल्लेख किया गया है, श्रीमद्भागवत महापुराण एवं महाभारत में शुकदेव की सन्तान अथवा वंशजों का वर्णन नहीं है, परन्तु पुराणों में विस्तार सहित शुकदेव के वंशजों का नामोल्लेख हुआ है।

ऊपर मत्स्य पुराण के दो सौ एकवें अध्याय में पराशर का पुत्र कृष्ण द्वैपायन को बताया गया है। इस बारे में बहुत विस्तार से विवेचन किया गया है कि इक्ष्वाकु वंश के राजा कल्माषपाद के समकालीन मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र पराशर के पुत्र महाभारतकालीन कृष्ण द्वैपायन नहीं हो सकते, परन्तु इनके पिता का नाम भी पराशर होने के संयोग की संभावना ने इस विसंगति को जन्म दिया, ऐसा लगता है। दूसरी बात यह है कि कृष्ण द्वैपायन व शुकदेव के स्थान पर सीधे पराशर-वंश का विवरण दिया गया है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि अधिकांश पुराणों में व्यास-पुत्र शुकदेव के वंश का वर्णन है। शुकदेव गोत्र-प्रवर ऋषि नहीं हैं तथा कृष्ण द्वैपायन मैत्रावरुणि वसिष्ठ के युग में उत्पन्न ही नहीं हुये हैं। दोनों का ही नाम गोत्र या वंश-प्रवर्तकों में नहीं है तथा जो भी वंशज गिनाये गये हैं, वे पराशर के वंशज हैं। वैसे भी, कृष्ण द्वैपायन पुत्र शुकदेव वीतराग थे तथा उनके सन्तानोत्पत्ति होने तथा वंश-परम्परा चलने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में जिन शुकदेव के सन्तान होने का अनेकानेक पुराणों में उल्लेख है, वे पुराकाल के शुकदेव ही समझे जाने चाहिये।

मत्स्य पुराण में पराशर के वंश का प्रारम्भ ब्रह्मा के मानस-पुत्र वसिष्ठ से बताया गया है। वे राजा निमि के पुरोहित भी हैं। निमि द्वारा वसिष्ठ से यज्ञ सम्पन्न कराने की प्रार्थना पर उनके द्वारा निरन्तर यज्ञ-कार्य में संलग्न रहने से थकान के कारण बाद में यज्ञ-कार्य सम्पन्न करने बाबत कहा गया। अन्य पुराणों में वसिष्ठ के राजा इन्द्र का यज्ञ पूर्ण कराने हेतु जाने का वर्णन है। वसिष्ठ द्वारा निमि को प्रतीक्षा करने को कहा जाता है। निमि की प्रार्थना स्वीकार न करने पर निमि तथा वसिष्ठ दोनों ही क्रोधित हो जाते हैं और एक--दूसरे को देह-हीन हो जाने का शाप देते हैं।

वसिष्ठ कालान्तर में ब्रह्मा जी के वरदान से मित्र-वरुण के तेज से उर्वशी के मानस-पुत्र के रूप में जन्म लेते हैं। वे इक्ष्वाकुवंशीय राजा कल्माषपाद के समकालीन हैं, जो भगवान राम से पूर्व हुये हैं। कृष्ण द्वैपायन द्वापर एवं कलियुग के सन्धिकाल में होते हैं। अतएव कृष्ण द्वैपायन को मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र पराशर का पुत्र बताना किसी भी दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता, इसलिये अधिक

सम्भावना यही है कि उनके पिता का नाम भी पराशर रहा होगा और नाम-साम्य के संयोग से यह विचित्र विसंगति उत्पन्न हुई।

इस प्रकार वाल्मीकि रामायण, महाभारत एवं विभिन्न पुराणों आदि के प्रसङ्गों के अवलोकन एवं उनके विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष प्राप्त करना समीचीन प्रतीत होता है कि मैत्रावरुणि वसिष्ठ-पौत्र वेद व्यास पराशर के ही शुकदेव नामक पुत्र हुये होंगे। इसके सम्बन्ध में महाभारत के शान्ति पर्व के ३२१ व ३२३ वें अध्याय एवं अन्य पौराणिक ग्रन्थों के उद्धरण द्रष्टव्य हैं, जैसा कि पूर्व में वर्णित है।

इस तथ्य का पुनः उल्लेख प्रासङ्गिक प्रतीत होता है कि शाक्त्य पराशर एवं द्वैपायन दोनों ही वेदव्यास रहे हैं। अतः केवल वेदव्यास-पुत्र कह देने से भ्रम की स्थिति उत्पन्न होना स्वाभाविक है। कालान्तर में प्रसंग के प्रतिकूल वेदव्यास के उल्लेख में कृष्ण द्वैपायन के नाम के आरोपण से यह विसंगति सम्भाव्य है। अन्तिम वेदव्यास कृष्ण द्वैपायन का श्रीमद्भागवत, महाभारत आदि ग्रन्थों की रचना से लोगों में लोकप्रिय होना स्वाभाविक था, इसी कारण जहाँ 'व्यास' अथवा 'वेदव्यास' शब्द की आवृत्ति हुई, पुराणकारों एवं टीकाकारों ने उसके आगे-पीछे प्रसंग पर ध्यान दिये बिना कृष्ण द्वैपायन नाम जोड़ दिया अथवा प्रतिस्थापित कर दिया, ऐसा प्रतीत होता है।

उपलब्ध आख्यानों का विवेचन

पुराण, महाभारत आदि विविध ग्रन्थों में उपर्युक्त शुकदेव जी के विभिन्न आख्यानों का अवलोकन करने से प्रतीत होता है कि अमर कथा श्रवण करने वाले तथा चेटिका (पिंगला) अथवा वटिका के गर्भ से १२ वर्ष में जन्म लेने के उपरान्त वैराग्य ग्रहण कर वन-गमन करने वाले शुकदेव एक ही हैं।

शुक पक्षी अथवा उसका अण्डा - अमर-कथा श्रवण करने वाले शुक को एक स्थान पर शुक पक्षी का बच्चा बताया गया है तथा दूसरे स्थान पर शुक-पक्षी का अण्डा। प्रथम वर्णित पक्षि शावक शुक ने शंकर भगवान द्वारा वर्णित कथा रूपी अमृत-पान कर लिया था, जिससे अमर हो जाने की सृष्टि-क्रम विरोधी घटना जान शंकर उसे मारने दौड़े। उड़ता हुआ वह व्यास जी की पत्नी के मुख-द्वारा उदर में प्रविष्ट हो गया। दूसरे प्रसंग में मृत अण्डा अमर-कथा के प्रभाव से जीवित होकर शुक पक्षी का रूप लेकर अमर-कथा का श्रवण करते हुये हुंकार भर रहा था।

जहाँ तक शुक पक्षी के अण्डे का प्रश्न है, यह भी पक्षी अर्थात् द्विज के बाल्यकाल का ही प्रतीकात्मक रूप समझा जा सकता है, जो प्रारम्भ में उपनयन

आदि संस्कारों के सम्पन्न होने से पूर्व उसी दशा में स्थित होता है, जिस प्रकार पक्षी का रूप धारण करने से पूर्व अण्डा। यहाँ उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार दो बार उगने से दाँतों को द्विज कहा जाता है, उसी प्रकार पक्षी के भी दो ज़न्म होने से द्विज कहा जाता है- १. प्रथम अण्डे के रूप में तथा २. अण्डे से विकसित पक्षि शावक के रूप में। एक ऋषि या ब्राह्मण-पुत्र भी उपनयन संस्कार के पश्चात् दूसरा जन्म धारण करता है, इसी कारण उसे द्विज कहा जाता है। अतएव, इस प्रसंग में उपनयनादि संस्कार-हीन बालक को प्रतीक रूप में अण्डे एवं उससे निकलने वाले पक्षी को द्विज-शावक शब्द का पर्याय होने के कारण प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति दे दी गई, ऐसा लगता है।

अमरकथा के श्रवण सम्बन्धी घटना बाल सुलभ-उत्कण्ठावश शुक पक्षी (द्विज=ऋषि या विप्र) के शावक का अपने आश्रम से दूर रमणीय स्थान में जाकर कथा सुनने बैठ जाने तथा कथा के मध्य में अनावश्यक हुंकार आदि आचरण से बाधा उत्पन्न होने के कारण भगवान् शिव के क्रोधित हो जाने की सत्य घटना संभव है। बालक के मन में इतना भय समा गया होगा कि वह दीर्घावधि तक अपने पिता के गर्भ-गृह से बाहर आने को ही उद्यत नहीं हुआ।

अतः यहाँ 'शुक पक्षि-शावक' में 'पक्षी' शब्द द्विज शब्द के पर्याय के रूप में लाक्षणिक अर्थ का द्योतक है।

शुक पक्षि शावक का मुख से उदर में प्रविष्ट होना - शुक नामक पक्षी (द्विज का पर्यायवाची एवं प्रतीकात्मक बिम्ब) के व्यासजी की पत्नी के मुख द्वारा गर्भ में प्रविष्ट हो जाने का तात्पर्य यही है कि शुकदेव के प्रति व्यास-पत्नी के हृदय में अतिशय प्रेम था तथा वे अपने इस स्नेह का प्राकट्य अपने मुख द्वारा उच्चारित शब्दों के माध्यम से किया करती थीं। अर्थात् शुकदेव की छवि उनके अन्तस्तल में तथा उनका नाम सदैव व्यास-पत्नी के मुख में रहता था। जन्म लेते ही बालक की छवि को उसकी माता अपने मुखारविन्द पर विद्यमान नयनों के मार्ग से अन्तस्तल में उतार लेती है। यही नहीं , वे अत्यधिक मोहासक्त होकर बालक को अपनी दृष्टि से भी ओझल नहीं करना चाहतीं थीं। विद्याध्ययन हेतु उपनयन संस्कार भी उन्होंने उसका १२ वर्ष की अवस्था तक नहीं होने दिया होगा। इस उप-नयन संस्कार के पश्चात् ही शुकदेव (जिसे गर्भावस्था का लाक्षणिक अर्थ दिया गया है)पूर्वावस्था को छोड़ कर द्विज के रूप में दूसरा जन्म ग्रहण करते हैं।

व्यास जी एवं भगवान कृष्ण द्वारा समझाना - स्कन्द पुराण एवं कल्याण के सन्त अङ्क में वर्णित घटना-क्रम आदि में किंचित् अन्तर दिखाई देता

है। प्रथम (स्कन्दपुराण) में व्यास जी की पत्नी का नाम जाबालि ऋषि की पुत्री चेटिका बताया गया है, जिसे पिंगला के नाम से भी सम्बोधित किया जाता था, परन्तु द्वितीय में व्यास-पत्नी का नाम वटिका बताया गया है। नाम में किंचित् अन्तर उल्लेखनीय बात नहीं है क्योंकि एक व्यक्ति के एक से अधिक नाम होते हैं। वैसे भी यहाँ दोनों नामों में बहुत साम्य है।

स्कन्द पुराण में गर्भस्थ बालक शुकदेव से बाहर आने का आग्रह व्यास जी ने किया है, जबकि सन्त अंक में श्री कृष्ण भगवान् के कहने तथा आश्वासन पर शुकदेव बाहर आये हैं। द्वितीय प्रसङ्ग में भी जो कृष्ण का नाम आया है, उसे वेदव्यास जी का मूल नाम ही समझा जाना अधिक व्यावहारिक जान पड़ता है। जहाँ तक माया-मोह में आबद्ध न होने के आश्वासन का सम्बन्ध है, स्वयं कृष्ण द्वैपायन भी अपने पुत्र को माया-मोह के बन्धनों में आबद्ध न करने का आश्वासन देने में सर्वथा समर्थ हैं। इस प्रकार प्रसंगानुसार सही अर्थ एवं व्याख्या से एक पुराण से दूसरे पुराण में आये किसी घटना अथवा नामादि में अन्तर के समाधान का यत्किंचित् प्रयास किया जा सकता है। इससे पुराणों की विश्वसनीयता पर कोई आँच नहीं आ पायेगी तथा पुराणों के निहितार्थ को भी भली-भाँति समझा जा सकेगा।

बारह वर्ष तक गर्भ-स्थित होना - जैसा कि उल्लेख किया गया है पुराणों एवं महाभारत में वर्णित कथा-प्रसङ्गों को सीधे-सपाट तरीके से न कहकर बिम्ब अथवा प्रतीकों के माध्यम से कहा गया है, जिससे विचारपूर्वक समझे बिना विभिन्न घटनाओं का हमें अविश्वसनीय लगना स्वाभाविक है।

बारह वर्ष तक किसी शिशु के गर्भस्थ रहने सम्बन्धी घटना को भी इसी परिप्रेक्ष्य में समझा जा सकता है। मनुष्य-योनि में बालक के गर्भस्थ रहने की सामान्य अवधि ९-१० मास है। यह अवधि घट-बढ़ भी जाती है। परन्तु गर्भ-धारण की अवधि १२ वर्ष होना संभव प्रतीत नहीं होता। मुख-द्वार से जाकर किसी शिशु का १२ वर्ष व्यास-पत्नी के उदर में पलने सम्बन्धी कथन पर भी यही बात लागू होती है।

पुराणों में अनावश्यक रूप से असत्य कथन की संभावना नहीं मानी जानी चाहिये। इस कारण उनमें कथित वृत्तान्त का फलितार्थ एवं मर्म समझने का प्रयास उचित प्रतीत होता है।

जब तक ब्राह्मण-वर्ण के बालक का उपनयन-संस्कार सम्पन्न नहीं होता अर्थात् उपवीत धारण कर गुरु से विद्याध्ययन की वैदिक रीति से दीक्षा नहीं ले लेता, तब तक वह शूद्र ही माना जाता है तथा उपनयनादि संस्कार सम्पन्न होने पर

उसे दूसरा जन्म मिलने से द्विज कहा जाता है-

जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद् द्विज उच्यते।
वेदपाठाद्भवेद्विप्रः ब्रह्मज्ञानाच्च ब्राह्मणः॥

अर्थात् मनुष्य जन्म के समय शूद्र होता है फिर (उपनयनादि) संस्कार करने से द्विज कहलाता है। वेद पढ़ने से वह विप्र और ब्रह्म का ज्ञानी होने से ब्राह्मण होता है।

उपुर्यक्त वृत्तान्त में १२ वर्ष के पश्चात् जन्म लेने को उपनयनादि संस्कार सम्पन्न कर द्विज के रूप में जन्म मानना उचित प्रतीत होता है। शुकदेव का उपनयन संस्कार १२ वर्ष की आयु में सम्पन्न किया गया होगा। इस बीच घर पर अनौपचारिक रूप से सामान्य शिक्षा दिया जाना संभव है। अतएव, संस्कार सम्पन्न होकर दूसरा जन्म (द्विज) हो जाने तक उसका पूर्व का काल एक द्विज का गर्भ-काल ही तो कहा जायेगा ।

अरणि-मंथन एवं शुकदेव का जन्म - महाभारत, देवी भागवत एवं अन्य अनेक पुराणों में यज्ञाग्नि उत्पन्न करने हेतु अरणि-काष्ठ का मंथन करते समय घृताची अप्सरा को देखकर शुकदेव जी के जन्म का उल्लेख आता है।

पौराणिक कोश में ब्रह्माण्ड पुराण आदि के सन्दर्भ से व्यास जी की पत्नी का नाम अरणी बताया गया है, जैसा कि विवेचन किया गया है। स्कन्द पुराण आदि में व्यास जी की पत्नी का नाम चेटिका, पिङ्गला या वटिका बताकर उनसे पुत्र की प्राप्ति बताई गई है, परन्तु महाभारत एवं देवी पुराण आदि में अरणि-काष्ठ के मंथन के समय शुक्रपात हो जाने से शुकदेव के जन्म का वर्णन है। इस प्रकार की घटनाओं से प्राचीन इतिहास के मूल स्रोत-पुराणों की विश्वसनीयता एवं प्रामाणिकता पर बहुधा प्रश्न उठाये जाते हैं। बिम्बों एवं प्रतीकों को समझ कर घटनाक्रम का सही अनुमान लगाने पर इस समस्या का निराकरण सहज है।

देवी भागवत में व्यास जी को पुत्र-प्राप्ति की कामना से चिन्तित बताया जाता है। इसका कारण अरणि-मंथन करते समय वे पुत्र-प्राप्ति का साधन अपने पास 'अरणी' का न होना बताते हैं। अतएव, यहाँ पर 'अरणी' शब्द 'स्त्री' शब्द का ही वाची होना चाहिये। अग्नि उत्पन्न करने के लिये अरणि के मंथन के कारण जिस प्रकार अग्नि उत्पन्न होती है, उसी प्रकार स्त्री-प्रसंग से ही पुत्रोत्पत्ति हो सकती है। निश्चय ही वन में अरणि-मंथन करते समय उन्हें स्त्री-प्रसंग की इच्छा हुई होगी, जिसका नाम भी संयोग से अरणी हो सकता है अथवा उनकी पत्नी का यह स्नेहवाची नाम होना भी संभव है। इसी प्रकार मृगासन या अरणि

पर शुक्रपात होने का तात्पर्य भी मृगासन या अरणि पर स्त्री–प्रसंग में शुक्रपात होना समझा जाना चाहिये। मित्र–वरुण के वीर्य को उर्वशी द्वारा घट में रखे जाने को भी प्रतीकात्मक अर्थ में ही ग्रहण किया जाना चाहिये, जिसके अनुसार घट से तात्पर्य गर्भ ही ग्रहण करना चाहिये, जैसा कि अन्यत्र उल्लेख किया गया है।

श्रीमद्भागवत महापुराण, महाभारत एवं विभिन्न पुराणों के अनुशीलन से यह तथ्य प्रकाशित हुआ है कि श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रस्तोता श्री शुकदेव वीतराग थे, उनके कोई सन्तान नहीं थी।* अतः कृष्ण द्वैपायन–पुत्र शुकदेव से आगे वंश चलने का प्रश्न ही नहीं उठता। पुराणों में जैसा कि पूर्व में विस्तृत विवरण दिया गया है, एक अन्य शुकदेव के एकाधिक सन्तानें होने का उल्लेख है, वे निश्चय ही पूर्व काल के शुकदेव ही हैं, जिनका सन्दर्भ महाभारत के अध्याय ३२१ एवं ३२३ में आया है, जो मैत्रावरुणि वसिष्ठ के प्रपौत्र पराशर प्रतीत होते हैं।

❑❑❑

* शुक सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य श्री श्याम चरण दास जी, राजा परीक्षित को कथा श्रवण कराने वाले शुकदेव जी को अपना गुरू मानते हैं तथा शुकदेव जी का आविर्भाव वैशाख कृष्णा अमावस्या को मानते हैं, जैसा कि शुक सम्प्रदाय के ग्रन्थों – श्री भक्ति सागर, श्री मुक्ति मार्ग, श्री सरस सागर एवं श्री शुक जन्मलीला में वर्णित है।

६

पराशर-वंशज : पारीक

वंश प्रवर्तक महापुरुष

प्रत्येक जाति एवं वंश में ऐसे महापुरुष अवतीर्ण होते हैं, जो मानव कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होकर धर्म, अध्यात्म, समाज एवं राजनीति इत्यादि क्षेत्रों में अपने श्रम, निष्ठा, योग्यता तथा सेवा-परायणता से अभूतपूर्व सफलता के मान-दण्ड स्थापित करते हैं और अपनी व अपने वंश की यश-पताका फहराते हैं। आने वाली पीढ़ियाँ ऐसे ही गौरवशाली ऋषि-मुनि व राजा आदि महापुरुषों से अपनी पहचान और अभिज्ञान बताने लगती हैं तथा ऐसे महापुरुष के नाम या पद-नाम को अपने नाम के साथ लगाकर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करती हैं। ऐसे ही महापुरुष को उस वंश का प्रवर्तक कहा जाता है तथा भावी पीढ़ियाँ गर्व सहित उस महापुरुष के नाम का वंश-प्रवर्तक के रूप में प्रयोग करने लगती हैं।

इस सहज एवं स्वाभाविक परम्परा के निर्वाह से वंश-प्रवर्तक महापुरुष का नाम चिर-स्थायी रहता है, साथ ही साथ उनके वंशज स्वयं को भी उन्हीं के तुल्य गुण-निधान एवं सुयोग्य उत्तराधिकारी बनाये रखने का प्रयास करते हैं। पूर्वजों द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का आश्रय ग्रहण कर मनुष्य जहाँ अपने इह लोक में सम्पूर्ण चराचर के कल्याण का मार्ग-प्रशस्त करने में सक्षम होता है, वहीं वह परलोक में भी स्व-कल्याण का अधिकारी हो जाता है-

येनास्य पितरो याता येन याताः पितामहाः।
तेन यायात्सतां मार्गं तेन गच्छन्नरिष्यते॥१७८॥

मनु स्मृति ४/१७८

अर्थात् जिस सन्मार्ग से मनुष्य के पिता और पितामह चले हैं, उसी धर्म के मार्ग का अनुगमन करने से कभी अवनति, पतन या दुःख नहीं होता।

मैत्रावरुणि वेद-व्यास महर्षि वसिष्ठ के सुपौत्र वेद व्यास महर्षि पराशर के सन्दर्भ में भी यही बात लागू होती है। उन्होंने न केवल मन्त्र-द्रष्टा के रूप में वेदों

के विस्तार, विभाजन एवं सम्पादन में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया, अपितु अनेकों समाजोपयोगी कालजयी धर्म-ग्रन्थों का भी प्रणयन किया, जिनके बारे में पूर्व में विस्तार सहित उल्लेख किया गया है।

मैत्रावरुणि महर्षि वसिष्ठ के शक्ति आदि सौ पुत्रों के वध के पश्चात् उनका वंश विस्तार मंत्र दृष्टा शक्ति एवं वसुक्र के पुत्रों से संभव हुआ। उनके उक्त ज्येष्ठ पुत्र शक्ति एवं अन्य पुत्र वसुक्र के दो-दो पुत्र होने का ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है। शक्ति के दो पुत्र- पराशर शाक्त्य तथा गौरवीति शाक्त्य हैं, जबकि उनके भाई वसुक्र के दोनों पुत्रों का नाम वसुकृद् वासुक्र तथा वसुकर्ण वासुक्र है। महर्षि वसिष्ठ के ये चारों प्रपौत्र भी अपने पितामह एवं पिता के समान ही मन्त्र-द्रष्टा ऋषि हैं, जिनका प्रसङ्ग मंत्र-द्रष्टा ऋषि के रूप में ऋग्वेद संहिता में उपलब्ध होता है।

पराशर वंश-प्रवर्तक ऋषि

यह प्रश्न अथवा जिज्ञासा उत्पन्न हो सकती है कि पारीक-ब्राह्मणों द्वारा मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र महर्षि पराशर को ही अपना वंश-प्रवर्तक क्यों माना गया, वसिष्ठ अथवा उनके पुत्र शक्ति को क्यों नहीं? इस सम्बन्ध में पहली बात तो यह कही जा सकती है कि वंशज ही अपने किसी पूर्वज विशेष से अपने अभिज्ञान या पहचान का निर्धारण करते हैं। किसी वंश में इस प्रकार के गौरवशाली महान् व्यक्ति के नाम से वंश चलता है।

दूसरी सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात महर्षि वसिष्ठ की उत्तरवर्ती पीढ़ियों के विभाजन के कारण आगामी वंश-परम्परा का निर्धारण है।

मैत्रावरुणि वसिष्ठ तथा उनके मन्त्र-द्रष्टा पौत्रों की वंशावली एक दृष्टि में निम्न प्रकार है-

महर्षि वसिष्ठ के उपर्युक्त चार मन्त्र-द्रष्टा पौत्रों की आगे अपनी पीढ़ियाँ चलीं। उत्तरवर्ती वंशजों द्वारा अपने किसी महान् पूर्वज से अपनी पहचान स्थापित करने की प्रक्रिया ही वस्तुतः वंश-प्रवर्तन का आधार बनती है। इसी प्रकार शाक्त्य पराशर के उत्तरवर्ती वंशजों ने अपने पूर्वज मन्त्र-द्रष्टा एवं वेदव्यास शाक्त्य पराशर को वंश-प्रवर्तक के रूप में मान्यता दी। वंश की दूसरी धारा में शक्ति-पुत्र गौरवीति के वंश में उत्पन्न वंश-परम्परा आती है।
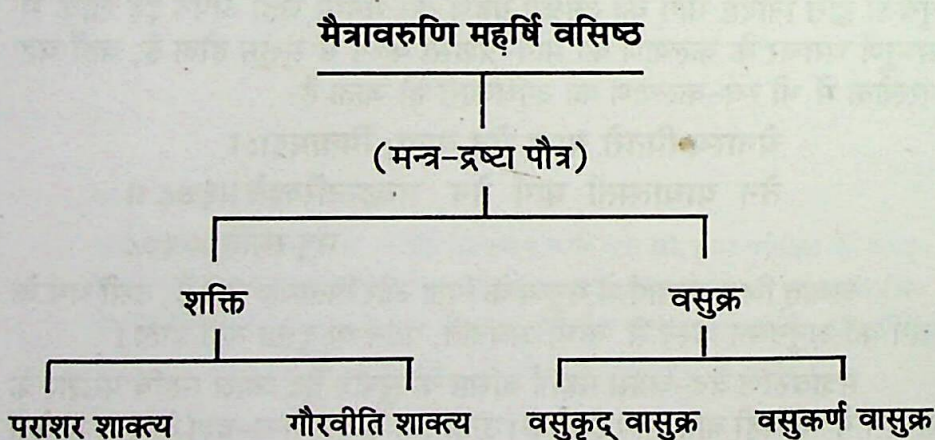
पराशर-वंशज पारीक

महर्षि पराशर के वंशज दीर्घ काल से 'पारीक' नाम से जाने-पहचाने जाते हैं। जाति भास्कर में पारीक ब्राह्मणों को महर्षि पराशर का वंशज बताया गया है-

पराशराच्च पारीको जातो विज्ञो महामनाः। [१]

जाति भास्कर, पृ. ४२

वंशज अपने वंश-प्रवर्तक ऋषि, राजा अथवा अन्य किसी भी महापुरुष का नाम पीढ़ी-दर-पीढ़ी अनवरत स्मरण करते जाते हैं, जिससे वंश-प्रवर्तक के विषय में किसी प्रकार की द्विविधा या भ्रम की स्थिति उत्पन्न होने की संभावना नहीं रहती है। इस प्रकार वंश और वंश के प्रवर्तक का नाम अनादि काल तक अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है।

भारत में महापुरुषों के नाम-स्मरण की जो परम्परा, "प्रातः स्मरण" बनाई है, उसमें सम्पूर्ण देश के भूगोल, प्रकृति, वन-क्षेत्र, पर्वत-मालाओं और पुण्य-सलिला सरिताओं आदि का तो प्रतिदिन गुणगान किया ही जाता है, देश के महापुरुषों तथा ऋषियों-मुनियों के साथ-साथ अन्त में एक-दो पदों में अपने कुल एवं वंश के महान् पुरुषों का प्रशस्ति-गान भी किया जाता है। दुर्भाग्य से 'प्रातः स्मरण' की यह उज्ज्वल परम्परा समाप्त-प्राय होकर बहुत कम वंशों तक सीमित रह गई है। परन्तु आज भी किसी को असीम आदर देने हेतु 'प्रातः स्मरणीय' शब्दावली का प्रयोग हमें उक्त प्रातः स्मरण की परम्परा का स्मरण अवश्य कराता है।

यदि कोई यह कहे कि वह अमुक ऋषि या महापुरुष का वंशज है तो उसके कथन पर अविश्वास करने का कोई कारण प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि वह उत्तरोत्तर वंश-परम्परा से अपने वंश-प्रवर्तक ऋषि-मुनि अथवा पूर्वजों का स्मरण करता आया है। स्वाभाविक रूप से एक पीढ़ी आने वाली पीढ़ी को अपने पूर्वज एवं वंश-प्रवर्तक के बारे में निरन्तर बताती चलती है। ब्राह्मण जैसे वर्ग में

१. पारीक वंश परिचय- पं. श्रीपति शास्त्री, पृ. १६ (प्रस्तावना)।

तो इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की शिथिलता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

कोई भी व्यक्ति सामान्यतया अपने वंश-प्रवर्तक एवं पूर्वजों के स्थान पर किसी अन्य व्यक्ति का नाम प्रतिस्थापित नहीं कर सकता, चाहे वह समाज के निम्नतम वर्ग या जाति का ही क्यों न हो। इसके अतिरिक्त राव, भाट, बड़वे आदि जातियों द्वारा भी विभिन्न जातियों एवं परिवारों की वंश-परम्परा, उनके द्वारा किये गये कार्य - कुये, बावड़ी, तालाब, मन्दिर व धर्मशाला इत्यादि के निर्माण, युद्ध-विजय आदि व्यापक महत्व की उपलब्धियों का लेखा व्यवस्थित रूप से बहियों में रखा जाता था। समय-समय पर इन बहियों का नवीनीकरण एवं नई पीढ़ी के सदस्यों का नाम जोड़ना एक सतत सामाजिक प्रक्रिया रही है, जो आज भी अधिकांश जातियों और वंशों में यथावत प्रचलित है।

पारीक शब्द की व्युत्पत्ति

'पारीक' शब्द की व्युत्पत्ति के अनेक स्रोत बताये जाते हैं। इस सम्बन्ध में विभिन्न विचार-धाराओं का समुचित विवेचन समीचीन प्रतीत होता है, जिससे 'पारीक' शब्द की व्युत्पत्ति सम्बन्धी अपेक्षाकृत अधिक स्वीकार्य आधार प्राप्त हो सके।

परम्परा के अनुसार पारीकों के आदि पुरुष महर्षि पराशर माने गये हैं। पारीक शब्द की उत्पत्ति संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार पाराशरिक शब्द से बताई जाती है। पराशर में ठञ् (इक) प्रत्यय जोड़ने से पाराशरिक शब्द बना। इसी पाराशरिक का तद्भव रूप पारीक सम्भव है। पाराशरिक के रा और श के लोप से प्रयत्नलाघव के कारण उच्चारणकाल में जो न्यूनता आई, उसकी पूर्ति रि को दीर्घ री का स्वरूप देने से हो गई और फलतः लौकिक उच्चारण का पर्यवसान पारीक शब्द में हुआ।

एक अन्य विचारधारा के अनुसार, पराशर को पर (श्रेष्ठ) ऋषि कहा गया है। श्रेष्ठता का सूचक यह 'पर' पदांश पराशर में समाविष्ट भी है। संभव है कि पराशर से उत्पत्ति के प्रसंग में सरलता और संक्षिप्तता की दृष्टि से व्याकरण में इसी 'पर' शब्द का प्रयोग हुआ हो। 'पर' में व्याकरण के नियमानुसार प्रत्यय का योग करने पर पारिक शब्द बनता है। इसी का तद्भव रूप पारीक बन गया। इससे स्पष्ट है कि पारीकों का सम्बन्ध महर्षि पराशर से है। महर्षि पराशर एक तपोनिष्ठ ऋषि थे तथा समत्व में स्थित थे। अतः उनकी परम्परा में उत्पन्न और उनसे प्रेरणा लेने वाले ब्राह्मणों के एक वर्ग विशेष - पारीक के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक है कि उसका तात्त्विक स्वरूप इस समता से सम्बन्धित हो।[१]

---

१. पारीक समाज एक विश्लेषण- डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा (पारीक) अ. भा. पारीक समाज आश्रम्स, पुष्कर, स्मारिका, १९८८ पृ. ३.

पर वंश में जाने पर पारीक्य (पारक्य) - कुछ विद्वानों के अनुसार शुकदेव जी की पुत्री कृत्वी अथवा कीर्तिमती का विवाह भरद्वाज जी के वंशज विभ्राज-पुत्र अणुह के साथ हुआ था। उनके 'ब्रह्मदत्त' नामक पुत्र हुआ, वे अपने नाना शुकदेव के वंश में चले गये।* इन्हीं ब्रह्मदत्त की वंश-परम्परा पराशर वंश में समाहित हो गई अत वे 'पर' (पराया) वंश में जाने के कारण 'पारक्य' कहलाये, जो आगे चलकर 'पारीक' हो गये।[१]

पारीक वंश परिचय[२] के अनुसार- ''अणुह के पुत्र राजर्षि ब्रह्मदत्त भी हुए, जो कि वंश विस्तार के लिए पराशर जी के पक्ष में गये। शुकदेव जी ने अपनी ज्येष्ठ कन्या कृत्वी को पुत्रिका धर्म का आश्रय करके अणुह को दिया- ''मैं अपनी कन्या को अलंकृत करके तुम्हें दे रहा हूँ, इसमें जो पुत्र हो, वह मेरा पुत्र कहा जाय।'' इस प्रकार की प्रतिज्ञा को पुत्रिका धर्म कहते हैं। हे विप्र गण! इसी कारण उनके पुत्र ब्रह्मदत्त जी पराशर के पक्ष में गये, अतएव ब्रह्मदत्त जी के वंशज 'पारक्य' ब्राह्मण हुये, जिनका अपभ्रंश शब्द ''पारीक'' है। जब शुकदेव के स्वयं अनेक पुत्र हों तो ऐसी स्थिति में अपने दौहित्र ब्रह्मदत्त को गोद लेने का कोई कारण दिखाई नहीं देता।

डॉ. ब्रह्मानन्द[३] ने भी 'पर' से पराये वंश की अवधारणा का विरोध किया है। उनके अनुसार 'पर' से ही यदि पारीक शब्द की उत्पत्ति करनी है तो उसका अर्थ 'पराया' मानना निराधार है। 'पर' का अर्थ श्रेष्ठ होता है, उससे सम्बन्धित होने के कारण पारीक का अर्थ श्रेष्ठ से निकलता है।

'पारर्षि' शब्द से पारीक- महर्षि पराशर को 'राक्षस मेध' यज्ञ द्वारा राक्षसों के विध्वंस से विमुख करने हेतु पुलस्त्य आदि ऋषि आये तथा उनके द्वारा राक्षसों के प्रति अपने पिता व उनके अन्य भाइयों के वध से उत्पन्न प्रतिशोध की भावना पर विजय प्राप्त कर लेने पर उन्हें 'पर (श्रेष्ठ) ऋषि' के रूप में सम्बोधित किया गया है, पराशर इसी 'पारर्षि' विशेषण से सम्बोधित किये जाने लगे।[४] कालान्तर में 'पारर्षि' शब्द प्रयत्न लाघव की भाषागत प्रवृत्ति के कारण

---

* मनुस्मृति के अनुसार कन्या का विवाह इस शर्त के साथ भी किया जा सकता है कि उसका पुत्र अपने नाना का श्राद्ध करने का अधिकारी समझा जाय। पुत्रहीन पिता ही पुत्रिका-विधि से अपनी कन्या का विवाह कर सकता है। मनुस्मृति ९/१२७.

१. गोपाल नारायण बहुरा, अ.भा.पा. समाज आश्रम्स, पुष्कर, स्मारिका १९८९ पृ. ९.

२. पारीक वंश परिचय - श्रीपति शास्त्री, पृ. ७७ : पराशर परम्परा - पृ. ७६-७.

३. पारीक समाज एक विश्लेषण- डॉ. ब्रह्मानन्द शर्मा (पारीक) अ. भा. पारीक समाज आश्रम्स, पुष्कर, स्मारिका, १९८८ पृ. ३.

४. पारीक वंश परिचय- श्रीपति शास्त्री, भूमिका, पृ. २१-२२.

'पारीक' कहा जाने लगा, ऐसा भी कतिपय विद्वानों का मत है।

'परर्षि' से पारीक - पण्डित रघुनाथ जी शास्त्री (काशी) ने सम्वत् १९६३ में लिखे अपने एक पत्र में यह मत व्यक्त किया है कि महर्षि पराशर के वंशज ब्राह्मण 'परा (शर)' शब्द के मध्य दो वर्ण निकाल देने से शेष रहे 'पर' शब्द में ऋषि शब्द जोड़ने से 'परर्षि' शब्द बना है, जैसे ब्रह्मर्षि, महर्षि आदि। निरन्तर प्रयोग से अपभ्रंश होकर परा ऋष, पराऋख एवं पारिख तक की शब्द यात्रा अन्ततः पारीक शब्द पर आकर रूढ़ हुई।[१]

'पारिकांक्षी या पारिकांक्षिन्' से पारीक - 'पारिकांक्षिन्' शब्द की ओर हमारा अब तक ध्यान नहीं गया है, जो पारीक जाति के गुण-धर्म का वाची तथा 'पारीक' शब्द के बहुत निकट भी है। 'पारिकांक्षिन्' शब्द से भी प्रत्यक्षतया 'पारीक' शब्द की व्युत्पत्ति अधिक व्यावहारिक जान पड़ती है। यह शब्द 'पारिकांक्ष + णिनि' प्रत्यय से बना है। पारि = ब्रह्मज्ञानम्, तत्कांक्षति पारिकांक्षिन्। अर्थात् जो ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति की आकांक्षा करता है, वह पारिकांक्षिन् कहलाता है।

चूँकि महर्षि पराशर के सभी वंशज ब्रह्म ज्ञानी थे, तथा निरन्तर उसी की प्राप्ति में संलग्न रहते थे, आकांक्षा करते थे। इस कारण उनके लिये प्रारम्भ में 'पारिकांक्षिन्' शब्द का प्रयोग किया जाना सम्भव है। बोलने की सुविधा के लिये अन्तिम 'क्षी या क्षिन' शब्द का बोलने में लोप होकर 'उच्चारण-सुविधा' नियम से 'पारीक' शब्द बोला जाने लगा। इस प्रकार पारिकांक्षी या पारिकांक्षिन् से 'पारीक' तक की भाषा एवं ध्वनि-यात्रा अन्य कतिपय तत्सम् एवं तद्भव शब्दों की तुलना में अधिक सहज एवं स्वाभाविक प्रतीत होती है।

परीक्षित, पारीक्षित एवं पारीक्ष - वेद-वेदाङ्गों की सदा परीक्षा अथवा विचार करते रहने वाले ब्राह्मण-वर्ग को परीक्षित, पारीक्षित अथवा पारीक्ष कहा जाने लगा।

वैदिक-कर्म करने वाले सदाचारी ब्राह्मण को परीक्षित बतलाया गया है-

परिक्षिता पितरा पूर्वजावरी ऋतस्य योना क्षयतः समोकसा।
द्यावापृथिवी वरुणाय सव्रते घृतवत्पयो महिषाय पिन्वतः॥

ऋग्वेद १०/६५/८

वृहदारण्यक उपनिषद में कहा गया है कि अश्वमेध यज्ञ करने वाले जिस लोक में जाते हैं, उसी लोक में पारीक्षित भी प्रवेश करते हैं-

१. पारीक वंश परिचय भूमिका, पृ. २१.

अथैनं भुज्युर्लाह्यायनिः पप्रच्छ-सत्वा
प्रच्छामि याज्ञवल्क्य क्व पारीक्षिता अभवन्निति।
सहोवाच उवाचैव सोऽगच्छन्वै ते यत्राश्वमेन्धयाजिनोऽगच्छन्निति॥

वृहदारण्यक उप० ३/३/१[1]

पारीक्ष शब्द की ग्राह्यता

मुण्डकोपनिषद् में पारीक शब्द की व्युत्पत्ति-परक निम्न श्लोक उल्लेखनीय है-

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोतियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

मुण्डकोपनिषद् मुण्डक १/२/१२[2]

अर्थात् अपना कल्याण चाहने वाले मनुष्य को पहले बतलाये हुये सकाम कर्मों के फलस्वरूप इस लोक और परलोक के समस्त सांसारिक सुखों की भली-भाँति परीक्षा करके अर्थात् विवेकपूर्वक उनकी अनित्यता और दुःख-रूपता को समझ कर सब प्रकार के भोगों से सर्वथा विरक्त हो जाना चाहिये। यह निश्चय कर लेना चाहिये कि कर्तापन के अभिमानपूर्वक सकाम भाव से किये जाने वाले कर्म अनित्य फल को देने वाले स्वयं भी अनित्य हैं। अतः जो सर्वथा अकृत है अर्थात् क्रियासाध्य नहीं है, ऐसे नित्य परमेश्वर की प्राप्ति वे नहीं करा सकते। यह सोचकर जिज्ञासु को परमात्मा का वास्तविक तत्व-ज्ञान प्राप्त करने के लिये हाथ में समिधा लेकर श्रद्धा और विनय-भाव सहित ऐसे सद्गुरु की शरण में जाना चाहिये, जो वेदों के रहस्य को भली-भाँति जानते हों और परब्रह्म परमात्मा में स्थित हों।

इन 'परीक्षित', 'पारीक्षित' एवं 'पारीक्ष' शब्दों में 'पारीक्ष' शब्द ही अधिक प्रचलित होता गया तथा प्रथम दो शब्द व्यवहार में नहीं रहे, जिसके कारणों में बोलने की सुविधा मुख्य है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि किसी भी भाषा या बोली में शब्दों के उच्चारण में सुविधा का तत्व सर्वाधिक प्रभाव डालता है, इसी कारण कालान्तर में किसी शब्द में आये परिवर्तन को 'प्रयत्न लाघव' की स्वाभाविक भाषागत प्रक्रिया के रूप में देखा जाता है। इसी क्रम में 'पारीक्ष' शब्द का तद्भव रूप 'पारीक' हो जाना एक सामान्य बात है।

---

१. पारीक्ष संहिता - परांकुश मुनि व्यास : भूमिका, पृष्ठ २.

२. मुण्डकोपनिषद्, कल्याण : उपनिषद् अंक, वर्ष २३ (१९४९) पृ. २७० : ईशादि नौ उपनिषद - हरिदास गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर पृ. २२०.

पारीक्ष शब्द की निष्पत्ति– ''पारीक्ष ब्राह्मोत्पत्ति''[१] पुस्तक में पारीक शब्द की निम्नानुसार निष्पत्ति बताई गई है–

ईक्षणमिति विग्रहे ईक्ष – दर्शने इति धातोः। (गुरोश्चहलः ३/३/१०३)। इति स्त्रिया मकार प्रत्यये – अजादित्वाट्टापि – ईक्षा शब्दो निष्पन्नः। ततश्च परितः ईक्षा – परीक्षा धर्माधर्मयोर्यथार्थ विचारः परीक्षा यस्यास्तीति विग्रहे – (अण् च ५/२/१०३) इत्यणि तत आदिपदवृद्धौ 'पारीक्ष' शब्दो निष्पन्नः।

'पारीक्ष संहिता'[२] नामक ग्रन्थ में पारीक्ष शब्द की निम्न व्युत्पत्ति बताई गई है–

'पारीक्ष–परीक्षा यस्यातीति परीक्षा शब्दात् (अणंच् ५/२/१०३) इत्यणि आदि पदवृद्धौ (यस्येति च० ६/४/१४८) इत्याकार लोपे पारीक्ष शब्दोनिष्पन्नः। तेन च परीक्षा करणयोग्यतावत्वं ज्ञायते। एवं परीक्षित शब्दार्थ इत्थं ज्ञेयः। परीक्षितः परीक्षां इति प्राप्तः परीक्षितः ततः परीक्षित एव पारीक्षितः (स्वार्थे अण्)।'

आचार्य चरक द्वारा सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'चरक संहिता' में लगभग अढाई हजार वर्ष पूर्व पारीक्ष जाति का वर्णन आया है, मुद्गल के वचनानुसार जो (ब्राह्मण) लोक–परलोक के तत्व–चिन्तन के मार्ग में स्वयं की परीक्षा में अग्रणी रहते हैं, उन्हें 'पारीक्ष' कहा गया है।

पारीक्षस्तत्परीक्ष्याग्रे मुद्गलो वाक्यमब्रवीत्।

चरक–सूत्र २५[३]

महाभारत में भी पूर्व समय में व्यास जी की आज्ञा से शिष्यों व पराशर वंशजों के तपःस्थल पर्वत–शिखर से उतर कर जन–संकुल भूमि पर जाकर वेद और वैदिक धर्म के प्रचार–प्रसार के उल्लेख में 'पारीक्ष' शब्द का स्पष्ट निहितार्थ विदित होता है–

नापरीक्षितचारित्रे विद्या देया कथंचन।
यथा हि कनकं शुद्धं तापच्छेदनिकर्षणैः।।४६।।
परीक्षेत तथा शिष्यानीक्षेत् कुलगुणादिभिः।
न नियोज्याश्च वः शिष्या अनियोगे महाभये।।४७।।

महाभारत शान्तिपर्व ३२७/४६–४७

अर्थात् शिष्य के चरित्र की बिना परीक्षा लिये कभी भी शिक्षा नहीं देनी चाहिये। जैसे स्वर्ण की परीक्षा तपाने, काटने और कसौटी पर घिसने से होती है,

---

१. पारीक्ष ब्रह्मणोत्पति – नारायण कठवड व्यास पृ. १३.
२. पारीक्ष संहिता – परांकुश मुनि व्यास, सन् १९५५, भूमिका पृ. २.
३. उपर्युक्त.

उसी प्रकार शिष्यों की परीक्षा भी सदाचरण, उत्तम गुणों और उत्तम वंश से करनी चाहिये। आप लोगों को अपने शिष्यों को किसी अनुचित या महा भयानक कार्य में कभी न लगाना चाहिये।

महर्षि पराशर के वंशज न केवल अपने शिष्यों के वेद-वेदाङ्ग के पठन और सदाचरण आदि की परीक्षा करते थे, अपितु स्वयं को भी सदैव उक्त कसौटियों पर परखते रहते थे। इस कारण वे पारीक्ष नाम से सर्वत्र लोकप्रिय हुये, जो कालान्तर में अपभ्रंश होकर पारीख एवं 'पारीक' हो गया। अतएव वेदोक्त धर्म और कर्म की परीक्षा न्यायसंगत युक्तियों से विचार करते हुये स्वात्मा के कल्याण के प्रयोजन को पूर्ण करने में जो सदा तत्पर रहता हो, विद्वान उसको 'पारीक्ष' अथवा 'पारीक' कहते हैं।

व्यास पुरुषोत्तम जी शास्त्री [१] (मथुरा) द्वारा 'पारीक्ष' शब्द को निम्नानुसार परिभाषित किया गया है-

वेदस्यसरहस्यस्यविचारो मुनिर्भिस्मृतः।
परीक्षातेनयुक्तास्ते 'पारीक्षाः' ब्राह्मणाः स्मृताः॥

अर्थात् कर्म, ज्ञान और उपासना काण्ड युक्त वेद तथा व्याकरण, निरुक्त, छन्द, कल्प, शिक्षा और ज्योतिष - इन वेदाङ्गों को जो ब्राह्मण भली-भाँति पढ़-लिखकर उनके सिद्धान्तों को अपने विचार द्वारा निर्णय करके जनता को समझा सके, उसे पारीक्ष ब्राह्मण कहते हैं।

इस प्रकार "पारीक्ष" शब्द से पारीक शब्द की व्युत्पत्ति अधिक व्यावहारिक, विश्वसनीय एवं समीचीन ज्ञात होती है।

'पाराशरिक' शब्द से 'पारीक' शब्द का उद्भव

महर्षि पराशर के वंशज 'पारीक' जाति के रूप में प्रसिद्ध हुये, जैसा कि उल्लेख किया गया है। इसी कारण 'पारीक' शब्द की व्युत्पत्ति 'पराशर' शब्द से ही मानने का विभिन्न विद्वानों का मत स्वाभाविक एवं उचित प्रतीत होता है। इन विद्वानों की मान्यता है कि 'पाराशरिक' शब्द का तद्भव रूप पाराहरिक हुआ, क्योंकि कई स्थानों पर, 'श' व 'स' को 'ह' के रूप में उच्चारण करने की प्रवृत्ति है, जैसे सड़क को हड़क आदि। 'पाराहरिक' में से कालान्तर में प्रयत्न लाघव भाषागत प्रक्रिया के अधीन 'राह' का लोप होकर उसके स्थान पर 'पारीक' शब्द रह गया, जिसमें 'रिं की छोटी मात्रा बड़ी मात्रा 'री' में परिवर्तित हो गई।

ब्रह्मज्ञान एवं अध्यात्म मार्ग के साधकों तथा अन्वेषकों को लोक में

---

१. पारीक प्रकाश - देहली, फरवरी १९२९, पृ. २६८.

प्राचीन काल से ही 'पारीक' नाम से जाना जाता था। सन्त दादू दयाल जी की निम्न वाणी से इस तथ्य की पुष्टि होती है-

केते पारीक पचि मुअे, कीमत कही न जाय।
दादू सब हैरान हैं, गूँगे का गुड़ खाय॥

ब्रह्मदत्त से पारीकों की वंश परम्परा की मान्यता

कृष्ण द्वैपायन-पुत्र शुकदेव- महाभारत, श्रीमद्भागवत एवं अनेकानेक पुराणों में शुकदेव को कृष्ण द्वैपायन का पुत्र बताया गया है। श्रीमद्भागवत के प्रवचन- कर्त्ता शुकदेव ने जन्म लेते ही वैराग्य धारण कर लिया था - अतः इन शुकदेवजी की आगे वंश वृद्धि नहीं हुई। श्रीमद्भागवत में (छाया) शुक के ४ पुत्र एवं एक पुत्री कीर्तिमति (कहीं-कहीं पुत्रों की संख्या ५, १२ तक भी बताई है) होने का उल्लेख है। कृष्ण द्वैपायन एवं उनके पुत्र शुकदेव महाभारत काल में हुए हैं, अतः इस काल-गणना के आधार पर कृष्ण द्वैपायन मैत्रावरुणि वसिष्ठ-पौत्र पराशर के पुत्र एवं पौत्र स्थापित नहीं होते हैं, जैसा कि पूर्व में विवेचन किया गया है।

शुकदेव एवं ब्रह्मदत्त

पौराणिक ग्रंथों में एकाधिक ब्रह्मदत्त के जीवन-वृत्त के कथानक आते हैं। पौराणिक कोश[१] के अनुसार -

ब्रह्मदत्त- "(१) चुलिय ऋषि के पुत्र तथा कांपिल्ल के राजा जिन्हें कुशनाभ की १०० कुबड़ी पुत्रियाँ ब्याही थीं- ह्वेनसांग ने इन्हें कुसुमपुर का राजा लिखा है। (२) नीप तथा शुक-पुत्र कृत्वी का पुत्र एक योगी जिसकी पत्नी गो तथा पुत्र विष्वक्सेन था (भाग० ९.२१.२५; मत्स्य० १५.१०)। यह शाल्व का राजा था [भाग० १०.५२.११(८)] जिसका वध श्रीकृष्ण ने किया था (भाग० १०.५२ [५६(५)८]। (३) अणुह तथा कीर्तिमती का पुत्र (ब्रह्मां० ३.८.९४; १०.८२; ७४.२६८; मत्स्य० ७०.८६; ७३.२१; ९९.१८०; विष्णु० ४.१९.४५-६)। (४) पांचाल नरेश विभ्राज का पुत्र, जो पूर्व जन्म में कौशिक का एक पितृवर्त्ती था। देवल की पुत्री सन्नति इसकी पत्नी थी। .... यह ब्रह्मदत्त विष्वक्सेन का राज्याभिषेक कर स्वयं एक सिद्ध हो गया (मत्स्य० २०.२३.- ३८; २१.१६, २४-३५)।"

पौराणिक कोश के अनुसार चार ब्रह्मदत्त हुए हैं जिनमें प्रथम ब्रह्मदत्त जो

---

१. पौराणिक कोश - राणा प्रसाद शर्मा, पृ. ३५९.

चुलिय ऋषि के पुत्र बताये गये हैं, का विवरण वाल्मीकीय रामायण (बालकाण्ड के ३२,३३, सर्ग) में भी मिलता है।

पुराणों में ब्रह्मदत्त को कहीं नीप का कहीं अणुह का तथा कहीं पांचाल नरेश विभ्राज का पुत्र बताया गया है।

ब्रह्मदत्त से पारीक वंश की वृद्धि की जो उपर्युक्त मान्यता है वह युक्ति-युक्त प्रतीत नहीं होती। प्रथमतः मैत्रावरुणि वसिष्ठ-पौत्र पराशर के कृष्ण द्वैपायन एवं उनके पुत्र शुकदेव क्रमशः पुत्र एवं पौत्र सिद्ध नहीं होते द्वितीय, जब व्यक्ति के स्वयं के ही कई संतानें हों तो वह अपने दौहित्र से क्यों अपने वंश की वृद्धि करावेगा?

अतः उपर्युक्त विवेचन के आधार पर संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि पारीक ब्राह्मण त्रेताकालीन मैत्रावरुणि वसिष्ठ के पौत्र शाक्त्य पराशर के वंशज हैं। द्वापर के अन्तिम चरण में आविर्भूत कृष्ण द्वैपायन के पिता पराशर उक्त शाक्त्य पराशर से भिन्न हैं। इस सम्बन्ध में भ्रम की स्थिति उत्पन्न होने का मुख्य कारण 'वेदव्यास' उपाधि का प्रयोग तथा पराशर नाम के एक से अधिक ऋषियों का होना है, जैसा कि विवेचन किया गया है।

विष्णु के आगामी अवतार का पराशर वंश में जन्म

पौराणिक कोश [१] में विभिन्न पुराणों के उद्धरणों के आधार पर कल्कि अवतार के विषय में निम्न विवरण दिया गया है -

"**कल्कि**- पु० (सं), विष्णु के दसवें अवतार का (वायु पुराण व ब्रह्माण्ड पुराण में इनका नाम विष्णु यश) नाम जो विष्णु यश की पत्नी सुमति के गर्भ से जन्म लेंगे। कलियुग के अन्त में यह अवतार होगा। कलियुग के म्लेच्छ, पापी, लोभी राजाओं का संहार करेंगे, सबको अपने-अपने धर्म में स्थापित करेंगे और तब सत्ययुग प्रारम्भ होगा। ये ब्रह्माण्ड पुराण तथा वायु पुराण के अनुसार पाराशर्य = पराशर पुत्र विष्णु के दसवें अवतार माने गये हैं। इनके पुरोहित होंगे याज्ञवल्क्य। लक्ष्मी पद्मा के रूप में अवतार लेंगी और कल्कि से उनका ब्याह होगा। पद्मा से ब्याह करके विश्वकर्मा के बनाये शम्भल (मुरादाबाद के निकट) में निवास करेंगे। इनके घोड़े का नाम देवदत्त होगा, जिस पर सवार हो, सद्धर्म परायण सदाचार सम्पन्न द्विजों की सेना के साथ विविध देशों में संचार करते हुये अनाचार का नाश कर धर्म की स्थापना करेंगे। (भाग० १.३.२५; १२.२.१८-२३; मत्स्य २७३.२७; २८५.७; विष्णु० ४.२४.९८-१०१; ब्रह्माण्ड ३.७३.१०४-२४; वायु० ९८.१०४-१७)। ये म्लेच्छ और बौद्धों का दमन कर कुथोदरी नाम

---

१. पौराणिक कोश - राणा प्रसाद शर्मा, वाराणसी, ज्ञान मण्डल लिमि०, १९८६, पृ. ९४.

की राक्षसी का वध करेंगे। तदनन्तर भल्लाट नगर में इनका शैयाकरण, प्रयाति और राजा शशिध्वज के साथ युद्ध होगा। शशिध्वज की मुक्ति होगी, इसके बाद यज्ञ का अनुष्ठान और सत्ययुग का प्रारम्भ होगा। इस प्रकार अपने सब काम करने के पश्चात् कल्कि गंगा-यमुना संगम पर शरीर त्याग कर वैकुण्ठ जायेंगे (कल्कि ३ अध्याय १ से १९ तक; ब्रह्माण्ड ३.७४.२०६, ४.२९.१३३; मत्स्य० ४७.२४८.६२)।"

ब्रह्माण्ड पुराण में यह उल्लेख किया गया है कि इस युग की सन्ध्या की समाप्ति पर पराशर के वंश में विष्णुयश नामक महाप्रतापवान् कल्कि अवतार होगा। यह दसवाँ अवतार होगा, जिसके पुरोहित याज्ञवल्क्य होंगे, जिनकी शक्तिशाली सेना हाथियों, अश्वों और रथों से परिपूर्ण होगी –

अस्मिन्नेव युगे क्षीणे संध्याशिष्टे भविष्यति।
कल्किर्विष्णुयशा नाम पाराशर्यः प्रतापवान्॥१०४॥
दशमो भाव्यसंभूतो याज्ञवल्क्य पुरस्सरः।
अनुकर्षन्स वै सेनां हस्त्यश्वरथ संकुलाम्॥१०५॥

ब्रह्माण्ड पु० २ (उपो० पाद)/३/७३/१०४-०५

वायु पुराण में भी उपर्युक्त दोनों श्लोकों की लगभग समान भाषा को मात्र श्लोकांश व शब्दावली को ऊपर-नीचे क्रम-परिवर्तन से इस प्रकार व्यक्त किया गया है –

कल्किर्विष्णुयशा नाम पाराशर्यः प्रतापवान्।
दशमोभाव्यसंभूतो याज्ञवल्क्य पुरस्सरः।।१०४॥
अनुकर्षन् सर्वसेनां हस्त्यश्वरथ संकुलाम्।
प्रगृहीतायुधैर्विप्रैर्वृत्तः शतसहस्त्रशः॥१०५॥

वायु० पु० ९८/१०४-०५

मत्स्य पुराण में भी दशम् कल्कि अवतार पराशर पुत्र अथवा वंशज (पाराशर्य) का होना वर्णित है।

तस्मिन्नेव युगे क्षीणे संध्याशिष्टे भविष्यति।
कल्की तु विष्णुयशसः पाराशर्य पुरः सरः।
दशमोभाव्यसंभूतो याज्ञवल्क्य पुरः सरः॥२४८॥
सर्वांश्च भूतान् स्तिमितान् पाषण्डाश्चैव सर्वशः।
प्रगृहीतायुधैर्विप्रैर्वृत्तः शतसहस्त्रशः॥२४९॥

निःशेषः क्षुद्रराज्ञस्तु तदा स तु करिष्यति।
ब्रह्मद्विषः सपत्नांस्तु संहृत्यैव च तद्वपुः॥२५०॥
अष्टाविंशे स्थितः कल्किश्चरितार्थः ससैनिकः।
शूद्रान् संशोधयित्वा तु समुद्रान्तं च वै स्वयम्॥२५१॥
प्रवृत्तचक्रो बलवान् संहारं तु करिष्यति।
उत्सादयित्वा वृषलान् प्रायशस्तानधार्मिकान्॥२५२॥
ततस्तदा स वै कल्किश्चरितार्थः ससैनिकः।
प्रजास्तं साधयित्वा तु समृद्धास्तेन वै स्वयम्॥२५३॥
अकस्मात् कोपितान्योऽन्यं भविष्यन्तीह मोहिताः।
क्षपयित्वा तु तेऽन्योऽन्यं भाविनार्थेन न चोदिताः॥२५४॥
ततः काले व्यतीते तु स देवोऽन्तरधीयत।

मत्स्य पु० ४७/२४८-२५४ १/२

अर्थात् इस युग की समाप्ति के समय जब संध्या मात्र अवशिष्ट रह जायेगी, विष्णुयशा के पुत्र-रूप में कल्कि का अवतार होगा। ये भावी दसवें अवतार पराशर-पुत्र अर्थात् पराशर वंशज होंगे और याज्ञवल्क्य पुरोहित का कार्यभार सँभालेंगे। उस समय भगवान कल्कि आयुधधारी सैकड़ों-हजारों विप्रों को साथ लेकर चारों ओर से धर्मविमुख जीवों, पाखण्डों और क्षुद्रमना (शूद्रवंशी) राजाओं का सम्पूर्ण रूप से विनाश कर डालेंगे, क्योंकि ब्रह्मद्वेषी क्षत्रियों का संहार करने के हेतु ही कल्कि अवतार हैं। इस अट्ठाइसवें युग में भगवान् कल्कि सेना सहित सफल मनोरथ हो, विराजमान रहेंगे। उस समय वे बलशाली भगवान् उन धर्महीन शूद्रों को पवित्र बना कर राज्यचक्र का विस्तार करते हुये पापियों का संहार करेंगे। तदुपरान्त कल्कि अपना कार्य पूर्ण करके सेना सहित विश्राम-लाभ करेंगे। उस समय सारी प्रजायें उनके प्रभाव से समृद्धिशालिनी होकर उनकी सेवा में प्रवृत्त होंगी। तत्पश्चात् भावी कार्य से प्रेरित हुई प्रजायें मोहित होकर अकस्मात् एक-दूसरे पर कुपित हो जायेंगीं और परस्पर लड़कर एक-दूसरे को मार डालेंगी। उस समय कार्यकाल समाप्त होने पर भगवान् कल्कि भी अन्तर्हित हो जायेंगे।

विष्णु पुराण में भी कहा गया है कि इस प्रकार श्रौत और स्मार्त्त धर्म का अत्यन्त ह्रास हो जाने पर तथा कलियुग के प्रायः बीत जाने पर शम्बल (सम्भल) ग्राम निवासी ब्राह्मण श्रेष्ठ विष्णुयश के घर सम्पर्ण संसार के रचयिता, चराचर गुरु, आदि मध्यान्त शून्य, ब्रह्ममय, आत्मस्वरूप भगवान् वासुदेव अपने अंश से अष्टैश्वर्ययुक्त कल्कि रूप से संसार में अवतार लेकर असीम शक्ति और माहात्म्य

से सम्पन्न हो, सकल म्लेच्छ, दस्यु, दुष्टाचारी तथा दुष्टचित्तों का क्षय करेंगे और समस्त प्रजा को अपने-अपने धर्म में नियुक्त करेंगे –

श्रौते स्मार्त्ते च धर्मे विप्लवमत्यन्तमुपगते क्षीणप्राये च कलावशेषजगत्स्त्रष्टुश्चराचरगुरोरादिमध्यान्तरहितस्य ब्रह्ममयस्यात्मरूपिणो भगवतो वासुदेवस्यांशश्शम्बलग्रामप्रधानब्राह्मणस्य विष्णुयशसो गृहेऽष्टगुणर्द्धिसमन्वितः कल्किरूपी जगत्यत्रावतीर्य सकलम्लेच्छदस्युदुष्टाचरण चेतसामशेषाणामपरिच्छिन्नशक्तिमाहात्म्यः क्षयं करिष्यति स्वधर्मेषु चाखिलमेव संस्थापयिष्यति ॥९८॥

विष्णु पु० ४/२४/९८

श्रीमद्भागवत महापुराण में भी विष्णु पुराण के समान सम्भल नगर में विष्णुयश नामक एक श्रेष्ठ उदारहृदय एवं भगवद्भक्त ब्राह्मण के घर में कल्कि भगवान् द्वारा अवतार ग्रहण करने का उल्लेख है –

शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति ॥१८॥

श्रीमद्भागवत महा० १२/२/१८

विष्णुयश नामक ब्राह्मण के घर कल्कि के जन्म के सम्बन्ध में इसी श्रीमद्भागवत महापुराण के प्रथम स्कन्ध के तृतीय अध्याय के २४ व २५ वें श्लोक में भी कलियुग के आ जाने पर मगध में देवताओं के द्वेषी दैत्यों को मोहित करने के लिये अजन के पुत्र-रूप में बुद्धावतार होने के बहुत समय पश्चात् जब कलियुग का अन्त समीप होगा और राजा लोग प्रायः लुटेरे हो जायेंगे तब जगत् के रक्षक भगवान् विष्णुयश नामक ब्राह्मण के घर कल्कि के रूप में अवतीर्ण होंगे –

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नाम्नाजनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥२४॥
अथासौ युग संध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ॥२५॥

श्रीमद्भागवत महा० १/३/२४-२५

महाभारत के सभापर्व में भी भावी कल्कि अवतार के जन्म का उल्लेख किया गया है –

कल्की विष्णुयशा नाम भूयश्चोत्पत्स्यते हरिः।
कलेर्युगान्ते सम्प्राप्ते धर्मे शिथिलतां गते ॥

महा० सभा प० अर्धाभि.प०/३८ कल्क्यवतारः

□□□

सन्दर्भ ग्रंथ - सूची

क्र.सं.	पुस्तक/ग्रन्थ/प्रकाशन का नाम
१.	अखिल भारतवर्षीय पारीक समाज आश्रम्स, पुष्कर, स्मारिका १९८२, १९८८, १९८९
२.	अथर्ववेद भाग १-२ - सार्व. आर्य प्रतिनिधि सभा
३.	अथर्ववेद भाग १-२, पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
४.	अमरकोष
५.	आर्ष यज्ञ विद्या - डॉ० कुँवर लाल व्यास
६.	आश्रम धर्म निरूपणम्
७.	ईशादि नो उपनिषद्
८.	उपनिषद् अंक, गीताप्रेस
९.	ऋग्वेद भाग १ - ५, स्वामी दयानन्द सरस्वती
१०.	ऋग्वेद भाग १ - ४, पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
११.	ऋग्वेद : सायण भाष्य
१२.	ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका - स्वामी दयानन्द सरस्वती
१३.	ऐतरेय ब्राह्मण
१४.	कल्कि
१५.	कूर्म पुराणाङ्क
१६.	गणेशाङ्क
१७.	चरक संहिता
१८.	छान्दोग्य उपनिषद्
१९.	जैमिनि पूर्व मीमांसा सूत्र
२०.	जाति भास्कर - पं० ज्वाला प्रसाद
२१.	तत्त्व विचार पुराण-रत्न
२२.	तैत्तिरीयोपनिषद्
२३.	देवी भागवत - संपा० श्रीराम शर्मा आचार्य

क्र.सं.	पुस्तक/ग्रन्थ/प्रकाशन का नाम
२४.	धर्मशास्त्र का इतिहास भाग १ – ५, भारत रत्न वामनकाणे
२५.	धर्मशास्त्राङ्क – गीताप्रेस
२६.	धनुर्वेद संहिता
२७.	धातुवृत्ति – माधव सायणाचार्य
२८.	नारदीय स्मृति
२९.	नारदीय पुराण
३०.	नारी अङ्क – गीताप्रेस
३१.	निरुक्त – यास्क
३२.	निर्णय सागर पंचांग – नीमच
३३.	पतंजलि महाभाष्य
३४.	परात्पर श्रीराम धाम वर्णनम्
३५.	पराशर गीता
३६.	पराशर पुराण
३७.	पराशर संहिता – वैद्यक
३८.	पराशर स्मृति
३९.	पाराशरीय नीतिशास्त्र
४०.	पाराशरीय वास्तुशास्त्र
४१.	पारीक जाति का इतिहास
४२.	पारीक प्रकाश, देहली
४३.	पारीक महापुरुष
४४.	पारीक वंश परिचय
४५.	पारीक सौरभ – पारीक महासभा, पाली
४६.	पारीक्ष ब्राह्मणोत्पत्ति
४७.	पारीक्ष संहिता
४८.	पुराण कथाङ्क – गीताप्रेस
४९.	पौराणिक कोश – राणा प्रसाद शर्मा
५०.	ब्रह्माण्ड पुराणम्
५१.	भक्ति अङ्क – गीताप्रेस
५२.	भारती, संस्कृत पत्रिका
५३.	मत्स्य पुराणम्
५४.	मनुस्मृतिः

क्र.सं.	पुस्तक/ग्रन्थ/प्रकाशन का नाम
५५.	महाभारत १ – ६ खण्ड – गीताप्रेस
५६.	महाभारत – सम्पा० उमेश शास्त्री
५७.	मुण्डकोपनिषद्
५८.	यजुर्वेद – सार्व० आर्य प्रति० सभा
५९.	यजुर्वेद – पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
६०.	योगवासिष्ठ – गीताप्रेस
६१.	राजस्थान पत्रिका – दैनिक
६२.	लघु पाराशरी
६३.	लिंग पुराण
६४.	वसिष्ठ कल्प
६५.	वसिष्ठ कल्प (मानस के महर्षि)
६६.	वसिष्ठ तन्त्र
६७.	वसिष्ठ संहिता – पाञ्चरात्र शास्त्र
६८.	वसिष्ठ स्मृति
६९.	वसिष्ठ हवन पद्धति
७०.	वामन पुराण
७१.	वायु पुराण
७२.	वाल्मीकीय रामायण
७३.	विष्णु पुराण
७४.	वृहत् पराशर संहिता
७५.	वृहत् पराशर होरा शास्त्र – ज्योतिष
७६.	वृहत् पाराशरीय धर्म संहिता
७७.	वृहद् वासिष्ठ सिद्धान्त
७८.	वृहदारण्यकोपनिषद्
७९.	वेद कथाङ्क
८०.	वैदिक कोश – १ – ३ खण्ड
८१.	शतपथ ब्राह्मण
८२.	शुकतीर्थ सन्देश
८३.	शुक–रम्भा संवाद
८४.	श्री भक्ति सागर

क्र.सं.	पुस्तक/ग्रन्थ/प्रकाशन का नाम
८५.	श्रीमद्भगवद् गीता
८६.	श्रीमद्भागवत महापुराण भाग १ – २
८७.	श्री मुक्ति मार्ग
८८.	श्री राम परात्पर स्त्रोतम्‌
८९.	श्री रामानन्द सम्प्रदाय का इतिहास
९०.	श्री शुक जन्म लीला
९१.	श्री सरस सागर
९२.	श्री सीताराम स्तव
९३.	संक्षिप्त देवी भागवताङ्क – गीताप्रेस
९४.	संक्षिप्त महाभारत – गीताप्रेस
९५.	संक्षिप्त स्कन्द पुराण
९६.	सन्त अङ्क – गीताप्रेस
९७.	संध्योपासन विधि
९८.	सम्प्रदाय कल्पलता
९९.	संस्कृत-हिन्दी कोश
१००.	सदाचार अङ्क – गीताप्रेस
१०१.	सामवेद – सार्व० आर्य प्रति० सभा
१०२.	सामवेद – पं० श्रीराम शर्मा आचार्य
१०३.	सूर्याङ्क – गीताप्रेस
१०४.	सौर पुराण
१०४.	स्कन्द पुराणाङ्क – गीताप्रेस
१०६.	हमारी कुलदेवियाँ
१०७.	हरिवंश पुराण
१०८.	हिन्दू धर्मकोश – राजबली पाण्डेय
१०९.	हिन्दू संस्कृति अङ्क – गीताप्रेस

❑❑❑
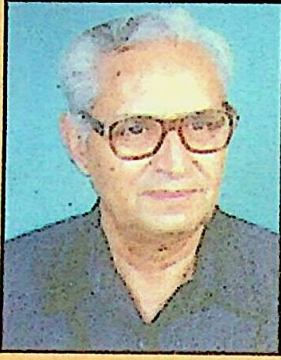
संक्षिप्त परिचय

श्री रघुनाथ प्रसाद तिवाड़ी 'उमङ्ग' का जन्म 11 जनवरी, 1936 को सीकर जिलान्तर्गत खण्डेला में हुआ। आपकी शिक्षा-दीक्षा, निवास, राजकीय सेवा एवं विधि-व्यवसाय का क्षेत्र जयपुर रहा। आपने विधि में स्नातकोत्तर डिग्री (एलएल.एम.) प्राप्त की एवं सहकारिता तथा प्रौढ़ शिक्षा में स्नातकोत्तर डिप्लोमा प्राप्त किया। राजकीय सेवा से स्वैच्छिक सेवा निवृत्ति लेकर शीर्ष बैंक में विधि अधिकारी बने। बैंक की सेवाओं से त्याग-पत्र देकर वकालत के क्षेत्र में प्रविष्ट हुये तथा शीघ्र ही उनकी गणना सुप्रसिद्ध अधिवक्ताओं में होने लगी।

समाज-सेवा एवं लेखन-कार्य को समर्पित- विधि व्यवसाय में अति व्यस्तता के बावजूद आपने समाज-सेवा के अनेक रचनात्मक कार्यों व लेखन में भी समय का पर्याप्त सदुपयोग किया। आपने अब तक तीन दर्जन से अधिक पुस्तकों का प्रणयन किया है।

आपकी साहित्यिक रचनाओं में **'गोरा-बादल'** (खण्ड काव्य), **'क्षितिज के पार'** (कविता संग्रह) तथा श्री गोपालनारायण जी बहुरा के सह-सम्पादन में टीका सहित प्रकाशित **'केसरी सिंह गुण रासो'** उल्लेखनीय हैं।

धार्मिक एवं ऐतिहासिक क्षेत्र में भी आपने **'पारीक जाति का इतिहास'**, **'पारीक जाति के महापुरुष'**, **हमारी कुलदेवियाँ**, **'पारीक भक्तमाल'** तथा **'मन्त्र द्रष्टा वेदव्यास महर्षि पराशर'** (प्रस्तुत ग्रन्थ) जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थों की रचना की है।

सहकारिता एवं पंचायत विधि के अलावा विधि सहित अन्य क्षेत्रों में भी आपने श्रेष्ठ पुस्तकों का लेखन किया है।

पुरस्कार एवं सम्मान- श्रेष्ठ विधि लेखन पर आपको भारत सरकार द्वारा **'राजस्थान में सहकारी कानून'**, **'सहकारिता एवं अधिभार'** एवं **'राजस्थान में पंचायत कानून'** पुस्तकों पर राष्ट्रीय पुरस्कार से नवाजा गया है। 'सहकारी अंकेक्षण' पुस्तक पर सहकारी विभाग राजस्थान सरकार द्वारा भी आपको प्रशस्ति-पत्र प्रदान किया गया है। नगर निगम के सौजन्य से जयपुर के अल्बर्ट हाल में आयोजित 'विरासत' उत्सव में आपका नागरिक अभिनन्दन किया गया। जयपुर के महाराजा ब्रिगेडियर श्री भवानीसिंह जी के हाथों शॉल ओढ़ाकर आपका सार्वजनिक सम्मान किया गया। राजस्थान उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति डॉ. ए.आर. लक्ष्मणन् एवं राजस्थान के मुख्यमंत्री श्री अशोक गहलोत द्वारा दी बार एसोसिएशन, जयपुर के हीरक जयन्ति समारोह में उत्कृष्ट विधि लेखन पर शाल, प्रशस्ति देकर व सर्व ब्राह्मण समाज द्वारा आयोजित प्रौढ़ अधिवक्ता सम्मान समारोह में राजस्थान उच्च न्यायालय के न्यायाधिपति श्रीमती ज्ञानसुधा मिश्रा एवं श्री के.एस. राठौड़ द्वारा विधि-साहित्य के क्षेत्र में उत्कृष्ट विधि-लेखन के लिये प्रशस्ति-पत्र, शॉल, श्रीफल एवं साफा भेंटकर सम्मानित किया गया।

सर्व ब्राह्मण महासभा द्वारा आपको **'ब्राह्मण रत्न'** का सर्वोच्च पुरस्कार प्रदान किया गया। इसके अतिरिक्त दिल्ली, गुवाहाटी, जयपुर, सीकर, झुंझुनू, खाचरोद (म.प्र.), डिग्गी, सरदार शहर, मेड़ता आदि अनेकानेक क्षेत्रों के पारीक संगठनों द्वारा भी आपको विभिन्न अलङ्करणों से विभूषित किया गया है, जिनमें **'पारीक रत्न'**, **'पारीक गौरव'**, **पारीक मनीषी**, **'पारीक श्री'**, **पारीक विभूति** एवं वृद्धजन समाज बस्सी द्वारा प्रदत्त **'समाज कुलभूषण'** उपाधियाँ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

-प्रकाशक